डा. राजकिशोर सिंह

संस्कृत भाषा विज्ञान

संस्कृत भाषा-विज्ञान

[स्नातकोत्तर कक्षाओं के हिन्दी-संस्कृत छात्रों के लिए]

लेखक

डा० राजकिशोर सिंह

एम० ए० (संस्कृत-हिन्दी), पी-एच० डी०

हिन्दी-विभाग, आगरा कॉलेज, आगरा

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

प्रकाशक
विनोद पुस्तक मन्दिर
कार्यालय : रांगेय राघव मार्ग, आगरा–२
बिक्री-केन्द्र : हॉस्पिटल रोड, आगरा–३

चतुर्थ संस्करण : १९७६

मूल्य : १२.००

मुद्रक : नाज़ ऑफ़सेट वर्क्स दिल्ली
[०२०१]

पितृतुल्य पूजनीय गुरुवर

श्री कैलासचन्द्र मिश्र

भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग

आगरा कॉलेज, आगरा

के कर-कमलों में

सादर समर्पित

प्राक्कथन

मानव का अपनी भाषा से निकट का सम्बन्ध है। भाषा उसके समस्त क्रिया-कलाप एवं व्यवहार का माध्यम है। उसकी प्रत्येक वाचिक क्रिया एवं प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति भाषा पर आधारित है। इस दृष्टि से भाषा का अपना स्वतन्त्र मूल्य है। इस भाषा का वैज्ञानिक रीति से सर्वाङ्गीण अध्ययन प्रस्तुत करना भाषा-विज्ञान का महत्त्वपूर्ण विषय है। भाषा-विज्ञान का एक अन्य महत्त्व इस दृष्टि से भी हैं कि हम इसके माध्यम से न केवल अपने देश की विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं एवं उप-भाषाओं के स्वरूप तथा पारस्परिक प्रत्यक्ष एवं निगूढ़ सम्बन्धों की जानकारी प्राप्त करते हैं, अपितु विश्व की विभिन्न जातियों के भाषा-परिवारों के ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययन, संसार-भर की मानव-जाति में दृश्यमान अनैक्य में भी 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के परिवेश में अन्तःप्रतिबिम्बित ऐक्य का मनोरंजक रीति से उद्घाटन करता है। निस्सन्देह प्रस्तुत विश्व-ऐक्य के रहस्योद्घाटन करने के लिए भाषा-विज्ञान-प्रेमी अनुसन्धित्सुओं के सम्मुख अब भी एक बहुत बड़ा क्षेत्र अनुसन्धान के लिए प्रतीक्षित पड़ा हुआ है।

इस चर्चित अध्ययन एवं अनुसन्धान के लिए महत्त्वपूर्ण भाषा-वैज्ञानिक साहित्य भी साधकतम है। विश्व की समस्त भाषोपभाषाओं का वैज्ञानिक अध्ययन ही असंदिग्ध रूप से हमें लक्ष्य के चरम-बिन्दु तक पहुँचा सकता है। फलतः उपयुक्त भाषा-वैज्ञानिक साहित्य की सुलभता एवं उसके सृजन नैरन्तर्य से कोई भी मनीषी इन्कार नहीं कर सकता। और इसमें दो मत नहीं हो सकते कि हिन्दी का भाषा-वैज्ञानिक साहित्य अभी सर्वाङ्गीण एवं पूर्णतया समृद्ध नहीं है। संस्कृत, प्राकृत, पालि तथा अपभ्रंश भाषाओं के वैज्ञानिक एवं तुलनात्मक अध्ययन के साथ भारत की विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं तथा विश्व की निखिल भाषाओं का वैज्ञानिक अध्ययन अत्यन्त अपेक्षित है और इसकी सम्पन्नता से निश्चय ही हिन्दी-भारती के मन्दिर की श्रीवृद्धि होगी।

हमें हर्ष है कि आगरा कॉलेज के हिन्दी-विभाग के प्राध्यापक डा० राज-किशोरसिंह, ने प्रस्तुत 'संस्कृत भाषा-विज्ञान' पुस्तक लिखकर इस दिशा में एक प्रारम्भिक चरण बढ़ाया है और संस्कृत को प्रमुख केन्द्र-बिन्दु बनाकर भाषा-विज्ञान पर नवीन शैली से प्रकाश डाला है। निस्सन्देह इससे भाषा-विज्ञान का अध्ययन

करने वाले संस्कृत-विद्यार्थियों को बड़ा लाभ होगा। एतदर्थ वे साधुवाद के पात्र हैं; परन्तु हमें आशा है, प्रस्तुत पुस्तक का लेखक भविष्य में भाषा-विज्ञान पर ऐसी कृति का प्रणयन करेगा, जिसमें इस विषय के अध्येताओं एवं अनुसन्धित्सुओं के सम्मुख न केवल निगूढ़ प्रश्न उद्घाटित मिलेंगे, अपितु उन्हें विविध नवीन दिशाएँ एवं प्रेरणाएँ भी मिलेंगी।

आगरा कॉलेज,
आगरा।
गांधीजयन्ती, १९६६

राजकुमार जैन
एम० ए०, पी-एच० डी०
साहित्याचार्य,
अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग

अपनी बात

भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन भाषा-विज्ञान के नाम से अभिहित किया जाता है; वैसे तो भाषा मानव की प्राचीन सम्पत्ति है। इसके सम्बन्ध में वैदिक काल से लेकर आज तक निरन्तर गम्भीर चर्चाएँ होती रही हैं; अनुसंधान होते रहे हैं और सिद्धान्तों का निर्माण होता रहा है। आज उस अध्ययन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समावेश होकर उसने एक विज्ञान का रूप ग्रहण कर लिया है।

भाषा-विज्ञान की अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें आज उपलब्ध हैं। प्रस्तुत पुस्तक भी भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करने वाली एक रचना है। इसमें प्राच्य एवं पाश्चात्य दृष्टिकोणों को एक स्थान पर रखकर विचार किया गया है। यह पुस्तक विशेष रूप से एम० ए० संस्कृत के विद्यार्थियों के लिए लिखी गयी है। अतः इसका नाम 'संस्कृत भाषा-विज्ञान' रखा गया है, किन्तु इस पुस्तक में विशेषतः भाषा-विज्ञान का सैद्धान्तिक विवेचन किया गया है, अतः सैद्धान्तिक विवेचन के लिए पाठकों को इसमें प्रचुर सामग्री उपलब्ध होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

'संस्कृत भाषा-विज्ञान' को लिखते समय मैंने अनेक विद्वान् लेखकों की पुस्तकों की सहायता ली है। अनेक पाश्चात्य विद्वानों के ग्रन्थों के उद्धरणों के द्वारा भी इस पुस्तक को अधिक पूर्ण बनाया है। अतः इन सभी विद्वान् लेखकों का मैं हृदय से आभारी हूँ।

'सस्कृत भाषा-विज्ञान' पुस्तक को पढ़कर तथा उसके सम्बन्ध में संस्तुति लिखकर डा० राजकुमार जैन, साहित्याचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, आगरा कॉलेज, आगरा ने कृपा की है, इसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। साथ ही पुस्तक लिखते समय पूजनीय डा० भगवतस्वरूप मिश्र, अध्यक्ष-हिन्दी-विभाग; श्री डा० रामगोपालसिंह चौहान तथा प्रो० देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' हिन्दी-विभाग, आगरा कॉलेज से अनेकशः प्रेरणा एवं सुझाव प्राप्त किये हैं, उन्हें केवल धन्यवाद देकर उनके अमित स्नेह से मैं अपने को वंचित नहीं करना चाहता। पुस्तक की रचना के लिए विशेष रूप से धन्यवाद के पात्र हैं विनोद पुस्तक मन्दिर के संचालक श्री भोलानाथ अग्रवाल जिनके अनवरत प्रयत्न एवं आग्रह से यह पुस्तक शीघ्र ही प्रकाशित होकर पाठकों के समक्ष आ सकी है।

गांधीजयन्ती
२ अक्तूबर, १९६६

—राजकिशोरसिंह

तृतीय संस्करण

संस्कृत भाषा-विज्ञान का संशोधित एवं परिवर्द्धित तृतीय संस्करण पाठकों को समर्पित है। इस संस्करण में यथास्थान अपेक्षित संशोधन एवं परिवर्तन कर दिये गए हैं।

छात्रों ने इस पुस्तक को जो महत्त्व-प्रदान किया है, उससे मैं उनका आभारी हूँ। साथ ही पूर्ण विश्वास के साथ उन्हें यह तृतीय संस्करण समर्पित है कि उनका सम्पूर्ण कठिनाइयों का इससे समाधान हो सकेगा।

१५ फरवरी १९७३

—राजकिशोरसिंह

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

भाषाविज्ञान की परिभाषा एवं क्षेत्र

- भाषाविज्ञान का नामकरण एवं परिभाषा
- भाषाविज्ञान कला या विज्ञान
- भाषाविज्ञान एवं व्याकरण
- भाषाविज्ञान एवं साहित्य
- भाषाविज्ञान एवं तर्कशास्त्र
- भाषाविज्ञान एवं मनोविज्ञान
- भाषाविज्ञान एवं भौतिकशास्त्र
- भाषाविज्ञान एवं शरीर-विज्ञान
- भाषाविज्ञान एवं भूगोल
- भाषाविज्ञान एवं समाजशास्त्र
- भाषाविज्ञान एवं मानवशास्त्र
- भाषाविज्ञान की उपयोगिता एवं महत्त्व
- भाषाविज्ञान का क्षेत्र
- प्रश्नावली

भाषाविज्ञान की परिभाषा एवं क्षेत्र

भाषाविज्ञान का नामकरण एवं परिभाषा

भाषा मानव-जीवन की प्राचीनतम उपलब्धि है। भाषा का अध्ययन भी भारत में चिरकाल से होता आ रहा है। वेदों में भी भाषा के सम्बन्ध में अनेकशः विचार किया गया है :

"वाग्वै पराच्यव्याकृतावदन्ते देवा इदमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्वीति, सोऽब्रवीद्वरं वृणै मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्णता इति तस्मादैन्द्रवायवः सह गृह्यते तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते।"[1]

इसी प्रकार—"वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवोमनुष्याः वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी।"[2]

व्याकरण महाभाष्य में भी पतंजलि ने लिखा है :

"एकः शब्द सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गेलोके कामधुग् भवति।[3] दुष्टः शब्दः स्वरतोवर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।"[4]

इसी प्रकार पातंजलयोगसूत्र में लिखा है :

"शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभाग संयमात् सर्वभूतरुत ज्ञानम्।"[5] आशय यह है कि भारत में भाषा के सम्बन्ध में सदा से विचार होता रहा है, किन्तु भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन आधुनिक युग की देन है।

आधुनिक युग में भाषा का इतना व्यापक एवं युक्तियुक्त विवेचन हुआ कि इसका स्वरूप वैज्ञानिक अध्ययन की कोटि में आ गया। भाषा का वैज्ञानिक एवं व्यापक अध्ययन होने पर इसके नामकरण की समस्या का उदय हुआ। यूरोप में

---

1. कृष्ण यजुर्वेद-तैत्तिरीय संहिता, ६-४, ७।
2. तैत्तिरीय ब्राह्मण।
3. महाभाष्य।
4. वही।
5. विभूतिपाद, ३।१७।

सर्वप्रथम भाषा के तुलनात्मक अध्ययन को फिलोलॉजी (Philology) नाम प्रदान किया गया। इसके अनन्तर अनेक विद्वानों ने इस विषय के विभिन्न नामकरण किये। प्रारम्भिक व्याकरण एवं भाषाविज्ञान में पार्थक्य स्थापित न हो सकने के कारण इसका नाम तुलनात्मक व्याकरण या कम्पैरेटिव ग्रामर (Comparative Grammar) भी रखा गया। फ्रांस में इस विज्ञान को लिंग्विस्टिक (Linguistique) कहा गया। यह नाम भाषाओं के अध्ययन के सूचनार्थ तो पर्याप्त था, किन्तु भाषाविज्ञान की तुलनात्मक प्रक्रिया का इसमें संकेत न मिलने के कारण इस (Linguistique) शब्द के पूर्व Comparative विशेषण भी संयुक्त किया गया। यह नाम इस विज्ञान के लिए चिरकाल तक प्रयुक्त होता रहा। इसी तुलनात्मक विशेषता के कारण फ़िलोलॉजी शब्द से पूर्व भी कम्पैरेटिव विशेषण चिरकाल तक प्रयुक्त होता रहा। "यह नया विज्ञान उन अनेक उपलब्धियों में से एक है, जो १९वीं सदी से हमें उत्तराधिकार में प्राप्त हुई। आरम्भ में ही इसका नाम तुलनात्मक भाषा-विज्ञान पड़ा। इस नाम की तुलना में तुलनात्मक व्याकरण नाम कम व्यापक, किंतु सम्भवतः कम सदोष है। इसे कुछ लोगों ने 'भाषा-विज्ञान' (Science of language) नाम से भी अभिहित किया है। निश्चय ही यह नाम अधिक व्यापक एवं सार्थक है। यही कारण है कि कुछ विद्वान् 'तुलनात्मक भाषा-विज्ञान' की अपेक्षा भाषा-विज्ञान नाम अधिक पसन्द करते हैं।"[1] किन्तु तुलनात्मक प्रक्रिया विज्ञान की मूलप्रवृत्ति होती है, अतः कैम्परेटिव शब्द को कुछ समय पश्चात् हटा दिया गया। सम्भवतः इसीलिए डा० पी० डी० गुणे ने अपनी पुस्तक का नामकरण तो 'An Introduction to Compartive Philology'—किया था, किन्तु पुस्तक में विज्ञान के नामकरण का विवेचन करते हुए लिखा है कि "तुलनात्मक भाषा-विज्ञान या केवल भाषाविज्ञान भाषा का विज्ञान है!—"Comparative Philology or Simply Philology is the science of Language."[2] —"यथार्थतः 'फाइलॉलजि' का अर्थ किसी भाषा का साहित्यिक की दृष्टि से अध्ययन है:—Philology strictly means the study of a language from the literary point of view. जर्मनी में, यूरोप के अन्य देशों की भाँति ही 'फाइलॉलजि, का अर्थ अब भी 'किसी भी साहित्य का अध्ययन' है।

---

1. Dr. P. D. Gune,
"But when this new Science, one of the many new acquisitions bequeathen ,to us by the 19th Century, came into being, it usurped for itself the name of Comparative Philology. Comparative Grammar is a name less inclusive than Comparative Philology, although perhaps less faulty. (Science of language is a comperehensive and exact name for our science and some Scholars prefer it to the more usual Comparative Philology.")

2. वही, पृ० १।

बीसवा शताब्दी के प्रारम्भ में श्री एफ० जी० टकर ने अपनी पुस्तक 'Introduction to Natural History of Language' में भाषाविज्ञान विषय के लिए एक नाम दिया है। उनके कथनानुसार अद्यावधि प्रयुक्त समस्त शब्द भाषाविज्ञान की व्यापकता एवं विषय की गम्भीरता के अनुरूप नहीं हैं। अत: वे इस विज्ञान को Glottology या Science of Tongue कहते हैं। किन्तु टकर महोदय द्वारा प्रदत्त यह नाम इस विज्ञान के लिए प्रचलित न हो सका; क्योंकि इसमें भी संकीर्णता का दोष विद्यमान है।

आजकल प्राय: इस विज्ञान के लिए Linguistic तथा Philology नाम अधिक प्रचलित है। कभी-कभी इस विज्ञान को Science of Language भी कह दिया जाता है, किन्तु इस विषय के लिए अर्थौचित्य तथा विषय की सीमाओं की दृष्टि से Philology नाम अधिक उपयुक्त एवं सार्थक है, क्योंकि फिलोलॉजी शब्द की रचना Phil+Logos शब्दों से हुई है। फिल का अर्थ है शब्द (Word) तथा लोगस का अर्थ है विज्ञान (Science)। इस प्रकार सम्पूर्ण शब्द का अर्थ है Science of words। इसके अतिरिक्त इन दोनों Phil तथा Logos धातुओं से निष्पन्न फिलोलॉजी विज्ञान का उदय ग्रीक में हुआ है तथा ग्रीक भाषा का ही यह शब्द भी है जो कि विज्ञान के मूल स्वरूप का अधिक सूचक है।

भाषाविज्ञान वर्तमान रूप में भारत के लिए नवीन है। पाश्चात्य देशों के समान ही भारत में भी इस विज्ञान के अनेक नामकरण हुए हैं। किन्तु इन नामकरणों पर अंग्रेजी नामों का प्रभाव अधिक है। कहा तो यह भी जा सकता है कि समस्त नामकरण अंग्रेजी के नामों के अनुवाद ही हैं। इसीलिए Comparative Linguistic तथा Comparative Philology के अनुवाद क्रमश: तुलनात्मक भाषाशास्त्र तथा तुलनात्मक भाषाविज्ञान किये जाते हैं। इन नामों के अतिरिक्त हिन्दी में भाषाविचार, भाषाशास्त्र तथा भाषा-तत्व, भाषाविज्ञान आदि शब्दों का भी व्यवहार होता है। श्री सीताराम चतुर्वेदी ने 'भाषालोचन' नाम का भी प्रयोग किया है। मेरे विचार से भारत में भी आज 'भाषाविज्ञान' शब्द ही अधिक प्रचलित है और यही नाम इस विज्ञान की मूल आत्मा का अधिक सूचक है। इसके मूल में संस्कृत के भाषा एवं विज्ञान (विकल्प रहित ज्ञान) का भी सहयोग है। अत: इस विज्ञान (शास्त्र) के लिए 'भाषाविज्ञान' नाम ही अधिक उचित एवं सार्थक है, क्योंकि "भाषा-विषयक जिन मूल तत्वों को मनुष्य की बुद्धि ने पकड़ लिया है वे इस अध्ययन को विज्ञान की श्रेणी में स्थान पाने का अधिकारी बनाते हैं। इसीलिए इस अध्ययन का नाम भाषाविज्ञान उपयुक्त है, भाषाशास्त्र नहीं।"[1] भाषाविज्ञान नाम अन्य नामों की अपेक्षा अधिक व्यापक एवं सार्थक है।

---

1. सामान्य भाषाविज्ञान—बाबूराम सक्सेना, पृ० ४।

भाषाविज्ञान की परिभाषा

भाषाविज्ञान के सम्बन्ध में पाश्चात्य देशों में भारत की अपेक्षा अधिक कार्य हुआ है। अतः भाषाविज्ञान की परिषाभा पर विचार करते हुए हम इसे प्राच्य एवं पाश्चात्य दो वर्गों में विभक्त कर इस पर विचार कर सकते हैं।

डा० पी० डी० गुणे भाषाविज्ञान को साइन्स ऑफ लैंग्वेज मानते हैं जिसमें विश्व की भाषाओं के विभिन्न वर्गों का अध्ययन किया जाता है :

"तुलनात्मक भाषाविज्ञान या केवल भाषाविज्ञान 'भाषा का विज्ञान' है। यथार्थतः 'फाइलॉलजि' शब्द का अर्थ किसी भाषा का साहित्यिक दृष्टि से अध्ययन है। जर्मनी में, यूरोप के अन्य देशों की भाँति ही, 'फाइलॉलजि' का अर्थ अब भी किसी साहित्य का अध्ययन है।"........सम्प्रति भाषाओं के किसी विशेष वर्ग के तुलनात्मक भाषाविज्ञान का उद्देश्य है, उनकी पारस्परिक समानताओं का अन्वेषण एवं उनकी व्याख्या।" "Comparative Philology or Simply Philology is the science of language. Philology strictly means the study of a language from the literary point of view. In Germany, as elsewhere in Europe, Philology still means study of the literature of any people................Now the aim and object of Comparative Philology of a particular group of language is to find out and explain the similarities that these languages show with one another."[1]

डा० गुणे के अनुसार भाषाविज्ञान—(i) भाषाओं का विशिष्ट अध्ययन (विज्ञान) है। (ii) भाषाविज्ञान साहित्यिक दृष्टि से भाषाओं का अध्ययन है। (iii) भाषाविज्ञान विश्व के किसी भी व्यक्ति के साहित्य का अध्ययन है। (iv) भाषाविज्ञान विभिन्न वर्गों की भाषाओं की वर्गीय समानता तथा असमानता का अध्ययन प्रस्तुत करता है।

डा० श्यामसुन्दरदास 'भाषाविज्ञान' ग्रन्थ में भाषाविज्ञान को शास्त्र मानते हुए लिखते हैं—"भाषाविज्ञान उस शास्त्र को कहते हैं, जिसमें भाषा मात्र के भिन्न-भिन्न अंगों और स्वरूपों का विवेचन तथा निरूपण किया जाता है। उसकी बोली, भाषा में कब, किस प्रकार और कैसे-कैसे परिवर्तन होते हैं, किसी भाषा में दूसरी भाषाओं के शब्द आदि किन-किन नियमों के अधीन होकर मिलते हैं; कैसे तथा क्यों समय पाकर किसी भाषा का रूप बदल जाता है तथा कैसे एक भाषा परिवर्तित या विकसित होकर पूर्णतया स्वतन्त्र एक दूसरी भाषा का रूप धारण कर लेती है, इन विषयों तथा इनसे सम्बन्ध रखने वाले और सब उपविषयों का भाषाविज्ञान में समावेश होता है। इसमें शब्दों की उत्पत्ति, रूप-विकास तथा वाक्यों की बनावट आदि सभी पर विचार किया जाता है। सारांश यह है कि भाषाविज्ञान की सहायता

1. एन इन्ट्रोडक्शन टू कम्पैरेटिव फिलोलॉजी पृ० १-२।

से हम किसी भाषा का वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन, अध्ययन और अनुशीलन करना सीखते हैं और जब हम इस प्रकार का विवेचन, अध्ययन और अनुशीलन कर लेते हैं, तब उसी दृष्टि से किसी दूसरी भाषा अथवा अनेक भाषाओं का विवेचन करते हैं तथा एक भाषा के सिद्धान्तों और नियमों आदि का दूसरी भाषा या भाषाओं के सिद्धान्तों और नियमों आदि से मिलान करते और आपस में उनकी तुलना करते हैं।"[1]

डा० श्यामसुन्दरदास के उपर्युक्त उद्धरण से ये निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :

(१) भाषाविज्ञान एक शास्त्र है।

(२) इसमें भाषा मात्र के विभिन्न अङ्गों का विवेचन किया जाता है।

(३) भाषा की उत्पत्ति, विकास एवं परिवर्तन आदि का अध्ययन करते हुए विभिन्न भाषाओं से उसका तुलनात्मक अध्ययन करने वाला शास्त्र भाषाविज्ञान कहलाता है।

डा० मङ्गलदेव शास्त्री भाषाविज्ञान की परिभाषा करते हुए लिखते हैं, "भाषाविज्ञान उसको कहते हैं जिसमें—

(१) सामान्य रूप से मानवीय भाषा का;

(२) किसी विशेष भाषा की रचना और इतिहास का ; और अन्ततः

(३) भाषाओं या प्रादेशिक भाषाओं के वर्गों की पारस्परिक समानताओं और विशेषताओं का तुलनात्मक विचार किया जाता है।"[2]

डा० भोलानाथ तिवारी के अनुसार, "जिस विज्ञान के अन्तर्गत ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन के सहारे भाषा (विशिष्ट नहीं अपितु सामान्य) की उत्पत्ति, गठन, प्रकृति एवं विकास आदि की सम्यक् व्याख्या करते हुए इन सभी के विषय में सिद्धान्तों का निर्धारण हो, उसे भाषाविज्ञान कहते हैं।"[3]

डा० मङ्गलदेव एवं डा० तिवारी की परिभाषाएँ अधिक स्पष्ट एवं व्यापक हैं। डा० तिवारी की परिभाषा में सूत्रात्मकता अपेक्षाकृत अधिक है।

डा० श्यामसुन्दरदास ने अपने 'भाषारहस्य' नामक ग्रन्थ में भाषाविज्ञान की सूत्रात्मक एवं स्पष्ट परिभाषा इस प्रकार दी है :

"भाषाविज्ञान भाषा की उत्पत्ति, उसकी बनावट, उसके विकास तथा उसके ह्रास की वैज्ञानिक व्याख्या करता है।"[4]

डा० मनमोहन गौतम 'सरल भाषाविज्ञान' नामक पुस्तक में भाषाविज्ञान की परिभाषा इस प्रकार करते हैं :

---

1. **भाषाविज्ञान**—डा० श्यामसुन्दर दास, पृ० १-२।
2. **तुलनात्मक भाषाशास्त्र**, पृ० ३।
3. **भाषाविज्ञान**, द्वितीय संस्करण, पृ० ३।
4. **भाषारहस्य**, पृ० २।

"भाषाविज्ञान वह शास्त्र है जिसमें ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा भाषा की उत्पत्ति, बनावट, प्रकृति, विकास एवं ह्रास आदि की वैज्ञानिक व्याख्या की जाती है।"[1]

प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा के अनुसार, "भाषाविज्ञान का सीधा अर्थ है भाषा का विज्ञान, और विज्ञान का अर्थ है विशिष्ट ज्ञान। इस प्रकार भाषा का विशिष्ट ज्ञान भाषाविज्ञान कहलाएगा।"[2]

पाश्चात्य विद्वानों के अध्ययन का सार 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के सत्तरहवें भाग में इस प्रकार दिया गया है :

"The word Philology is here taken as meaning the Science of language *i. e.*, the study of the structure and development of languages, thus, accordingly to linguistics, but differing from Philology, as it is generally understood on the Continent and sometimes in England where it means literary or classical scholarship, to the Philologist in the later sense language is one of the means to the comprehension of the whole culture of some nation, but not an object of study for its own sake, as it is to the Philologist in the sense in which the word is here used."

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि भाषाविज्ञान एक शास्त्र (विज्ञान) है, जो विभिन्न भाषाओं का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करता है। भाषाविज्ञान के अध्ययन के अपने कुछ मार्ग हैं। सर्वप्रथम भाषाविज्ञान का अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टिकोण को लेकर चलता है। इसके अन्तर्गत भाषाओं की उत्पत्ति, विकास तथा विभिन्न अवसरों पर होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन किया जाता है। इसी के अन्तर्गत विभिन्न बोलियों के क्रमिक विकास का भी अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार ऐतिहासिकता भाषाविज्ञान का प्रथम अनिवार्य तत्त्व है।

ऐतिहासिक मार्ग के अतिरिक्त तुलनात्मक अध्ययन भी भाषाविज्ञान का अनिवार्य एवं प्रधान तत्त्व है। इसके अन्तर्गत विश्व की विभिन्न भाषाओं की तुलनात्मक उत्पत्ति, विकास-क्रम, पारस्परिक एकता आदि का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार भाषाविज्ञान में ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक मार्गों से भाषा के उद्भव, विकास एवं ह्रास का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

भाषा निरन्तर परिवर्तनशील है। अतः इस परिवर्तनशीलता के कारण साहित्यिक भाषाओं की अपेक्षा जन-भाषाओं का अध्ययन भाषाविज्ञान में विशेष रूप से किया जाता है, क्योंकि साहित्यिक भाषाओं में परिवर्तन के लिए अवसर कम होता है।

---

1. सरल भाषाविज्ञान पृ० ४।
2. भाषाविज्ञान की भूमिका पृ० १७६।

भाषाविज्ञान के सम्बन्ध में एक बात विशेष ध्यान देने की यह है कि भाषाविज्ञान एक ऐसा विज्ञान नहीं है, जिसके नियम सर्वदा अपवाद रहित और अकाट्य हों, सम्पूर्ण बोलियों और भाषाओं पर लागू होते हों। "संस्कृत का 'कर्म' शब्द किन्हीं विशेष अवस्थाओं से होता हुआ आज 'काम' का रूप धारण कर चुका है, किन्तु उसी नियम के अनुसार उसी वजन का शब्द 'धर्म' 'धाम' में क्यों परिवर्तित नहीं हो सका, यह वैज्ञानिक रूप से नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में विभिन्न स्थलों पर हमें इन नियमों में कल्पना और अनुमान का आश्रय लेना पड़ता है। अतः भाषाविज्ञान के नियमों को अकाट्य नियम न कह कर सामान्य अथवा परिवर्तनशील नियम कह देना ही अधिक समीचीन होगा।"[1]

भाषाविज्ञान कला है या विज्ञान

उन्नीसवीं शताब्दी में भाषाविज्ञान के सम्बन्ध में विशेष काय होने के साथ एक समस्या यह भी उत्पन्न हुई कि भाषाविज्ञान विज्ञान है या कला, क्योंकि भाषाविज्ञान में अनेक स्थलों पर हमें मनोरंजक तथ्यों की उपलब्धि होती है। मनोरंजन कला की अपनी विशेषता है। इसके अतिरिक्त भाषाविज्ञान में यत्र-तत्र विकल्पात्मकता भी दृष्टिगत होती है। इसलिए भाषाविज्ञान को विज्ञान कहना कहाँ तक समीचीन है। किन्तु आज अनेक विद्वान् भाषाविज्ञान को विज्ञान कहना अधिक उचित समझते हैं। यह युग विज्ञान का युग है, विज्ञान ने मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। इसलिए शास्त्र अथवा कला के रूप में पल्लवित विभिन्न शास्त्रों को विज्ञान का नाम दिया जा रहा है। उदाहरणस्वरूप हम देखते हैं कि समाजशास्त्र, मनःशास्त्र, मानवशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि भी विज्ञान कहलाने लगे हैं।

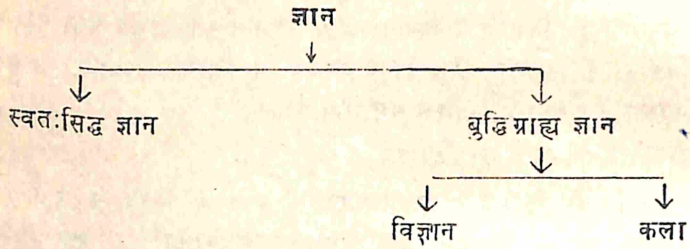
भाषाविज्ञान की इस समस्या के समाधान के लिए हमें विज्ञान एवं कला के स्वरूप से परिचित होना आवश्यक है। किसी विषय के 'ज्ञान' और 'विज्ञान' में बड़ा भारी भेद है। 'ज्ञान' या सामान्य ज्ञान से आशय किसी विषय के स्वरूप से परिचय मात्र का होता है। किसी उपयोग को सम्मुख रखकर हम उस पदार्थ या विषय के स्वरूप मात्र से परिचय प्राप्त कर संतुष्ट हो जाते हैं, परन्तु किसी विषय के **'उपपत्ति सहित ज्ञान को विज्ञान'** कहते हैं। यहाँ हम किसी पदार्थ या विषय के केवल स्वरूप के परिचय से संतुष्ट न होकर उसके स्वरूप के कारण की खोज में प्रवृत्त होते हैं। दूसरे शब्दों में, उस पदार्थ या विषय के स्वरूप के परिचय मात्र से संतुष्ट न होकर हम उसके वास्तविक ज्ञान के लिए चेष्टा करते हैं। विज्ञान में हमारी दृष्टि उपयोग की ओर इतनी नहीं होती जितनी स्वाभाविक ज्ञान-पिपासा की तृप्ति की ओर होती है।"[2] दार्शनिकों ने जीवात्मा की प्रमुख विशेषता उसके

---

1. सरल भाषाविज्ञान, पृ० ३।

ज्ञान को स्वीकार किया है। इस ज्ञान के दो भेद होते हैं—एक स्वत:सिद्ध, दूसरा बुद्धिग्राह्य। स्वत:सिद्ध ज्ञान की मात्रा पशुओं में अधिक होती है और बुद्धिग्राह्य ज्ञान की मात्रा मानव में। कुत्ते को तैरने की कला स्वत: जन्म से ही आती है, मनुष्य को उसे सीखना पड़ता है।

बुद्धिग्राह्य ज्ञान के भी दो भेद होते हैं—एक विज्ञान और दूसरा कला।



विज्ञान शब्द की निष्पत्ति 'वि' उपसर्ग पूर्वक ज्ञान धातु से होती है। इस शब्द का शाब्दिक अर्थ है विशिष्ट ज्ञान। वह ज्ञान जिसमें हमारा मन विकल्प रहित हो। यह विज्ञान शब्द आज अंग्रेजो के साइन्स (Science) का पर्याय बन गया है। साइन्स शब्द का धात्वर्थ True knowledge है। इस प्रकार विज्ञान शब्द ध्रुव, निश्चित सत्य का सूचक है। विज्ञान द्वारा प्राप्त ज्ञान सार्वदेशिक और सार्वभौमिक होता है। पृथ्वी सदैव चलती है यह सत्य है। यह सत्य सार्वकालिक और सार्वदेशिक है। पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त विश्व के लिए सभी कालों में समान है। निष्कर्ष यह है कि **विज्ञान के नियम सर्वत्र लागू होते हैं। उनमें विकल्प के लिए स्थान नहीं होता है।**

किन्तु **कला का क्षेत्र सीमित** होता है। कविता, चित्र, संगीत सार्वदेशिक होते हुए भी अपने-अपने देश की रुचि के अनुसार सर्वत्र इनका महत्त्व होता है।

"एक ओर मणिपुर और गुजरात का नृत्य है, दूसरी ओर रूस का। एक ओर भारतीय संगीत है तो दूसरी ओर अंग्रेजो। कला के अन्तर्गत ये सभी हैं, पर भारतीय संगीत जो माधुर्य एक भारतीय के सम्मुख उपस्थित कर उसकी हृत्तन्त्री को झंकृत कर देता है, चाहे वह शब्द एक भी न समझे, उतने अंश में अंग्रेजी संगीत नहीं। इसी प्रकार अंग्रेज नागरिक की भावना अपने संगीत के पक्ष में और हमारे संगीत के विपक्ष में होती है। कला का यही विकल्प है, यही उसकी विप्रतिपत्ति है।"[1]

विज्ञान और कला में एक और अन्तर है। **विज्ञान का ध्येय शुद्ध ज्ञान है और कला का ध्येय व्यवहार ज्ञान, मनोरंजन और उपयोगिता।** काव्यकला, चित्रकला, संगीतकला आदि हमारा मनोरंजन करती है, व्यावहारिक—ज्ञान प्रदान करती

---

1. सामान्य भाषाविज्ञान, पृ० २।

हैं। लेकिन पृथ्वी क्यों घूमती है, दो और दो चार क्यों होते हैं यह हमें मनोरंजन प्रदान नहीं करते हैं, उपयोग की श्रेणी में भी कम ही आते हैं, किन्तु हमारी ज्ञान-पिपासा को अवश्य ही शान्त करते हैं। "इस प्रकार कला सौन्दर्यमिश्रित होने के कारण ही मनोरंजनात्मक एवं उपयोगात्मक भी है। कला में ये दोनों पक्ष प्रधान हैं, किन्तु विज्ञान का सर्वप्रथम लक्ष्य शुष्क ज्ञान है। उसमें निश्चयात्मकता के अभाव की लेशमात्र भी गुंजाइश नहीं होती है।"[1]

भाषाविज्ञान की दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि भाषाविज्ञान के तथ्य सार्वदेशिक और विकल्प रहित नहीं हैं। भाषाविज्ञान ज्ञान-पिपासा को शान्त करते हुए भी नियमों की दृष्टि से विप्रतिपत्ति रहित नहीं कहा जा सकता है। सम्भवतः इसीलिए उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व भाषाविज्ञान की मान्यता विज्ञान के रूप में नहीं थी, किन्तु बॉप (Bopp), रास्क (Rask) और ग्रिम (Grimm) के द्वारा ध्वनि-नियमों की स्थापना के अनन्तर इस भाषाशास्त्र को भाषाविज्ञान नाम दिया गया। किन्तु ये ध्वनि-नियम भी निरपवाद नहीं हैं। इसीलिए ग्रिम-नियम का परिष्कार भी वर्नर, ग्रासमन आदि ने किया। आशय यही है कि भाषाविज्ञान के नियम निरपवाद नियम नहीं हैं। उदाहरण के लिए, संस्कृत में 'धर्म' और 'कर्म' शब्द हैं। प्राकृत में ये दोनों ही 'धम्म' और 'कम्म' बन गये। किन्तु हिन्दी में कम्म से काम तो बन गया, लेकिन धम्म से 'धाम' न बनकर धरम बना। नियमानुसार उसे धाम ही बनना चाहिए था। वस्तुस्थिति यह है कि "भाषा में परिवर्तन मानवीय प्रवृत्तियों के कारण होते हैं और मानवीय प्रवृत्तियों का सुनिश्चित नियमों में नहीं बाँधा जा सकता, इसीलिए परिवर्तन के सामान्य और स्थिर नियम नहीं बनाये जा सकते।"[2]

इस सम्बन्ध में प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा ने लिखा है—"वस्तुतः भाषाविज्ञान उस अर्थ में विज्ञान नहीं है, जिस अर्थ में गणित, भौतिकी या जैविकी। आज विज्ञान शब्द के प्रयोग में बहुत कुछ शिथिलता आ गई है और उसका ज्ञान की वैसी शाखाओं के लिए भी प्रयोग किया जा रहा है जो वास्तविक अर्थ में विज्ञान नहीं हैं। विज्ञान का सबसे बड़ा आधार है, कार्य-कारण-भाव की नित्यता, अर्थात् कारण-विशेष के रहने पर कार्य-विशेष अवश्य हो। इस दृष्टि से ज्ञान की अनेक शाखाएँ हैं जिनमें कार्य-कारण-भाव की नित्यता नहीं पाई जाती; फिर भी उन्हें विज्ञान कहा जाता है; उदाहरणार्थ—राजनीतिविज्ञान, मानवविज्ञान, समाजविज्ञान आदि।... भाषाविज्ञान उस अर्थ में विज्ञान नहीं है, जिस अर्थ में गणित या भौतिकी। फिर भी वह विज्ञान इसलिए है कि उसके नियम भी कार्य-कारण-भाव पर आश्रित हैं। चूँकि उन नियमों में अपवाद भी हैं, इसीलिए वह शुद्ध विज्ञान की सीमा में नहीं

1. सरल भाषाविज्ञान, पृ० ५।
2. हिन्दी भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ११।

आता, पर नियम हैं ही नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। नियम हैं और उनका प्रयोग भी व्यापक रूप से होता है। इसीलिए भाषाविज्ञान न तो मनोविज्ञान या दर्शन के समान आनुभविक शास्त्र है और न गणित के समान शुद्ध विज्ञान। उसकी स्थिति मध्यवर्ती है, क्योंकि उसमें दोनों की विशेषताएँ पाई जाती हैं। उसमें नियम और अनुभव दोनों का योग है।"[1]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यदि विज्ञान की निरपवाद और निर्विकल्पक सत्ता को ही कसौटी मानकर भाषाविज्ञान पर विचार किया जाय तो भाषाविज्ञान विज्ञान नहीं है। किन्तु विज्ञान का अर्थ विशिष्ट ज्ञान भी है जिसमें तथ्यों का सूक्ष्म निरीक्षण और विश्लेषण भी होता है। इस रूप में यह विज्ञान कहा जा सकता है, क्योंकि भाषाविज्ञान में भाषा-विषयक तथ्यों का सूक्ष्म निरीक्षण और विश्लेषण होता है। यही नहीं, अन्य सामाजिक विज्ञानों की अपेक्षा भाषाविज्ञान के नियम अधिक निरपवाद हैं। आज भाषा के विशिष्ट अध्ययन के लिए यन्त्र और प्रयोगशालाओं की भी स्थापना होने लगी है जो भाषाविज्ञान की विज्ञानोन्मुख प्रवृत्ति का सूचक है।

आशय यह है कि भाषाविज्ञान कला और विज्ञान दोनों की विशेषताओं से युक्त है, किन्तु यह विज्ञानोन्मुख अधिक है।

भाषाविज्ञान एवं व्याकरण

भाषाविज्ञान के स्वरूप को पूर्णतः समझने के लिए भाषाविज्ञान एव व्याकरण के अन्तर को समझना परम आवश्यक है, क्योंकि व्याकरण एवं भाषा-विज्ञान दोनों भाषा के स्वरूप का अध्ययन प्रस्तुत करने वाले शास्त्र हैं। भाषा-विज्ञान के उदय-काल में इसीलिए यूरोपीय विद्वानों ने भाषाविज्ञान का नाम 'तुलनात्मक व्याकरण' रखा था। किन्तु भाषाविज्ञान एवं व्याकरण के कार्यों में अन्तर है। भाषाविज्ञान जिस प्रकान ध्वनि, शब्द, वाक्य आदि क सम्बन्ध में विचार करता है, उसी भाँति व्याकरण भी वर्ण, शब्द और वाक्य के सम्बन्ध में विचार करता है। किन्तु भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन भाषाविज्ञान है; जबकि व्याकरण किसी विशिष्ट भाषा का विवेचन प्रस्तुत करता है। आज बीसवीं शताब्दी का व्याकरण वर्णनात्मक है, 'लक्ष्यों का संग्रह करना' इसका प्रथम कार्य है, इसके पश्चात् 'लक्ष्यों का व्यवस्थित रूप से वर्गीकरण करना' तथा उस वर्गीकरण के लिये लक्षण बनाना, ये तीन कार्य व्याकरण के अन्तर्गत आते हैं। इसी को आचार्य पतंजलि ने अपने महाभाष्य के पस्पशान्हिक में इस प्रकार उपनिबद्ध किया है—

"लक्ष्य लक्षणे व्याकरणम्।"

भाषाविज्ञान एवं व्याकरण दोनों ही भाषा के स्वरूप का अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। यह दूसरी बात है कि दोनों के अध्ययन के प्रकार और प्रसार में अन्तर

---

1. भाषाविज्ञान की भूमिका, पृ० ७६-७७।

हो, किन्तु दोनों का आधार भाषा ही है। इसीलिए प्रारम्भ में भाषाविज्ञान और व्याकरण को अभिन्न माना जाता था। भाषाविज्ञान और व्याकरण के इतिहास को देखने से पता चलता है कि भारत में भाषाविज्ञान सम्बन्धी समस्त कार्य व्याकरण के अन्तर्गत ही हुआ है।

व्याकरण को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—एक वर्णनात्मक, दूसरा व्याख्यात्मक। भाषा का वर्णनात्मक अध्ययन ही व्याकरण है तथा व्याख्यात्मक अध्ययन भाषाविज्ञान है। वर्णनात्मक व्याकरण की व्याख्या प्रस्तुत करना व्याख्यात्मक व्याकरण का कार्य है। व्याख्यात्मक व्याकरण के तीन विभाग किये जा सकते हैं—(१) ऐतिहासिक, (२) तुलनात्मक, (३) सामान्य (दार्शनिक व्याख्या)। प्रथम ऐतिहासिक व्याकरण का कार्य है—एक भाषा को लेकर उसके कार्यों की व्याख्या करना। अर्थविकार आदि को लेकर भाषा का ऐतिहासिक अध्ययन करते हुए पूर्वापर का क्रमानुसार परिवर्तन देखना, फिर उनके कारणों को खोजना, परिवर्तनों के आधार पर क्रम निर्धारित करना। ध्वनि की उत्पत्ति कैसे होती है? उत्पन्न ध्वनि का विभाजन कैसे होता है? शब्द में परिवर्तन कैसे होता है? आदि सभी प्रश्नों का इतिहास जानकर उनका समाधान करना ऐतिहासिक व्याकरण का कार्य है। इस प्रकार कारणों को खोज निकालना व्याख्यात्मक व्याकरण की प्रथम अवस्था है। तुलनात्मक व्याकरण उसके कार्यों की व्याख्या के लिए उसी भाषा या पूर्ववर्ती भाषा अथवा सजातीय भाषाओं की तुलनात्मक परीक्षा करता है। इस परीक्षा द्वारा ही यह अध्ययन किसी निष्कर्ष तक पहुँचता है और तत्सम्बन्धी सिद्धान्त और तत्वों की स्थापना होती है।

सामान्य व्याकरण सभी भाषाओं के मौलिक सिद्धान्तों और तत्वों की मीमांसा करता है। अतः हम कह सकते हैं कि मानव चिरकाल से चिर-परिचिता भाषा का पूर्णतः विवेचन करता चला आया है। आज के सभी विद्वान् इस बात को अक्षरशः स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हैं कि भारत में भाषा सम्बन्धी अध्ययन की परम्परा पुरातन है। आज जो व्याकरण का यह विभाजन कर रहे हैं, वह अध्ययन की सुविधा के लिए है, अन्यथा व्याख्यात्मक व्याकरण वर्णनात्मक व्याकरण से भिन्न होकर कार्य कर ही नहीं सकता। व्याख्यात्मक व्याकरण की नींव वर्णनात्मक व्याकरण की ईंटों से ही परिपूरित है, दोनों ही अभिन्न हैं। किन्तु आज दोनों में भेद स्थापित कर भाषाविज्ञान और व्याकरण दो नाम दिये जा रहे हैं, अर्थात् व्याख्यात्मक व्याकरण भाषाविज्ञान तथा वर्णनात्मक व्याकरण, व्याकरण है। आज दोनों के सीमा-क्षेत्र भी निर्धारितप्राय हैं। हम सूक्ष्म रूप में दोनों का अन्तर और साम्य इस प्रकार देख सकते हैं।

भाषाविज्ञान शास्त्र है, और व्याकरण कला

व्याकरण और भाषाविज्ञान में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि भाषाविज्ञान

जैसा कि उसके नाम से ही ज्ञात होता है, एक विज्ञान है, शास्त्र है, जबकि व्याकरण एक कला। भाषाविज्ञान किसी भी भाषा के शब्दों का इतिहास और परिचय देकर उनके विभिन्न रूप एवं ध्वनि-परिवर्तनों का कारण प्रस्तुत करता है, जबकि व्याकरण भाषा-विशिष्ट के शब्दों की एकरूपता स्थिर रखता है। "व्याकरण का उद्देश्य किसी विशेष भाषा के केवल व्यावहारिक उपयोग को दृष्टि में रखकर व्यवहारोपयोगी साधुत्व-असाधुत्व का सामान्य ज्ञान होना है—"साधुत्व ज्ञान विषया सैषा व्याकरण-स्मृतिः" (वाक्य पदीय २/१४३) "लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्द प्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः" (महाभाष्य पस्पशाह्निक)। किसी भाषा के व्याकरण को जानने के लिए किसी दूसरी भाषा के ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती।[1] कला होने के कारण व्याकरण भाषा के प्रचलित रूपों के सम्बन्ध में चर्चा करता है।" किन्तु वे रूप कैसे, क्यों और कब बने, इस सम्बन्ध में वह मौन रहता है। व्याकरण 'एकादश' शब्द को शुद्ध बताता है और एकदश को अशुद्ध; परन्तु ऐसा क्यों? इस जिज्ञासा की शान्ति व्याकरण नहीं करता है। इस प्रकार की जिज्ञासाओं का समाधान भाषाविज्ञान प्रस्तुत करता है। भाषाविज्ञान बताता है कि 'एकदश' रूप ही कभी शुद्ध रहा होगा किन्तु 'द्वादश' के सादृश्य पर एकादश रूप बन गया होगा।

आशय यह है कि भाषा की व्यवस्था-विशेष का नाम व्याकरण है और भाषाविज्ञान ऐतिहासिक, तुलनात्मक एवं विश्लेषण-प्रधान होने के कारण विज्ञान है।

भाषाविज्ञान एवं व्याकरण में दूसरा अन्तर यह है कि "व्याकरण भाषा के सिद्ध स्वरूप को सिखाता है। सिद्ध स्वरूप के कारण की खोज में वह प्रयत्नवान् नहीं होता।"[2] महाभाष्यकार के शब्दों में व्याकरण शब्द, अर्थ और इनके सम्बन्ध को स्वतःसिद्ध मानकर अपने शास्त्र की रचना करता है—

"कथं पुनरिदं भगवतः पाणिनेराचार्यस्यलक्षणं प्रवृत्तम्?
सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे।"

उदाहरण के लिए, व्याकरण इस बात का संकेत नहीं करता कि 'गौ की एषणा' इस अर्थ को रखने वाला 'गवेषणा' शब्द 'अनुसन्धान' के अर्थ में क्यों और कैसे प्रयुक्त होने लगा तथा करिन् शब्द से करिणा शब्द की रचना तो उचित है, किन्तु 'हरि' शब्द से हरिणा' की निष्पत्ति कैसे हुई? किन्तु भाषाविज्ञान शब्द, अर्थ के सम्बन्ध को सिद्ध नहीं मानता, अपितु वह शब्दों के वर्तमान—सिद्ध रूप के कारणों की खोज करता है, उसके इतिहास को बताता है। दूसरी भाषाओं के साथ उसके सम्बन्धों का निर्देश करता है। निष्कर्ष रूप में हम डा० मङ्गलदेव के शब्दों में कह

---

1. भाषाविज्ञान, पृ० ६।
2. भाषाविज्ञान—मंगलदेव, पृ० १५।

सकते हैं कि "व्याकरण भाषा के निष्पन्न स्वरूप को बताता है, परन्तु भाषाविज्ञान उस स्वरूप के कारण या मूल की खोज करता है।[1]"

व्याकरण भाषाविज्ञान का अनुगामी

भाषा के विभिन्न कालों में विभिन्न व्याकरण बन सकते हैं, किन्तु भाषाविज्ञान इस प्रकार परिवर्तनशील नहीं है। भाषाविज्ञान नियमों के अन्तर्गत कार्य करता है। भाषाविज्ञान, भाषा एवं शब्दों के प्रत्येक स्वरूप को स्वीकार करता है, जबकि व्याकरण सदा ही नवीन शब्दों की साधुता-असाधुता पर विचार कर ही निर्णय करता है और असाधु शब्दों को भी भाषाविज्ञान के अनुसार स्वीकार करता है। इस प्रकार व्याकरण में दो कोटियाँ हैं, शुद्ध-अशुद्ध; साधु-असाधु। निश्चय ही व्याकरण मर्यादाओं का पालन करने के कारण संकीर्णतावादी है, कठोर शासक है। दूसरी ओर भाषाविज्ञान शोधी है, उदार है, उसके यहाँ सर्वंशुद्धं, सर्वंग्राह्यं, सर्वं शिवं एवं सुन्दरं है। इस प्रकार भाषाविज्ञान का क्षेत्र व्यापक है। वह मूल पर ही सन्तोष नहीं करता है, अपितु ब्याज लेता हुआ अपने धन की वृद्धि करता है। सूत्र रूप में हम कह सकते हैं कि **व्याकरण भाषाविज्ञान का अनुगामी है।**

भाषाविज्ञान व्याकरण का व्याकरण

व्याकरण केवल उन्हीं भाषाओं या बोलियों का होता है, जो साहित्य में स्थान प्राप्त कर लेती हैं। किन्तु भाषाविज्ञान साहित्यिक भाषाओं के अतिरिक्त सामान्य बोलियों (dilects) तक को अपने अध्ययन का विषय बनता है, जो कि भविष्य में व्याकरण की रचना के लिए पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है। इस प्रकार बिना भाषाविज्ञान की सहायता के व्याकरण का पथ प्रशस्त नहीं हो सकता। अत: हम कह सकते हैं कि **भाषाविज्ञान व्याकरणों का व्याकरण है।** व्याकरण की पूर्णता विश्लेषणात्मक भाषाविज्ञान के अभाव में सम्भव नहीं है। निरुक्तकार यास्क का कथन है कि निरुक्ति (विश्लेषणात्मक भाषाविज्ञान) के द्वारा ही व्याकरण की पूर्णता सम्भव होती है—

"तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च।"

भाषाविज्ञान एवं व्याकरण अंगी और अंग हैं

भाषाविज्ञान एवं व्याकरण का **सम्बन्ध अंगी और अंग** का है। भाषाविज्ञान यदि अंगी है तो व्याकरण उसका अंग। भाषाविज्ञान भाषा के जिस स्वरूप को, जिस परिवर्तन को उचित मान लेता है, व्याकरण उसे स्वीकार कर लेता है। भाषाविज्ञान विभिन्न भाषाओं के सामान्य रूप पर विचार करता है, भाषाविज्ञान के नियम सभी भाषाओं पर प्रभाव डालते हैं, जबकि व्याकरण किसी भाषा-विशेष तक

---

1. भाषाविज्ञान—मंगलदेव, पृ० १६।

ही सीमित रहता है। भाषाविज्ञान भाषा के अतीत, वर्तमान एवं भावी रूप पर विचार करता है, जबकि व्याकरण केवल वर्तमान रूप पर।

अध्ययन-सामग्री का अन्तर

व्याकरण की सीमाएँ सीमित हैं, व्याकरण का क्षेत्र किसी एक भाषा तथा किसी एककाल तक सीमित है। वह भाषा-विशेष की बोलियों से भी किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखता है। भाषाविज्ञान के अध्ययन की सीमाएँ व्यापक होती हैं। वह विभिन्न भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन कर ही अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करता है। आशय यह है कि भाषाविज्ञान प्रगतिशील है, नवीनतावादी है और व्याकरण स्थिर तथा प्राचीन-तावादी। अतः भाषाविज्ञान का व्याकरण से घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी पर्याप्त अन्तर है। अतः दोनों का ही भिन्न नामकरण करना उचित ही है।

भाषाविज्ञान एवं साहित्य

भाषाविज्ञान का अध्ययन-क्षेत्र साहित्य हो है। यदि हमारे सम्मुख जीवित अथवा मृत भाषाओं का साहित्य ही नहीं होगा तो हम अध्ययन किस का और कैसे करेंगे। भाषाविज्ञान के अध्ययन की प्रक्रिया के मूलतत्त्व ऐतिहासिक अध्ययन और तुलनात्मक अध्ययन के लिए साहित्य की नितान्त अपरिहार्य आवश्यकता है। "सत्य तो यह है कि केवल जीवित भाषाओं के अध्ययन को छोड़कर पुरानी या मृत भाषा का भाषाविज्ञान चाहे जिस रूप में अध्ययन करना चाहे, उसे पग-पग पर साहित्य की सहायता लेनी पड़ेगी और जीवित भाषा के सम्बन्ध में भी 'क्यों', 'कब' एवं 'कैसे' आदि के उत्तर के लिए उसे साहित्य की छानबीन करनी पड़ेगी। जीवित भाषा यह तो बता देगी कि भोजपुरी में 'बाटे' शब्द है पर यह कहाँ से आया, इसके लिए भाषाविज्ञान संस्कृत साहित्य को छानेगा और तब कह सकेगा कि इसका मूल संस्कृत शब्द 'वर्त्तते' है।"[1]

साहित्य भी भाषाविज्ञान से पर्याप्त सहायता लेता है। भाषाविज्ञान साहित्य के विभिन्न शब्दों, उच्चारण सम्बन्धी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है।

भाषाविज्ञान और तर्कशास्त्र

भाषाविज्ञान और तर्कशास्त्र (logic) में विशिष्ट सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि भाषाविज्ञान अध्ययनमूलक अधिक है, जबकि तर्कशास्त्र चिन्तनात्मक। भाषाविज्ञान में प्रमाणों का महत्त्व है, जबकि तर्कशास्त्र में तर्कों की प्रधानता है। भाषाविज्ञान में विशेष अर्थ में प्रयुक्त होने वाला शब्द सामान्य में और सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होने वाला शब्द विशेष-अर्थ में प्रयुक्त क्यों होने लगता है। इन प्रश्नों का उत्तर तर्कशास्त्र की सहायता से भाषाविज्ञान को प्राप्त होता है। भाषाविज्ञान में भाषा का स्वरूप,

1. भाषाविज्ञान—भोलानाथ तिवारी, पृ० १२।

उत्पत्ति, विकास का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। इनके अध्ययन में तर्कशास्त्र के सामान्य सिद्धान्त सहयोग प्रदान करते हैं।

भाषाविज्ञान और मनोविज्ञान

मनोविज्ञान (Psychology) एवं भाषाविज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि मानव-मन की भावनाओं को व्यक्त करने वाली भाषा है और उस मन और मस्तिष्क का ही अध्ययन करने वाला मनोविज्ञान है। अतः भाषाविज्ञान और मनोविज्ञान का निकट सम्बन्ध है। भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विवाद को सुलझाने में मनोविज्ञान ने पर्याप्त सहयोग प्रदान किया है। भाषा न तो दैवी उत्पत्ति है और न कोई चमत्कार ही, अपितु यह एक मानसिक आवश्यकता है। मनोविज्ञान ने ही हमें यह बताया कि भाषा का रूप शब्दमय और विचारमय—दो प्रकार का होता है।

अर्थविचार (Semantics) के अध्ययन से भी भाषाविज्ञान एवं मनोविज्ञान के सम्बन्ध की जानकारी मिलती है। उच्चार्यमाण शब्दों में हमारे मन के विचारों की अभिव्यक्ति कैसे होती है? एक पीढ़ी के अनन्तर दूसरी पीढ़ी में शब्दों के अर्थों में परिवर्तन कहाँ से कहाँ पहुँच जाता है? मृत्यु के लिए दिवंगत, दीर्घशंका के लिए 'पाकिस्तान जाना' आदि शब्दों के प्रयोग क्यों करते हैं? इन सभी प्रश्नों का समाधान हमें भाषाविज्ञान से प्राप्त होता है। मनोविज्ञान ही सामूहिक मन की गुत्थियों का समाधान प्रस्तुत करता है। भाषाविज्ञान भी मनोविज्ञान की पर्याप्त सहायता करता है। भाषा के वैज्ञानिक विश्लेषण के द्वारा हम प्राचीन जातियों की मानसिक स्थितियों का उद्घाटन करते हैं। अशोक ने अपने लिए 'देवनाम् प्रियः' विशेषण का भी प्रयोग किया था; किन्तु कुछ समय के पश्चात् यह शब्द 'मूर्ख के अर्थ' में प्रयुक्त होने लगा। मनोविज्ञानी इस शब्द के अध्ययन से ब्राह्मणों की प्रवृत्तियों का परिचय प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार 'महापण्डित' शब्द भी आज व्यंग्य में 'मूर्खों के लिए' प्रयुक्त होने लगा। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि भाषाविज्ञान एवं मनोविज्ञान का निकट का सम्बन्ध है।

भाषाविज्ञान एवं भौतिकविज्ञान

ध्वनि के प्रसार और ग्रहण करने के सम्बन्ध में विविध प्रश्नों का समाधान भौतिकविज्ञान (Physics) से होता है। अतः भाषाविज्ञान एकांगी भाव से भौतिकविज्ञान से सहायता लेता है।

भाषाविज्ञान और शरीरविज्ञान

भाषा की उत्पत्ति मानव के विभिन्न अवयवों की सहायता से होती है इन अवयवों का अध्ययन शरीरविज्ञान (Physiology) में होता है। किन-किन अवयवों की सहायता से एक व्यक्ति ध्वनि उत्पन्न करता है, यह ध्वनि सम्बन्धी अध्ययन ध्वनि-विज्ञान कहलाता है। इस ध्वनि सम्बन्धी अध्ययन के लिए हम शरीरविज्ञान से ही सहायता लेते हैं। अतः भाषाविज्ञान शरीरविज्ञान की सहायता से अपने अध्ययन को व्यापक एवं पूर्ण बनाता है।

भाषाविज्ञान और इतिहास

भाषाविज्ञान के अध्ययन का मूलाधार उसकी ऐतिहासिक प्रवृत्ति है। भाषा की उत्पत्ति, विकास आदि के अध्ययन के लिए हमें इतिहास (History) की ओर दृष्टिपात करना ही पड़ता है। धार्मिक, राजनीतिक एवं सामाजिक कारणों से भाषा में परिवर्तन उपस्थित होते हैं, इन कारणों की जानकारी हमें भाषाविज्ञान से ही होती है। विभिन्न भाषाओं के शब्दों का किस प्रकार अन्य भाषाओं के शब्दों में मिश्रण होता है, आदि बातों के अध्ययन के लिए हमें इतिहास का आश्रय लेना पड़ता है। दूसरी ओर भाषा-विज्ञान भी इतिहास की पर्याप्त सहायता करता है। भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन से ही हम प्राचीन संस्कृतियों के रहन-सहन बोलचाल आदि पर प्रकाश डाल सकते हैं। आशय यह है कि भाषाविज्ञान एवं इतिहास का निकट का सम्बन्ध है।

भाषाविज्ञान एवं भूगोल

भाषाविज्ञान विभिन्न भाषाओं के बोलने-चालने वालों के प्रदेश की सीमाओं का भी अध्ययन करता है। भूगोल (Geography) की सहायता से किसी भाषा के वक्ता की बहुत-सी प्रवृत्तियों का भी ज्ञान होता है, क्योंकि भौगोलिक परिस्थितियों के कारण एक शब्द के भिन्न-भिन्न उच्चारण होने लगते हैं। स को ह, ष को ख के रूप में लोग क्यों उच्चारण करते हैं, आदि बातों की जानकारी हमें भूगोल की सहायता से होती है। अर्थविचार में भी भूगोल भाषाविज्ञान की सहायता करता है। उष्ट्र का अर्थ 'भैंसा' (वैदिक काल में) था; किन्तु परवर्त्तीकाल में यह 'ऊँट' का अर्थ क्यों देने लगा, सैन्धव का अर्थ 'घोड़ा' और 'नमक' क्यों और कैसे हुआ, इन समस्याओं के समाधान के लिए भाषाविज्ञान भूगोल से सहायता लेता है। भाषाविज्ञान भी भूगोल के अध्ययन में विशेष सहायक होता है। प्रागैतिहासिक काल के भूगोल के अध्ययन में भाषाविज्ञान से सहायता ली जा सकती है। नदियों, पर्वतों, वृक्षों के नामों का तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन भूगोल के अध्ययन में सहायक हो सकता है।

भाषाविज्ञान और समाजशास्त्र

भाषाविज्ञान मानव-समाज की सर्वाधिक उपादेय वस्तु भाषा का अध्ययन करता है। भाषा समाज में मनुष्य के विचारों के विनिमय का साधन है, अतः समाजशास्त्र (Sociology) और भाषाविज्ञान का सम्बन्ध स्वयं स्पष्ट है। भाषा में सामाजिक मान्यताओं के उत्थान-पतन का प्रभाव पड़ता है। समाजशास्त्र के परिवर्तन के आधार पर भाषाविज्ञान की अनेक समस्याओं का समाधान किया जाता है; उदाहरण के लिए—दिया बुझाना न कहकर 'बढ़ाना' कहा जाता है, गाय के स्तन 'थन' कहलाते हैं, किन्तु नारी के स्तन थन क्यों नहीं? नारी 'गर्भिणी' कहलाती है और पशु 'गाभिन' कहलाता है, क्यों? इन प्रश्नों के समाधान भाषाविज्ञान को

समाज से प्राप्त होते हैं। सामाजिक मान्यताएँ हमारी भाषा पर नियन्त्रण रखती हैं, उनका विश्लेषण समाजशास्त्र की सहायता से ही सम्भव है।

भाषाविज्ञान भी समाजशास्त्र की पर्याप्त सहायता करता है। समाज की भाषागत विशेषताओं तथा उसकी मनोवृत्तियों के अध्ययन के लिए हमें भाषा-विज्ञान का आश्रय लेना पड़ता है। अशोक के काल में 'पाखण्ड' शब्द 'धर्म का पर्याय' था; किन्तु आज नहीं। द्राविड़ भाषाओं में 'पिल्लई' शब्द आदर सूचक है, किन्तु हमारी भाषा में 'कुत्ते के बच्चे' का वाचक है। इन अर्थभेदों का कारण सामाजिक है। इन कारणों के समझने में भाषाविज्ञान समाज-शास्त्र की सहायता करता है।

भाषाविज्ञान और मानवशास्त्र

मानव-विकास का अध्ययन मानवशास्त्र (Anthropology) का विषय है। मानव के विकास में भाषा का महत्त्वपूर्ण योगदान है। अतः इन दोनों का सम्बन्ध स्वयंसिद्ध है। मानवशास्त्र की यह कल्पना कि आदियुग में मानव-मात्र की एक ही भाषा रही होगी या संसार के विभिन्न परिवारों की भिन्न भाषाएँ रही होंगी आदि भाषाविज्ञान की समस्याएँ भाषा की उत्पत्ति से सम्बद्ध हैं। दूसरी ओर भाषाविज्ञान के अध्ययन से मानवशास्त्र को भी सहायता मिलती है। एक समाज की भाषा का प्रभाव दूसरे समाज की भाषा पर किस प्रकार पड़ता है, इसका समाधान भाषा-विज्ञान की सहायता से होता है।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि भाषाविज्ञान मानव द्वारा आविष्कृत विभिन्न शास्त्रों एवं विज्ञानों से अपने अध्ययन की सामग्री ग्रहण करता है और उन्हें प्रभावित करता है। "भाषाविज्ञान का सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विज्ञान, मनोविज्ञान से लेकर ठोस भौतिकविज्ञान (Physics) तक से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सम्बन्ध अवश्य है। इसका एक कारण है और वह यह कि भाषा मनुष्य की भाव अथवा विचाराभिव्यक्ति की शक्ति है। वाणी मनुष्य की चेतना की प्रतीक है। अरूपभावों को शब्द अथवा ध्वनि रूप देने का श्रेय उसी को है—इसी कारण समस्त ज्ञान-विज्ञान की एक मानव के मस्तिष्क तक प्रेषणीयता उसी के द्वारा सम्भव है। अतः भाषा को ही अध्ययन का विषय बनाने वाले भाषाविज्ञान का सम्बन्ध सभी विज्ञानों से होना स्वाभाविक है।"[1]

भाषाविज्ञान की उपयोगिता, प्रयोजन एवं महत्त्व

विशिष्ट ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। भाषा-विषयक वैज्ञानिक अध्ययन ही भाषाविज्ञान है। किसी भी शास्त्र का अध्ययन किसी-न-किसी उपयोगिता के आधार पर ही किया जाता है, क्योंकि **"प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते"** किन्तु वह अध्ययन निरपेक्ष दृष्टि से ही होना चाहिए।

विज्ञान का मूलतः उद्देश्य स्वाभाविक ज्ञान-पिपासा की तृप्ति ही है, व्याकरण-

---

1. सरल भाषाविज्ञान, पृ० १३।

शास्त्र के प्राचीन आचार्य पतंजलि ने व्याकरणशास्त्र के प्रयोजनों को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि षडङ्ग वेद के अध्ययन में ब्राह्मण की दृष्टि केवल ज्ञान की प्राप्ति ही होनी चाहिए—**'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'**; तथा व्याकरण का अध्ययन अज्ञान-सुलभ सन्देहों के निवारण के लिए होना चाहिए—**'असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम्'** ।

इन उद्धृत वाक्यों से यह स्पष्ट है कि अज्ञान-सुलभ सन्देहों का निवारण और स्वाभाविक ज्ञान-पिपासा की तृप्ति ही वास्तविक ज्ञान-प्राप्ति (या विज्ञान) का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। इसलिए भाषा के विषय में (जो कि मनुष्यों की पशुओं से एक विशेषता है,) स्वाभाविक ज्ञान की पिपासा को शान्त करना ही भाषाविज्ञान का मुख्य उद्देश्य है।

मानव एक मननशील प्राणी है। अतः उसके द्वारा अधीत विभिन्न शास्त्र मानवता एवं संस्कृति के विकास तथा समृद्धि में अवश्यम्भावी रूप से योग प्रदान करते हैं, फिर भाषाविज्ञान जो कि मानव की भाषा का विज्ञान है, इस पुण्यकर्म से क्यों विमुख होता है? अतः भाषाविज्ञान की उपयोगिता, प्रयोजन महत्त्व पर इस प्रकार विचार किया जा सकता है—

(१) **बौद्धिक ज्ञान-पिपासा**—भाषाविज्ञान हमारे भाषा और वाणी-विषयक सहज कौतूहल की निवृत्ति करता है। वह हमारी स्वाभाविक बौद्धिक ज्ञान-पिपासा को शान्त करता है। निश्चय ही ज्ञान का यह विशिष्ट उद्देश्य एवं प्रयोजन है।

(२) **हार्दिक परितोष**—बुद्धि के साथ-साथ भाषा का सम्बन्ध मनुष्य के हृदय से भी है। अतः भाषाविज्ञान ज्ञान-पिपासा के साथ ही हृदय को भी तृप्ति करता है। भाषाविज्ञान हमें काव्यानन्द प्रदान करता हैं, क्योंकि शब्द-विषयक आत्मकथा पढ़ने के पश्चात् हमें एक विचित्र अनुभूति होने लगती है। साथ ही भाषा के ह्रास और विकास का इतिहास भी कम रोचक नहीं है। इस प्रकार भाषा के इतिहास को पढ़कर पाठक मानव-समाज की भाषा-विषयक मनोवृत्ति से परिचय प्राप्त कर आनन्दित होता है।

(३) **भाषाविज्ञान एवं अन्वेषण की प्रवृत्ति**—भाषाविज्ञान विद्यार्थियों में वैज्ञानिक अन्वेषण की प्रवृत्ति को जाग्रत करता है, जिसके आधार पर छात्र प्रत्येक क्षेत्र में इसी दृष्टिकोण से अध्ययन करने लगता है। परिणामतः बुद्धि की पकड़ गहरी एवं व्यापक हो जाती है और अध्ययन अधिकतम प्रामाणिक।

(४) **भाषाविज्ञान व्याकरण एवं साहित्य के अध्ययन में सहायक**—भाषा-विज्ञान के द्वारा व्याकरण और साहित्य के अध्ययन और अध्यापन में सहायता मिलती है। भाषाविज्ञान के द्वारा ही साहित्य के तद्भव, तत्सम शब्दों का ज्ञान, प्राप्त होता है। भाषाविज्ञान ही यह बताता है कि प्राचीनकाल में 'असुर' शब्द का अर्थ 'देवता' था, किन्तु आज 'राक्षस' है। 'मृग' शब्द का अर्थ सामान्य 'पशु' था किन्तु आज 'हिरन' नामक विशेष पशु है।

(५) **भाषाविज्ञान से व्याकरण का दिशा-निर्देशन**—भाषा सभ्यता एवं संस्कृति की प्रतीक होती है। व्याकरण उसका परिमार्जन एवं परिष्कार करता है। व्याकरण के दिशा-निर्देशन का कार्य भाषाविज्ञान करता है। भाषाविज्ञान जिन शब्दों को स्वीकार कर लेता है, उन शब्दों को कुछ समय के पश्चात् व्याकरण भी स्वीकार कर लेता है। भाषा की जिन समस्याओं का समाधान व्याकरण नहीं कर पाता, भाषाविज्ञान उन समस्याओं के समाधान में व्याकरण को सहयोग प्रदान करता है।

(६) **भाषाविज्ञान एवं वेदों का अध्ययन**—वेदों के अध्ययन में भी भाषाविज्ञान की दृष्टि से सफल अध्ययन हो रहा है। इस अध्ययन के कारण मानव-ज्ञान की प्रारम्भिक अनेक समस्याओं के समाधान में योगदान मिल रहा है। विश्व की प्राचीनतम संस्कृति के विभिन्न अध्याय स्पष्ट हो रहे हैं। यही नहीं, वेदों के अध्ययन के कारण भाषावैज्ञानिक अध्ययन भी स्पष्ट रूप ग्रहण करने में सफल हुआ है।

(७) **भाषाओं का अध्ययन एवं भाषाविज्ञान**—भाषाविज्ञान का एक स्पष्ट उपयोग भाषाओं के—विशेषकर परस्पर सम्बन्ध रखने वाली भाषाओं के सीखने में किया जा सकता है। विश्व के विभिन्न साहित्यों का परिचय तथा उनके मूलभूत तत्त्वों के अध्ययन में भी इस विज्ञान के अध्ययन से लाभ हुआ है। संसार की भाषाओं का मूल रूप कहाँ है? उनके स्रोत क्या हैं? इन प्रश्नों के समाधान में भी भाषाविज्ञान से सहयोग मिलता है।

(८) **भाषाविज्ञान से विश्व-बन्धुत्व की भावना का विकास**—भाषाविज्ञान द्वारा विश्व-बन्धुत्व की स्थापना होती है, क्योंकि भाषाविज्ञान का अध्ययन किसी एक भाषा तक सीमित न रहकर संसार की विभिन्न भाषाओं तक व्याप्त होता है। भाषा-परिवारों की जानकारी के पश्चात् हमें विश्व की विभिन्न जातियों के परिवारों का बोध होता है। भाषाओं के इतिहास का अनुसन्धान करते हुए हम मानव-जाति के आदिम रूप तक पहुँचने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार भाषाविज्ञान विश्व-बन्धुत्व का प्रसार करता है और विश्व की एकता स्थापन में महान् योग देता है।

(९) **भाषाविज्ञान द्वारा प्रागैतिहासिक अनुसन्धान**—भाषाविज्ञान के अध्ययन की महान् उपलब्धि यह है कि वह मानव-जाति के इतिहास का काम करता है। भाषाविज्ञान में हम मानव-जाति की विभिन्न युगों की सभी भाषाओं का ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन करते हैं। इस अध्ययन के द्वारा ऐतिहासिक; विशेषतः प्रागैतिहासिक संस्कृति और सभ्यता का ज्ञान होता है। भाषाविज्ञान "उस समय का इतिहास लिखने में सहायक होता है, जिस समय का इतिहास स्वयं इतिहास को भी ज्ञात नहीं है।" अतः हम कह सकते हैं कि मानव-जाति के इतिवृत्त की जानकारी में भाषाविज्ञान का बहुत बड़ा योगदान है :

(१०) **भाषा-विज्ञान एवं विभिन्न शास्त्र**—भाषाविज्ञान का विभिन्न शास्त्रों से भी सम्बन्ध है। इतिहास, पुरातत्व, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र आदि

भाषाविज्ञान से प्रभावित होते हैं और सहायता ग्रहण करते हैं। अतः इन शास्त्रों के अध्ययन में भी भाषाविज्ञान सहयोग प्रवान करता है।

(११) **मानवता का प्रत्यक्षीकरण**—भाषाविज्ञान द्वारा किसी जाति या सम्पूर्ण मानवता का प्रत्यक्षीकरण होता है। आर्यों के निवासस्थान सम्बन्धी खोज में भाषाविज्ञान का अभूतपूर्व योग है।

(१२) **भाषाविज्ञान एवं विभिन्न विज्ञानों की उत्पत्ति**—भाषाविज्ञान ने तुलनात्मक 'मतविज्ञान' जिसमें मानव-जाति के विभिन्न धार्मिक विश्वासों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है, और 'पुराण-विज्ञान' जिसमें पौराणिक गाथाओं पर विचार किया जाता है, तथा 'जन-कथाःविज्ञान' के उद्भव एवं विकास में सहयोग प्रदान किया गया है। 'मनुष्य-जातिविज्ञान' भी जिसमें भिन्न-भिन्न जातियों की वंश-परम्परा आदि पर विचार किया जाता है, भाषाविज्ञान से पद-पद पर सहायता ग्रहण करता है।

(१३) **प्राचीन भाषाओं का व्याकरण और भाषाविज्ञान**—भाषाविज्ञान द्वारा प्राचीन भाषाओं के व्याकरण को भी लिखकर तैयार किया जा सकता है। यह व्याकरण भाषा के ऐतिहासिक और तुलनात्मक अन्वेषण के आधार पर स्थिर किया जा सकता है। ऐसा एक प्रयत्न **मैकडानल** ने किया था।

(१४) **भाषाविज्ञान एवं ध्वनिविज्ञान**—भाषाविज्ञान ध्वनियों के उच्चारण और ध्वनि-यंत्र की सम्पूर्ण क्रियाओं से हमारा परिचय कराता है। परिणामस्वरूप, हमारी ध्वनि सम्बन्धी ज्ञान-पिपासा शान्त होती है। ध्वनि-विपर्यय या ध्वनि-परिवर्तन के मूलभूत तत्त्वों के अध्ययन में भी भाषाविज्ञान से पर्याप्त सहायता मिल सकती है। भाषाविज्ञान वाक् चिकित्सा का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग बन गया है अतः इस क्षेत्र में भी इस विज्ञान की उपयोगिता स्वय-सिद्ध है—"कोई तुतलाता है या हकलाता है तो इससे उसकी अभिव्यंजना बाधित होती है। उसकी तुतलाहट या हकलाहट का क्या कारण है? ध्वनियों के उच्चारण में उससे क्या भूल हो रही है? उसे कैसे दूर किया जा सकता है? आदि प्रश्न भाषा-विज्ञान के द्वारा ही समाहित हो सकते हैं।

(१५) प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा ने एक अन्य प्रयोजन का उल्लेख करते हुए लिखा है—"भाषाविज्ञान से **संचार के साधनों** को समुन्नत करने के लिए भी सहायता लेनी पड़ती है; उदाहरणार्थ—दूर संचार या यांत्रिक अनुवाद के लिए संकेतों का निर्माण या तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रणयन तभी सम्भव है, जब भाषिक संकेतों से परिचय हो और भाषिक संकेतों का पूर्ण परिचय भाषाविज्ञान के बिना अकल्पनीय है।"

भाषा मानव के समस्त व्यवहारों की माध्यम है। इसके बिना मानव अपना कार्य चलाने में पूर्णतः असमर्थ हो जाता है। अतः भाषा का महत्त्व अत्यधिक है।

उसी भाषा का सर्वाङ्गीण अध्ययन कराने वाला यह शास्त्रविज्ञान कितना महत्त्वपूर्ण है, इसके विवेचन की विशेष आवश्यकता नहीं है।

भाषाविज्ञान का क्षेत्र (Scope of Philology)

भाषाविज्ञान भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करने वाला विज्ञान है। भाषा मानव मात्र के लिए अनिवार्य तत्त्व है, उसकी व्यवहार साधिका है। अतः भाषाविज्ञान का विषय-क्षेत्र व्यापक है—निश्चय ही "भाषाविज्ञान का क्षेत्र उतना ही व्यापक है जितनी कि सम्पूर्ण मानवता, क्योंकि इसका सम्बन्ध विश्व के मनुष्यों की भाषा से है—'The Scope of the science of language is, therefore, as wide as the whole of humanity, as it deals with human speech itself." भाषाविज्ञान तथा उसके विभिन्न अंगों का यह व्यापक अध्ययन प्रस्तुत करता है। भाषाविज्ञान के अन्तर्गत जिन विषयों का हम अध्ययन करते हैं, उन्हें सुविधा की दृष्टि से प्रधान विषय तथा गौण विषय, इन दो भागों में विभक्त कर सकते हैं।

प्रधान विषयों के अन्तर्गत वाक्यविचार (Syntax), रूपविचार (Morphology), ध्वनिविचार (Phonology), अर्थविचार (Semantics) की गणना होती है। गौण विषयों के अन्तर्गत भाषा की उत्पत्ति (Origin of language), भाषाओं का वर्गीकरण (Classification of languages), व्युत्पत्तिशास्त्र (Etymology), शब्द-समूह (Vocabulary), लिपि (Script) एवं प्रागैतिहासिक खोज (Linguistic Palacontology) की गणना होती है।

(१) **वाक्यविचार** (Syntax)—वाक्यविचार अथवा वाक्यविज्ञान को वाक्यों के तुलनात्मक अध्ययन के कारण तुलनात्मक वाक्यविज्ञान (Comparative Syntax) भी कहते हैं। भाषा का प्रधान कार्य विचार-विनिमय है। विचारों का विनिमय वाक्य से होता है। अतः उसका महत्त्वपूर्ण होना स्वाभाविक है। इस विभाग में वाक्य के गठन पर विचार किया जाता है। वाक्यविचार के अध्ययन को तीन उपविभागों में विभक्त किया जा सकता है—वर्णनात्मक वाक्यविचार (Descriptive Syntax), ऐतिहासिक वाक्यविचार (Historical Syntax) और तुलनात्मक वाक्यविचार (Comparative Syntax)। **वर्णनात्मक वाक्यविचार**—वाक्य-रचना का सामान्य विवरण; **ऐतिहासिक वाक्यविज्ञान** वाक्य-रचना के इतिहास और **तुलनात्मक वाक्यविज्ञान**—किन्हीं दो भाषाओं के वाक्यों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं।

(२) **रूपविचार** (Morphology)—रूपविचार को पदविचार या पदविज्ञान भी कहते हैं। इस विभाग के अन्तर्गत, धातु, उपसर्ग, प्रत्यय, शब्द तथा विभक्ति आदि उन सभी तत्त्वों पर विचार किया जाता है, जिनसे शब्दरचना होती है। इस विभाग का वाक्यविचार की अपेक्षा अधिक विस्तार से अध्ययन किया गया है।

(३) ध्वनिविचार (Phonology)—शब्दों का निर्माण ध्वनियों से होता है, अतः भाषाविज्ञान में ध्वनियों का महत्त्व स्वयंसिद्ध है। ध्वनिविचार भाषाविज्ञान का नीरस, क्लिष्ट किन्तु अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण विषय है। इस विभाग के अन्तर्गत ध्वनि-परिवर्तन, ध्वनि-विकास, उसके कारण और दिशा के विश्लेषण के साथ ध्वनि-अवयव, ध्वनि उत्पन्न होने की क्रिया, ध्वनि तरंग आदि का तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन, सामान्य नियम निर्माणादि का अध्ययन किया जाता है।

डा० गुणे का कथन है कि वस्तुतः इसे ध्वनियों का उच्चारण, अक्षर-रूप में उनका संयोग, उन अक्षरों का शब्द रूप में संयोग तथा अन्ततः शब्दों से वाक्यों का निर्माण आदि भाषा-विषयक विभिन्न तत्त्वों पर विचार करना पड़ता है—

"Infact it has to deal with the various phenomena of Speech—the production of sounds, their combinations into syllables, the grouping of these into words and finally putting them into sentences.

इस विभाग के अन्तर्गत समस्त ध्वनि-नियमों का भी अध्ययन किया जाता है।

(४) अर्थविचार (Semantics)—भाषाविज्ञान के अन्तर्गत अर्थविचार या अर्थविज्ञान वाक्यविचार की भाँति ही नूतन है। अर्थ भाषा की आत्मा है। मनुष्य के मस्तिष्क से सम्बन्ध रखने के कारण यह गम्भीर अध्ययन का विषय है। इस विभाग में शब्दों का अर्थ से सम्बन्ध कैसे हुआ, उनमें अर्थ-परिवर्तन तथा उसके कारणों आदि पर विचार होता है।

भाषाविज्ञान के उपर्युक्त विभागों के अतिरिक्त कुछ अन्य विषय भी हैं जो कि आज भी अध्ययन की अपेक्षा रखते हैं। इसी अध्ययन की कमी के कारण इन विषयों को गौण संज्ञा उपलब्ध है।

(१) भाषा की उत्पत्ति (Origin of language)—भाषा की उत्पत्ति का विषय कुछ विद्वानों की दृष्टि से भाषाविज्ञान के क्षेत्र से परे है, किन्तु प्रश्न यह है कि भाषाविज्ञान जब भाषा के समस्त जीवन का अध्ययन करता है तो स्वयं अपने जन्म के विषय से उसको क्यों पृथक् रखा जाय। इस विभाग में भाषा की उत्पत्ति, उसके विकास आदि के प्रश्नों का समाधान किया जाता है।

डा० गुणे का कथन है कि "इसमें भाषा की उत्पत्ति तथा उसमें विकास एवं परिवर्तन के कारण आदि अन्य बड़े प्रश्न भी आते हैं। इस प्रकार इसकी समस्या गत्यात्मक है। यह केवल भाषा की चिर परिवर्तनशीलता का ही अध्ययन नहीं करता, अपितु परिवर्तन के कारणों का भी पता लगाने का प्रयास करता है।"

"It also includes larger questions like that of the origin of language, the cause of its growth and change and the like. Its problem, therefore is a dynamic problem ; it has not only to

recognise and point out that there is a constant change in language but also to try to find out the cause of that change."

(२) **भाषाओं का वर्गीकरण** (Classification of languages)—वाक्य-विचार, रूपविचार, ध्वनिविचार, अर्थविचार के आधार पर संसार की भाषाओं का वर्गीकरण ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन के सहारे किया जाता है। भाषाओं के आकृतिमूलक और पारिवारिक वर्गीकरण का कार्य भाषाविज्ञान का एक महत्त्व-पूर्ण अङ्ग है।

डा० गुणे का कथन है कि भाषाओं के किसी वर्ग-विशेष की पारस्परिक समानताओं का अन्वेषण और उनकी व्याख्या करना, तुलनात्मक भाषाविज्ञान का उद्देश्य है.........इस प्रसङ्ग में ह्विटनी का उद्धरण द्रष्टव्य है, "भाषा मानव-अभिव्यक्ति (पशु अभिव्यक्ति से भिन्न) के साधन के रूप में, उसकी एकरूपता; तथा सामग्री एवं संरचना की दृष्टि आन्तरिक अनेकता को ठीक से समझने के लिए भाषाओं की समानता और अन्तर के कारण का पता लगाना पड़ता है, एवं समानता तथा अन्तर की स्पष्ट सीमा-रेखा निर्धारित करके उन्हें वर्गीकृत करना पड़ता है।"

"Now the aim and object of comparative Philology of a particular group of languages is to find out and explain the similarities tnat these languages show with one another..........
........our science strives, to quote WHITNEY ; 'To comprehend language, both in its unity, as a means of human expression and as distinguished from brute communication and in its internal variety of material and structure. It seeks to discover the cause of the resemblances and differences of languages, and to effect a classification of them, by tracing out the lines of resemblances and drawing the limits of difference."

(३) **व्युत्पत्तिशास्त्र** (Etymology)—भाषाविज्ञान का प्रारम्भ व्युत्पत्ति-शास्त्र से ही हुआ है। इसी के आधार पर किसी शब्द के सम्पूर्ण जीवन का इतिहास तथा बाह्य एवं आन्तरिक परिवर्तनों का विचार किया जाता है। यह भाषाविज्ञान का स्वतन्त्र विषय नहीं, अपितु ध्वनि, अर्थ और रूपविचार का सम्मिलित प्रयोग है।

(४) **शब्दसमूह** (Vocabulary)—इस विभाग के अन्तर्गत किसी भाषा के नवीन शब्दों का सृजन एवं विदेशी शब्दों की स्वीकृति आदि बातों पर विचार होता है। शब्दसमूह के अध्ययन से उसके प्रयोगकर्ताओं की विचारधारा पर प्रकाश पड़ता है।

(५) **लिपि** (Script)—लिपि का सम्बन्ध भाषा से अत्यन्त घनिष्ठ है। इस विभाग में लिपि की उत्पत्ति, उसका विकास, वर्तमान और भविष्य तथा उपयोगिता के सम्बन्ध में विचार किया जाता है।

(६) **प्रागैतिहासिक खोज** (Linguistic Palacontology)—यह भाषा-

विज्ञान का नवीनतम विभाग है। इसमें भाषा के आधार पर प्रागैतिहासिक काल की संस्कृति एवं सभ्यता पर प्रकाश डाला जाता है। इस क्षेत्र में भाषाविज्ञान ने एक नवीन आशा की किरण दी है। अभी इस विषय का विस्तृत अध्ययन यद्यपि नहीं हुआ है, तथापि जो कुछ इस दिशा में कार्य हुआ है वह प्रशंसनीय एवं आशाजनक है।

(७) **भाषाविज्ञान का इतिहास**—यह भी भाषाविज्ञान के अन्तर्गत विश्लेषण का विषय है। जिस विषय के विभिन्न पहलुओं पर हम सूक्ष्म रूप से विचार कर रहे हैं, उसकी आत्मकथा-ज्ञान विषयक भावना का अन्तर्गोपन कहाँ तक उचित है? भारत में इस विषय के दो विभाग कर अध्ययन किया जा सकता है—भारतीय कार्य तथा विदेशी कार्य।

भाषाविज्ञान के अध्ययन के उपर्युक्त विभागों के अतिरिक्त भाषाविज्ञान प्रधान विभागों के आधार पर भाषा की प्रकृति, उसके विकास तथा एक से दो भाषाओं के बनने, भाषा-विभाषा, राष्ट्रभाषा आदि का अध्ययन भी भाषाविज्ञान का विषय है।

प्रश्नावली

१. भाषाविज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता और आवश्यकता पर एक लेख लिखिए।

२. भाषाविज्ञान और व्याकरण का स्वरूप तथा उपयोग बताइए एवं दोनों में क्या साम्य और वैषम्य है तथा उनके परस्पर के सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिए।

३. भाषाविज्ञान के नामकरण पर विचार करते हुए भाषाविज्ञान की स्पष्ट परिभाषा भी लिखिए।

४. भाषाविज्ञान का मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, व्याकरण एवं साहित्य से क्या सम्बन्ध है? विस्तार से बताइए।

५. भाषाविज्ञान के अन्तर्गत किन-किन विषयों का अध्ययन किया जाता है? उनकी अध्ययन प्रणाली के आधार पर क्या भाषाविज्ञान को 'कला' कहा जा सकता है?

६. Discuss the Scope of Philology and its relation with Grammar. **(A. U., 1962)**

७. What are the aims and objects of Comparative Philology? How does it differ from Grammar? **(A. U., 1963)**

८. भाषाविज्ञान का क्षेत्र बताइए और उसका व्याकरण के साथ सम्बन्ध निरूपित कीजिए। (आ० वि० १९६९)

द्वितीय अध्याय

भाषाविज्ञान का इतिहास

- भाषाविज्ञान-विषयक भारत में प्राचीन कार्य
- भारत में अर्वाचीन कार्य
- यूरोप में भाषाविज्ञान-विषयक कार्य
- प्रश्नावली

भाषाविज्ञान का इतिहास

भाषाविज्ञान का आधुनिक रूप वर्तमान युग की देन है, क्योंकि भारतीय साहित्य में विद्या और उप-विद्याओं के चर्चा-प्रसङ्ग में इस विज्ञान का नामोल्लेख नहीं हुआ है। किन्तु यह कहना कि भाषाविज्ञान का आविर्भाव यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ है, सर्वथा भ्रामक है। भाषाविज्ञान का यह रूप शताब्दियों के विकास का परिणाम है।

भाषाविज्ञान-विषयक भारत में प्राचीन कार्य

वेद—वेद भारतीय साहित्य की प्राचीनतम निधि हैं, वेदों में भाषाविज्ञान-विषयक अनेक तत्त्वों की खोज की जा सकती है। वेदों के मूलरूप को सुरक्षित रखने तथा वैदिक भाषा को विशुद्ध बनाये रखने के लिए वैदिक ऋषियों ने ध्वनियों का वर्गीकरण किया था। शब्दों के पदपाठों की रचना की थी। वैदिक शब्दों के उच्चारण, पठन-पाठन आदि की व्यवस्था के लिए 'शिक्षा' नामक शास्त्र की उद्‌भावना की थी। वेद-पाठ के विभिन्न प्रकारों की व्यवस्था के लिए 'प्रातिशाख्यों' की रचना की गयी थी। वाक्यों एवं शब्दों की व्यवस्था, रचना आदि के लिए व्याकरण, शब्दों के अर्थ की जानकारी के लिए निरुक्त की रचना हुई थी। आशय यह है कि शिक्षा-कल्प-निरुक्त-छन्द व्याकरण नामक अंगों में से शिक्षा, निरुक्त और व्याकरण, भाषा-विज्ञान के कार्य करने वाले तत्त्व हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थ—ब्राह्मण ग्रंथों में भाषा के अध्ययन की पूर्ण व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है। कृष्ण यजुर्वेद-संहिता में देवगण इन्द्र से अनुरोध करते हैं कि हमारे कथन को दो खण्डों में विभक्त कर दीजिए—"वाग्वै पराच्य व्याकृतावदन्ते देवाइन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति, सोऽब्रवीद्वरं वृणै मह्यं चैवेष वायवे च सह गृह्यता इतितस्मादैन्द्रवायवः सह गृह्यते तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्तस्मादियं व्याकृता-वागुद्यते।" (तै० सं० ६/४/७) ब्राह्मण-ग्रंथों में शब्दों की व्युत्पत्ति की प्रामाणिकता को भण्डारकर ने भी स्वीकार किया है—The Aitreya Brahmana Gives the Etymology of प्रैष (III. 9) of मानुष (II. 23) of जाया (VII. 13);

the Tait Brahmana of अश्व (I. 1. 5.), of नक्षत्र (D. 7. 18)।"[1] इस उद्धरण से सिद्ध हो जाता है कि ब्राह्मण ग्रंथों के काल में शब्द-व्युत्पत्ति का प्रारम्भ हो गया था।

पदपाठ—भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन पदपाठ के रूप में वैदिक काल में देखा जा सकता है। वेदों की संहिताओं का पदों में विभाजन, संधि-समास-विच्छेद, स्वराघात के नियमों की जानकारी आदि भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की प्रक्रिया ही है। इस अध्ययन के जन्मदाता शाकल्य ऋषि को भारतीय परम्परा स्वीकार करती है।

प्रातिशाख्य—वेदमन्त्रों के उच्चारण की शुद्धता के लिए ध्वनियों का वैज्ञानिक अध्ययन प्रातिशाख्य के रूप मिलता है। इन प्रातिशाख्यों में वेदों की प्रत्येक शाखा के अनुसार शब्दों और ध्वनियों का वर्गीकरण किया गया है। उनके उच्चारण की सुरक्षा इनका मुख्य उद्देश्य है। परिणामतः मात्राकाल, स्वराघात और उच्चारण सम्बन्धी नियमों का वैज्ञानिक अध्ययन ही प्रातिशाख्यों का मुख्य उद्देश्य है। प्रातिशाख्यों में पद के नाम (संज्ञा), आख्यात, उपसर्ग और निपात चार विभाग किये गए हैं। प्रातिशाख्यों में स्वर और व्यंजन के उच्चारण सम्बन्धी स्वरूप का वैज्ञानिक रीति से अध्ययन किया गया है। आज भी ऋग्वेद की शाकल शाखा का ऋक् प्रातिशाख्य, यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, वाजसनेय शाखा का वाजसनेय प्रातिशाख्य, सामवेद की माध्यन्दिन शाखा का साम-प्रातिशाख्य और अथर्ववेद का अथर्व-प्रातिशाख्य उपलब्ध है।

शिक्षा—शिक्षा नामक वेदाङ्ग में उच्चारण सम्बन्धी प्रक्रिया के सम्बन्ध में शिक्षा दी गयी है। स्वर, व्यंजन और मात्रा आदि के सम्बन्ध में विवेचन किया गया है। शिक्षा-ग्रंथों में वैदिक ध्वनियों का सर्वांगपूर्ण विवेचन किया गया है।

निघण्टु—वैदिक साहित्य के अध्ययन की सुविधा के लिए क्लिष्ट वैदिक शब्दों का संग्रह निघण्टु नामक ग्रंथ में किया गया है। प्राप्त निघण्टु ग्रंथ पाँच भागों में विभक्त है।

निरुक्त—निरुक्त की रचना यास्क महोदय ने की है। यास्क का समय विवादास्पद होते हुए भी पाणिनि से पूर्व है। निरुक्त निघण्टु की व्याख्या है। "अर्थविचार की दृष्टि से देखें तो समस्त संसार का यह प्राचीनतम ग्रंथ है। यही वह ग्रंथ है जिसमें शब्दों की व्युत्पत्ति के नियमों का उचित निर्धारण किया गया है। यास्क मुनि ने बताया कि प्रत्येक संज्ञा की व्युत्पत्ति किसी-न-किसी धातु से है। निरुक्त में निघटु के प्रत्येक शब्द की व्याख्या विस्तारपूर्वक की गयी है।"[2] वस्तुतः

---

1. Collected words of Sir G. P. Bhandarkar, IV, p. 245.
2. सरल भाषाविज्ञान, पृ०—१३।

निरुक्त भाषावैज्ञानिक कार्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भारतीय ग्रन्थ है। इसमें शब्द का अर्थ, भाषा का वैज्ञानिक विवेचन, शब्दों का इतिहास, शब्द की श्रेष्ठता, धातुओं में शब्द का मूल, विभाषाओं की ओर संकेत, पदों के नाम उपसर्ग, निपात, आख्यात आदि के सम्बन्ध में प्रारम्भिक सूत्रों की खोज की जा सकती है। निरुक्त की परिभाषा इस प्रकार की जाती है। "वर्णागम वर्ण-विपर्यय, वर्ण-विकार, वर्ण-नाश और धातु का अर्थ-विस्तार,. . निरुक्त के पाँच भेद हैं—

वर्णागमो वर्ण विपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पंचविधंनिरुक्तम्॥

इस लक्षण की सीमाओं में ध्वनि, पद और अर्थ का समाहार हो जाता है, इस प्रकार हम कह सकते हैं कि निरुक्त में भाषाविज्ञान के मूलभूत तत्त्वों का विस्तार से अध्ययन हुआ है।

व्याकरण : पाणिनि से पूर्ववर्ती वैयाकरण—यास्क के पश्चात् अनेक वैयाकरणों के नामों का उल्लेख यत्र-तत्र मिल जाता है, किन्तु उनकी रचनाएँ अलग होने के कारण उनके सम्बन्ध में निर्विवाद रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। इन वैयाकरणों में आपिशलि और काशकृत्स्न का उल्लेख निरुक्तादि ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। इन दोनों आचार्यों के सम्प्रदायों के अतिरिक्त ऐन्द्रसम्प्रदाय का भी उल्लेख मिलता है। इस सम्प्रदाय का नाम इन्द्र देवता के नाम पर रखा गया है। यही प्राचीनतम सम्प्रदाय है।

पाणिनि—व्याकरणशास्त्र में पाणिनि का नाम महत्त्वपूर्ण है। यास्क के पश्चात् भाषा को सुसंस्कृत करने वालों में पाणिनि विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। चार हजार सूत्रों में भाषा को व्याकरण के नियमों में बाँधने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। पाणिनि का समय विवादास्पद है, किन्तु अधिकांश विद्वान् ई० पू० ७०० से ई० पू० ७५० के मध्य पाणिनि के समय को स्वीकार करते हैं। "अष्टाध्यायी पाणिनि की ऐसी कृति है जिसको यदि भाषाविज्ञान के वैज्ञानिक विवेचन के लिए मेरुदण्ड की संज्ञा दी जाय तो अत्युक्ति न होगी। अपनी विशेषताओं के कारण आज भी इस क्षेत्र का यह अमूल्य रत्न है।"[1] पाणिनि की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। सूत्र रूप में हम उन्हें इस प्रकार परिगणित कर सकते हैं : (१) सूत्र-शैली में व्याकरण जैसे दुरूह तथा विस्तृत शास्त्र को सरल तथा संक्षिप्त बना दिया है। (२) भाषा का चरम अवयव पाणिनि ने वाक्य को स्वीकार किया है, शब्द को नहीं। (३) पाणिनि ने शब्दों को सुबन्त, तिङन्त तथा अव्यय नामक तीन श्रेणियों में विभक्त किया है। (४) एकाक्षर धातुओं से सम्पूर्ण शब्दों की रचना हुई है। उपसर्ग, प्रत्यय आदि की योजना से अपरिमित शब्दों की रचना हो सकती है।

---

[1] सरल भाषाविज्ञान, पृ० २५।

वाक्य ही भाषा की इकाई है। इस मत के मूल में पाणिनि का यही धातुसिद्धान्त है। भाषाविज्ञान के विद्वानों ने भी इसी मत में अपनी आस्था व्यक्त की है— 'Sentence is the unit of language,'। (५) पाणिनि ने अपने सूत्रों में ध्वनि-विज्ञान का प्रारम्भिक रूप प्रस्तुत किया है। स्थान, प्रयत्न तथा ध्वनि का सर्वाङ्ग-पूर्ण वर्गीकरण पाणिनि का आज तक मान्यता प्राप्त है। (६) लौकिक तथा वैदिक संस्कृत का तुलनात्मक अध्ययन भी पाणिनि की अष्टाध्यायी की एक विशेषता है। पाणिनि की अन्य रचनाओं में धातुपाठ, गणपाठ तथा उणादि सूत्र का नाम लिया जाता है। इन सभी रचनाओं में भाषा का जो अध्ययन और जिस काल में प्रस्तुत किया गया है, उसके आधार पर पाणिनि का महत्त्व स्वयं-सिद्ध है। पाणिनीय व्याकरण की एक विशेषता उसकी संक्षिप्तता है। पाणिनीय व्याकरण के इस गुण की प्रशंसा करते हुए पंतजलि ने लिखा है कि "कुशपवित्रपाणि प्रामाणिक आचार्य ने शुद्ध स्थान में पूर्वाभिमुख बैठकर बड़े श्रम से सूत्रों का प्रणयन किया है। उनमें एक वर्ण भी अनर्थक नहीं हो सकता, इतने बड़े सूत्र की बात ही क्या है?"

"प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणि शुचावकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महत्ता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयतिस्म। तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुं, किं पुनरियता सूत्रेण।"

पाणिनीय व्याकरण में ध्वनि, पद, वाक्य, अर्थ, आघात आदि भाषा का कोई ऐसा तत्त्व नहीं है, जिस पर विचार न किया गया हो। निश्चय ही पाणिनि महान् भाषावैज्ञानिक कहे जा सकते हैं।

कात्यायन—कात्यायन का समय पाणिनि से लगभग तीन शताब्दी अनन्तर माना जाता है। कात्यायन ऐन्द्र सम्प्रदाय के आचार्य हैं। कात्यायन ने पाणिनि के लगभग एक सौ पचास सूत्रों पर वार्त्तिक रचना की है। इन वार्त्तिकों के द्वारा सूत्रों की व्याख्या सरल शैली में की गयी है। वार्त्तिकों में से कुछ की रचना पद्य में है और कुछ की गद्य में। कहीं-कहीं कात्यायन का पाणिनि से मतभेद भी है। जिसका स्पष्ट संकेत उनके वार्त्तिकों को पढ़ते समय हो जाता है। कात्यायन के महत्त्व का मूल्यांकन करते हुए डा० गौतम ने लिखा है—"भाषा-विज्ञान के इतिहास में एक तो अष्टाध्यायी के वार्त्तिक का अध्ययन बड़ा महत्त्वपूर्ण है, अध्ययन-क्रम में जिन कठिनाइयों का हमें सामना करना पड़ा था उनका, समाधान मिलता है; दूसरे इसमें तत्कालीन भाषा के परिवर्तन हो जाने के कारण आवश्यकतानुसार अष्टाध्यायी के सूत्रों में यथा-सम्भव परिवर्तन करके उन्हें सरल बनाने का स्तुत्य प्रयत्न हुआ है।"[1]

पंतजलि—पंतजलि का समय भी विवादास्पद रहा है, किन्तु आज डा० भण्डारकर के अनुसार पतंजलि का समय १५० ई० पू० है। आज यही समय मान्य है। पतंजलि ने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर महाभाष्य प्रस्तुत किया है। पंतजलि

1. सरल भाषाविज्ञान, पृ० ३२।

ने अपने इस ग्रंथ में पाणिनि के विचारों का समर्थन किया है, कात्यायन के आक्षेपों का समाधान किया है। महाभाष्य भाषा का वैज्ञानिक तथा दार्शनिक विवेचन करने वाला महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। उपर्युक्त 'मुनित्रय' भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए, व्याकरण के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने भी इन आचार्यों के अध्ययन के पश्चात् ही अपने अध्ययन की पूर्णता मानी है।

व्याडि या व्यालि—पाणिनि के अनन्तर वैयाकरणों में व्याडि का नाम भी लिया जाता है। कहा जाता है कि इनकी कृति एक लक्ष श्लोकात्मक थी, किन्तु पाणिनि की लोकप्रियता के समक्ष इनका प्रचार न हो सका, परिणामतः इनके व्याकरण का भी काल के कराल गाल में केवल नाम शेष रह गया।

अन्य व्याख्याकार—पाणिनि तथा पतंजलि के अनन्तर व्याकरण पर जो भी ग्रंथ लिखे गये वे मौलिक न होकर व्याख्या मात्र थे। इन व्याख्याकारों में वामन और जयादित्य (सप्तम शतक पूर्वार्द्ध) ने 'काशिकावृत्ति' लिखी है। इस रचना में पाँच अध्याय हैं। इसमें अष्टाध्यायी के सूत्रों को उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट किया गया है। इसी अष्टाध्यायी के व्याख्याकारों में हरिदत्त की 'पदमंजरी', जिनेन्द्रबुद्धि की 'काशिकान्यास' आदि रचनाएँ अधिक प्रसिद्ध हैं। भर्तृहरि की 'वाक्यपदीय' भाषा के मूल तत्त्वों को स्पष्ट करने वाली रचना है। यह ग्रन्थ "भाषा के विवेचन की दृष्टि से अद्भुत है। वैसी गम्भीरता और सूक्ष्मता शायद ही किसी दूसरे ग्रन्थ में दीख पड़े।" कय्यट ने 'महाभाष्य-प्रदीप' लिखकर भाषाविज्ञान के विकास में सहायता प्रदान की है।

कौमुदी ग्रन्थ—भाष्य और टीका-ग्रंथों में अष्टाध्यायी की व्याख्या की गयी, किन्तु विषय की दुर्बोधता, नीरसता तथा पाठकों की अल्पज्ञता के कारण इस दुरूह विषय को प्रकारान्तर से हृदयंगम कराने के लिए कौमुदी ग्रंथों की रचना की गयी। कौमुदीकारों में विमल सरस्वती, रामचन्द्र, भट्टोजी दीक्षित ने रूपमाला, प्रक्रिया कौमुदी, सिद्धान्त कौमुदी आदि रचनाएँ कीं। इन कृतियों में व्याकरण एवं भाषा को सहज रूप में हृदयंगम कराने का प्रयास स्पष्ट है।

अन्य वैयाकरण—भाषाविज्ञान के इतिहास में बौद्ध-जैन व्याकरणाचार्यों का भी महान् योगदान है। पालि, प्राकृत, अपभ्रंश का अध्ययन भी किया गया है। इन भाषाओं के अपने-अपने व्याकरण हैं। चन्द्रगोमिन बौद्ध आचार्य थे, इनके व्याकरण के ग्रंथ में छह अध्याय और ३१०० सूत्र हैं। इनका प्रचार लंका और तिब्बत में अधिक है। समय इनका पाँचवीं सदी है। शाकटायन जैन आचार्य थे। इनका समय आठवीं शताब्दी है। इनके दो ग्रंथ 'शाकटायन शब्दानुशासन' तथा 'कामधेनु' हैं। इनके शब्दानुशासन में चार अध्याय तथा ३२०० सूत्र हैं। हेमचन्द्र जैन सन्त थे। शब्दानुशासन इनकी प्रसिद्ध रचना है जो कि आठ अध्यायों में विभक्त है। इसमें सूत्र संख्या ४५०० है। हेमचन्द्र ने अपनी रचना में तत्कालीन

भारत की अपभ्रंश महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची का भी वर्णन किया है। बोपदेव की 'मुग्धबोध' रचना सरलता के लिए प्रसिद्ध है। इनका प्रचार बंगाल में अधिक हुआ है। इनकी 'कविकल्पद्रुम', गणपाठ तथा 'काव्य-कामधेनु' धातुपाठ नामक दो रचनाएँ भी प्रसिद्ध हैं।

भारत में व्याकरण के अतिरिक्त काव्यशास्त्र एवं न्यायशास्त्र में भी भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन किया गया है। न्यायदर्शन में अर्थविचार तथा काव्यशास्त्र में शब्द की शक्तियाँ तथा अलंकार-विवेचन भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। उपर्युक्त समग्र अध्ययन एवं कार्य का मूल्यांकन करते हुए **डा० मनमोहन गौतम** लिखते हैं—"भारतवर्ष में सबसे पहले भाषाविज्ञान सम्बन्धी शोध-कार्य पर्याप्त मात्रा में हुआ था। रूप, वाक्य, ध्वनि तथा अर्थ की दृष्टि से भाषाविज्ञान के विभिन्न अंगों पर विवेचन हुआ था। लोकभाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन का सूत्रपात भी हो चुका था। इतना अवश्य है कि सारी सामग्री बिखरी हुई है। कुछ भी हो यह तो निर्विवाद है कि भाषाविज्ञान के इतिहास की दृष्टि से भारत का स्थान सर्वप्रथम है।"[1]

आधुनिक कार्य—भाषाविज्ञान के अध्ययन की मुख्य प्रक्रिया तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक है। अतः पश्चिम के विद्वानों ने भारतीय भाषाओं का वैज्ञानिक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है। **बिशप कालवेल** (१८१४-१८९१ ई०) ने द्रविड़ भाषाओं का अध्ययन 'द्रविड़ भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' (Comparative Grammar of Dravedian Language) नामक रचना सन् १८५६ में प्रकाशित की है। **जान बीम्स** (सन् १८५५-१८७८) ने 'भारतीय आर्य-भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' नामक प्रसिद्ध पुस्तक को तीन भागों में क्रमशः सन् १८७२, १८७५ तथा १८७९ ई० में प्रकाशित किया है। इनमें ध्वनि, संज्ञा, सर्वनाम तथा क्रियाओं पर विचार किया गया है। इस ग्रन्थ में भारतीय आर्य-भाषाओं—सिन्धी, पंजाबी, हिन्दी, गुजराती, मराठी, बँगला, उड़िया आदि का तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक अध्ययन किया गया है। **डी० ट्रम्प** (१८७२-१८७३) ने सिन्धी, संस्कृत, प्राकृत, पश्तो के व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन किया है। **एस० एच० केलाग** नामक पादरी ने १८७६ ई० में 'हिन्दी-भाषा का व्याकरण' नामक पुस्तक प्रकाशित करायी। इसमें खड़ी बोली, ब्रज, अवधी, राजस्थानी और बिहारी का अध्ययन किया गया है। **डा० रुडाल्फहार्नली** (१८४१-१९१८) ने भोजपुरी का अध्ययन किया है और 'पूर्वी हिन्दी का तुलनात्मक व्याकरण' (Grammar of Eastern Hindi Compared with Gaudian Language) नामक रचना प्रकाशित की है। **सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन** (१८८३-१९२७) ने बिहारी भाषा का अध्ययन किया। इन्होंने 'बिहारी भाषाओं के सात व्याकरण'

---

1. **सरल भाषाविज्ञान, पृ० ३२।**

प्रकाशित किये हैं। इसके अतिरिक्त इनकी प्रसिद्धि का मुख्य कारण 'भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण' (Linguistic Survey of India) नामक रचना है। यह रचना सत्तरह भागों में विभक्त है। इसमें समग्र भारतीय भाषाओं तथा बोलियों के व्याकरण का सोदाहरण अध्ययन किया गया है। **रेल्फ लिले टर्नर** १९३१ ने 'नैपाली कोश' नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया। इसमें नैपाली शब्दों की व्युत्पत्ति के साथ भारतीय आर्य-भाषाओं के मुख्य शब्दों के साथ तुलना की गई है। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में **डा० धीरेन्द्र वर्मा** ने कहा है—"यह भारतीय आर्य-भाषाओं का प्रथम वैज्ञानिक नैरुक्तिक कोष है।" जूलब्लाख ने 'मराठी की बनावट' नामक पुस्तक फ्रेंच भाषा में लिखी है। इनकी एक दूसरी कृति 'भारतीय आर्यभाषाएँ' भी हैं।

आधुनिक भारतीय विद्वानों का कार्य

पाश्चात्य विद्वानों के अतिरिक्त अनेक भारतीय विद्वानों ने भी भाषाविज्ञान के विषय में कार्य किया है। **डा० सर रामकृष्णगोपाल भण्डारकर** (१८७७) भारतीय इतिहास तथा पुरातत्त्व के विशेषज्ञ थे। इन्होंने प्राचीन भारतीय भाषाविज्ञान के अध्ययन के अतिरिक्त नवीन यूरोपीय भाषाविज्ञान का भी अध्ययन किया था। इनकी रचना 'विलसन व्याख्यानमाला' (Wilson Philological Lectures) के नाम से प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक में भाषा का विकास तथा संस्कृत के विकास-क्रम पर विचार करते हुए प्राकृत, अपभ्रंश तथा उत्तर भारतीय आधुनिक भाषाओं की ध्वनि आदि पर विचार किया गया है। इनके अतिरिक्त संस्कृत भाषा से सम्बद्ध कार्य करने वालों में यास्क के निरुक्त पर डा० लक्ष्मणस्वरूप, वेदों से सम्बन्धित **विश्वबन्धु आचार्य** तथा आर० एन० डाडेकर ने कार्य किया है। **डा० सिद्धेश्वर वर्मा** ने संस्कृत एवं दर्द भाषा पर कार्य किया है। **ई० डी० कुलकर्णी० डा० सुकमारसेन** से अतिरिक्त **डा० कपिल देव** ने 'अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन' नामक पुस्तकें लिखी हैं। इसके अतिरिक्त 'संस्कृत में अर्थविचार' तथा 'संस्कृत-व्याकरण के दर्शन' पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं पर कार्य करने वालों में विधुशेखर भट्टाचार्य, भिक्षु जगदीश काश्यप (पालि), मनमोहन घोष (प्राकृत), हीरालाल जैन तथा प्रबोधचन्द्र बागची (अपभ्रंश), डा० सुनीतकुमार चटर्जी (बँगला), विनायक मिश्र (उड़िया), बानीकान्त काताती (आसामी), के० पी० कुलकर्णी (मराठी), नरसिंहराव भोलानाथ (गुजराती), नीलकंठ शास्त्री (तमिल), रामस्वामी अय्यर (मलयालय), बनारसीदास जैन (पंजाबी) आदि ने भी कार्य किया है। **डा० पी० डी० गुणे** (हिन्दी, संस्कृत, मराठी) आदि ने भी कार्य किया है। हिन्दी भाषाविज्ञान के क्षेत्र में इन विद्वानों को रचनाएँ उपलब्ध होती हैं—**डा० श्यामसुन्दरदास, डा० मंगलदेव, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० बाबूराम सक्सेना, रामाज्ञा द्विवेदी, (अवधी), उदयनारायण तिवारी (भोजपुरी); सुभद्र झा (मैथिली), वाचस्पति उपाध्याय**

(बनारसी बोली), कामताप्रसाद गुरु (हिन्दी व्याकरण), दुनीचन्द (हिन्दी-पंजाबी), डा० हरदेव बाहरी (हिन्दी अर्थविचार), हरीशंकर जोशी (कुमायुनी), डा० मोतीलाल मेनारिया (राजस्थानी), किशोरीदास बाजपेयी 'भारतीय भाषाविज्ञान,' प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा 'भाषाविज्ञान की भूमिका,' डा० भोलानाथ तिवारी, आचार्य नरेन्द्रनाथ, मनमोहन गौतम आदि। निष्कर्ष यह है कि भाषाविज्ञान मात्र आधुनिक युग की देन नहीं है, इसके पीछे शताब्दियों का भाषा-विषयक अध्ययन अपने इतिहास की कहानी प्रस्तुत करता है। वैदिक काल से लेकर आज तक भारत में निरन्तर इस विषय पर कार्य हो रहा है और होता रहेगा। आज के इस वैज्ञानिक युग में इसके विकास की सम्भावनाएँ अधिक हैं।

यूरोप में भाषाविज्ञान-विषयक कार्य

भारत के समान ही यूरोप में भी प्राचीन काल से भाषाविज्ञान सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हैं। यद्यपि अर्वाचीन यूरोप में जो भाषाविज्ञान का कार्य हुआ है वह अधिक महत्त्वपूर्ण है, तथापि प्राचीन यूरोप के भाषाविदों का यह कार्य आधुनिक भाषाविज्ञान के विकास का मूलाधार उसी प्रकार से है, जिस प्रकार प्राचीन भारत के वैयाकरणों का कार्य। यूरोप में भाषाविज्ञान के विकास को अध्ययन की सुविधा के लिए प्राचीन (१८०० ई० पूर्व) तथा अर्वाचीन (१८०१ ई० के बाद)—दो रूपों में विभक्त कर लेना चाहिए।

सुकरात (४६९ ई० पूर्व से ३९९ ई० पूर्व)—यूरोपीय भाषाविज्ञान के इतिहास में महर्षि सुकरात का नाम महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि सुकरात से भी पूर्व अंटिस्थनिट, हीराक्लीरस तथा पाईथागोरस जैसे व्यक्तियों के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं, किन्तु उनके भाषाविज्ञान के सम्बन्ध में प्रामाणिक ग्रन्थ, प्रामाणिक कथन आदि के अभाव में सुकरात को ही प्राचीनतम व्यक्ति स्वीकार किया गया है। सुकरात ने 'शब्द और 'अर्थ' के सम्बन्ध में विचार करते हुए बतलाया है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक न होकर कल्पित है। इसलिए विभिन भाषाओं में एक ही शब्द के लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग होता है तथा एक ही शब्द विभिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न अर्थों का परिचायक है; उदाहरण के लिए—हिन्दी में 'फूल' का अर्थ 'पुष्प' तथा अंग्रेजी में 'फूल' शब्द का अर्थ मूर्ख होता है। यद्यपि सुकरात ने शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं माना है, तथापि वे शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को असम्भव नहीं मानते हैं।

प्लेटो (४२९ ई० पूर्व से ३४७ ई० पूर्व)—प्लेटो सुकरात के शिष्य थे। प्लेटो ने अपने गुरु के शब्दार्थ-विषयक विचारों का समर्थन करते हुए ग्रीक ध्वनियों का वर्गीकरण भी किया है। घोष और अघोष ध्वनियों के भेद को प्रस्तुत किया। विचार और भाषा की पृथक् सत्ता घोषित की। सुकरात ने जो शब्द और अर्थ का संकेत प्रस्तुत किया था, उसे प्लेटो ने विचार और भाषा के रूप में रूपान्तरित कर

वाक्य-विश्लेषण, शब्द-भेद, ध्वनि और व्युत्पत्ति आदि पर कार्य कर भाषाविज्ञान की आधारशिला प्रस्तुत की।

अरस्तू (३८५ ई० पू० से ३२२ ई० पू०)—अरस्तू ने प्लेटो के कार्य का अधिक विकास किया। प्लेटो ने अपने ग्रन्थ 'पोयटिक्स' में आनुषङ्गिक रूप में भाषा-विज्ञान-विषयक इन तथ्यों पर विचार किया है—वर्ण की अविभाज्यता, ध्वनि के स्वर, अन्तस्थ और स्पर्श नामक, तीन भेद; ह्रस्व,दीर्घ तथा अल्पप्राण का भी विभाजन किया है, मात्राओं तथा शब्द पर भी विचार किया है। अरस्तू ने शब्द के साधारण और दुहरे, निरर्थक और सार्थक नामक भेदों का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त व्याकरण सम्बन्धी लिङ्ग एवं कारक, संज्ञा, क्रिया और काल पर भी विचार किया है।

स्टोइक (Stoics)—स्टोइक वर्ग के विद्वानों ने शब्द पर विस्तार से विचार किया। इसके अतिरिक्त ग्रीक-व्याकरण एवं अर्थविज्ञान के विषय में कार्य करते हुए भाषाविज्ञान के लिए सामग्री प्रस्तुत की।

डियोनीसिअस थ्रेक्स—इन्होंने ईसा से दो शताब्दी पूर्व ग्रीक भाषा के व्याकरण को सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया। इन्हीं ने पुरुष, काल, लिङ्ग, वचन और कर्ता, क्रिया पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

ग्रीक एवं रोम के सम्पर्क की अभिवृद्धि के साथ ही भाषाविज्ञान ने युगान्त-कारी चरण उठाये। इस सम्पर्क के कारण रोम की भाषा लेटिन, ईसाई धर्मग्रन्थ 'ओल्ड-टेस्टामेन्ट' की भाषा हिब्रू तथा ग्रीक भाषा का पारस्परिक नैकट्य तुलनात्मक अध्ययन का कारण बना। परिणामस्वरूप भाषा की उत्पत्ति, ध्वनिसाम्य और अर्थसाम्य के आधार पर शब्दों की व्युत्पत्ति आदि पर कार्य किया गया। यद्यपि अभी तक वैज्ञानिक दृष्टि का अभाव था, अनुमान के आधार पर ही अध्ययन हो रहा था, तथापि तुलनात्मक प्रवृत्ति एवं व्युत्पत्तिशास्त्र का उदय इसी ग्रीक एवं रोम के सम्बन्ध का ही परिणाम था। इन विद्वानों के अतिरिक्त अठारहवीं शताब्दी से पूर्व यूरोप में भाषाविज्ञान के लिए इन व्यक्तियों का कार्य भी महत्त्वपूर्ण है—रूस के राजा पीटर महान् का शब्दों का संग्रह, रानी कैथरिन द्वितीय ने भी इस दिशा में पर्याप्त योग दिया है। भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में रूसो (Rousseau), कैंडिलैक (Candlliac) और हर्डर (Harder) आदि के विचारों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। फ्रांसीसी पादरी कोर्डो १७६४ ई० (Coeurdoux) ने अपने एक लेख में संस्कृत के कुछ शब्दों से ग्रीक, लैटिन, फ्रेंच के शब्दों से तुलना कर पाश्चात्य विद्वानों को इस दिशा में अध्ययन के लिए आकृष्ट किया। जर्मनी विद्वान डा० जेनिश १७९६ ई० (Dr. Jeniseh) ने भाषा-सम्बन्धी निबन्ध लिखे। जेनिश ने भाषा का वैभव (Richness), उसकी प्रभावात्मकता (Energy of Emphasis), स्पष्टता (Clearness) एवं माधुर्य (Emphony) के आधार पर भाषा का विवेचन किया।

सर विलियम जोन्स (१७९६) ने रॉयल एशियाटिक सोसाइटी (Royal Asiatic Society) की स्थापना कर संस्कृत के प्रचार के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

उपर्युक्त विवेचन का सार यह है कि १८०० ई० तक यूरोप में भाषा के वैज्ञानिक एवं तुलनात्मक अध्ययन की रुचि जाग्रत हो चुकी थी। इसी जाग्रत रुचि का परिणाम आज का भाषाविज्ञान है।

अर्वाचीन अध्ययन---उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ। इस शताब्दी में भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन का क्षेत्र विस्तृत हुआ, अधिक-से-अधिक भाषाओं; जिनमें प्राचीन भाषाएँ, जीवित बोलियाँ, असभ्यों एवं बच्चों की भाषा भी थीं; का भी तुलनात्मक अध्ययन किया जाने लगा। अधीत भाषाओं का सर्वाङ्गपूर्ण सूक्ष्म, व्यापक एवं गूढ़ विवेचन भी किया गया। भाषाओं का वर्गीकरण, उनका ऐतिहासिक विकास आदि का अध्ययन भी इसी शताब्दी में व्यापक रूप में हुआ। इस शताब्दी में संस्कृत एक महत्त्वपूर्ण भाषा स्वीकार की गयी और विश्व की भाषाओं के साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन भी हुआ।

इस शताब्दी में भाषाविज्ञान के सम्बन्ध में कार्य करने वाले व्यक्तियों में **फ्रेड्रिक वॉन श्लेगल** (Fredrie Von Schlegel) का नाम महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने संस्कृत भाषा के अध्ययन एवं प्रचार के अतिरिक्त 'भारतीय भाषा और उसका ज्ञान' (On the Language and the Wisdom of Indians) नामक ग्रन्थ (१७०८ ई०) भी लिखा था। इस ग्रन्थ में संस्कृत का यूरोपीय भाषाओं से तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इस ग्रन्थ में ग्रीक, लैटिन, जर्मन और संस्कृत के अनेक शब्दों का ध्वनि और अर्थ की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। भाषाओं का वर्गीकरण, भाषा की उत्पत्ति, ध्वनि नियम आदि पर भी इस ग्रन्थ में विचार किया गया है।

विल्हेम वॉन हमबोल्ट १७६७-१८३५ (Wilhelm Von Humboldt) ने भाषा का वैज्ञानिक एवं तुलनात्मक अध्ययन किया है। भाषाविज्ञान के क्षेत्र में भाषा का ऐतिहासिक अध्ययन करना चाहिए, बोलियाँ भी भाषा के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण हैं।[1] विश्व की भाषाओं के श्लिष्ट अश्लिष्ट और प्रश्लिष्ट तीन वर्गीकरण किये हैं। आकृतिमूलक वर्गीकरण हमबोल्ट महोदय स्वीकार नहीं करते हैं। भाषा की उत्पत्ति की खोज करना व्यर्थ है। भाषा एक नैरन्तर्य कार्य है[2] आदि इनके मत है।

जैज्मस रैस्क १७८७-१८३२ ई० (Gasmus Rask)—डेनमार्क निवासी

---

1. "Each separate language even the most despised dilect should be looked upon as an organic whole."
2. "Language is a continued activity."

रैस्क ने आइसलैण्ड की भाषा का अध्ययन कर १८११ में आइसलैण्ड का व्याकरण (Icelandic Grmmar) तथा आइसलैण्ड की भाषा की उत्पत्ति (The Origin of Old Narse Language) पर प्रबन्ध प्रस्तुत किया। रैस्क ने भारत में आकर द्रविड़ परिवार की भाषाओं का भी अध्ययन किया।

जैकब ग्रिम १७७५-१८६३ ई० (Jacob Grimm)—ग्रिम महोदय का सम्पूर्ण जीवन भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन में ही व्यतीत हुआ। वह लगनशील व्यक्ति थे, इन्होंने अपने कार्य का समारम्भ व्युत्पत्तिशास्त्र (Etymology) से किया था, लेकिन श्लेगल तथा रैस्क से प्रभावित होकर सगोत्रीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन में प्रवृत्त हुए। परिणामतः १८१९ में जर्मन भाषा का व्याकरण (Deutsche Grammatic) प्रकाशित हुआ। ग्रिम का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य वर्ण-परिवर्तन-प्रकरण है। इसी के आधार पर निर्मित उनके ध्वनि-नियम भाषाविज्ञान को मत्त्वपूर्ण देन हैं और आज वे इसी के कारण विशेष विख्यात हैं। ध्वनि-नियम के अतिरिक्त ग्रिम महोदय ने वाक्य-विज्ञान (Syntax) पर भी मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

फ्रांत्स बॉप—बॉप का भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में तुलनात्मक कार्य है। इन्होंने संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता और जर्मन का तुलनात्मक अध्ययन किया। बॉप महोदय तुलनात्मक भाषाविज्ञान के जनक (Father of Comparative Philology) कहलाते हैं। बॉप की प्रथम पुस्तक धातुप्रक्रिया पर १८१६ में प्रकाशित हुई। इसके अतिरिक्त उन्होंने तुलनात्मक व्याकरण पर भी कार्य किया है, जिसमें संस्कृत ग्रीक, लैटिन, जेन्द, आर्जीनियन, लिथुआनियन, प्राचीन स्लावियन गाथिका तथा जर्मन भाषाओं को भी समाविष्ट किया गया है। बॉप की व्याकरण के अतिरिक्त स्वराघात के सम्बन्ध में भी महत्त्वपूर्ण देन है।

आगस्टन एफ० पॉट (१८०२-१८८७ ई०)—पॉट ने व्युत्पत्तिशास्त्र (Etymology) का वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन करने को प्रेरणा दी। पॉट ने व्याकरण का संशोधन करने के अरिरिक्त तुलनात्मक ध्वनियों की सारणियाँ (Tables) भी प्रस्तुत की हैं।

के० एम० रैप (K. M. Rapp)—ग्रिम के पश्चात् ध्वनिविज्ञान पर कार्य करने वालों में रैप अधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हैं। रैप महोदय ने ध्वनि और लिपि में शुद्ध सम्बन्ध-स्थापन के लिए ध्वन्यात्मक अनुलिपि (Phonetic Transcription) का भी निर्माण किया है। किन्तु ग्रिम महोदय का अनेक विषयों पर विरोध करने के कारण रैप महोदय को लोकप्रियता प्राप्त नहीं हुई।

जे० एच० ब्रैडस्डार्फ—ब्रैडस्डार्फ महोदय ने ध्वनिशास्त्र का विशेष अध्ययन किया। इनका एक ग्रन्थ १८२६ में ध्वनि पर प्रकाशित हुआ था, जिसमें विस्तार से ध्वनि-परिवर्तन के कारणों का विवेचन किया गया था।

ऑगस्ट स्लाइखर १८२१-१८६८ ई० (August Schliecher)—अपने युग के विशिष्ट भाषाविज्ञानी के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त हैं। स्लाइखर ने साहित्यिक व जन-भाषाओं का विशेष अध्ययन किया। भाषाओं को इन्होंने अयोगात्मक, अश्लिष्ट योगात्मक और श्लिष्ट योगात्मक माना है तथा यूरोपीय भाषाओं के पुनर्निर्माण का कार्य किया है। ये स्लावोनिक तथा लिथुआनियन भाषा के विशेषज्ञ थे।

मैक्समूलर १८२३-१९०० ई० (Max Muller)—मैक्समूलर ने अपने व्याख्यानों में भाषाविज्ञान सम्बन्धी कार्यों का पर्यालोचन किया है। मैक्समूलर ने भाषा की उत्पत्ति, उसकी प्रकृति, उसका विकास, विकास के कारण तथा वर्गीकरण आदि पर भाषाविज्ञान के मूल्यवान सिद्धान्तों को एकत्र कर १८६१ में पुस्तकाकार प्रकाशित किया था। मैक्समूलर ने इन भाषणों के संकलन के अतिरिक्त अर्थ-विज्ञान पर भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इन्होंने भाषाविज्ञान के माध्यम से वैदिक संस्कृत के उद्भावक आर्यों के मूलस्थान की खोज की। प्रागैतिहासिक खोज सम्बन्धी उनका यह कार्य महत्त्वपूर्ण है।

विलियम ह्विटनी—विलियम ह्विटनी प्रथम अमरीकन भाषाविज्ञानी थे। भाषाविज्ञान के विषय में इनके महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'भाषा और भाषा का अध्ययन', १८६७; 'भाषा का जीवन और विकास', १८७५ तथा 'संस्कृत भाषा का व्याकरण', १८७९ हैं। भाषाविज्ञान के क्षेत्र में इनके महत्त्वपूर्ण कार्य को देखकर इनकी नियुक्ति 'न्यू हेवन' के एक कालेज में भाषाविज्ञान के विद्वान के रूप में हुई थी। ह्विटनी और मैक्समूलर की सदा प्रतिद्वन्द्विता चलती थी। परिणामस्वरूप, परस्पर एक दूसरे की आलोचना करते रहते थे। ह्विटनी ने मैक्समूलर के आक्षेपों का उत्तर 'मैक्समूलर और भाषाविज्ञान' के नाम से दिया है।

ह्विटनी तक आते-आते भाषाविज्ञान के क्षेत्र में अनेक उपलब्धियाँ हुई थीं। इनका अधिक विकास उन्नीसवीं शताब्दी के तृतीय चरण में हुआ है। तृतीय चरण में तथा उसके पश्चात् भाषाविज्ञान का कार्य अत्यधिक व्यापक रूप में हुआ। अनेक विद्वानों ने विभिन्न क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। उन सबका उल्लेख करना यहाँ दुष्कर कार्य है, अतः विषयानुसार कुछ विद्वानों के नाम देकर ही हम सन्तोष करेंगे।

(१) **भाषाविज्ञान सामान्य सिद्धान्तों** पर विचार करने वालों में—जैस्पर्सन स्वीट, मिलेट हेरिस, स्पेर, ब्लूमफील्ड, आदि हैं।

(२) **अर्थविज्ञान** पर कार्य करने वालों में बील, टकर, ओर्टल, रिचर्ड्स, बाल· पोल आदि हैं।

(३) **ध्वनिविज्ञान**—प्रयोगात्मक ध्वनिशास्त्र, ध्वनिग्राम तथा ध्वनि-शिक्षा पर स्वीट, ग्राहमबेली, हेकमन, रसैल, पाइक, रोजापेल्ली (कायमोग्राफ), कीट्स (कृत्रिम तालु), ब्राउने (लरिंगोस्कोप) आदि ने महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं।

(४) **रूपविज्ञान** पर ब्लूम, बर्नटराबर्ट तथा स्लोकम आदि ने कार्य किये हैं।

(५) वाक्यविज्ञान पर ब्रुगमैन, लॉगे, जोजेफ, हर्मनपाल आदि ने कार्य किये हैं।

संक्षेप में, यूरोपीय भाषाविज्ञान के क्षेत्र में जो कार्य सुकरात ने प्रारम्भ किया था, उसका व्यापक विस्तार वस्तुतः एक विज्ञान के रूप में हुआ है। आज इसके विषय में अध्ययन-कार्य हो रहा है। भविष्य में इस विज्ञान के और अधिक विकास की सम्भावना है, क्योंकि अनेक वैज्ञानिक यन्त्रों का आविष्कार हो चुका है, जिनकी सहायता से भविष्य में और भी अधिक आशाप्रद परिणाम की प्रतीक्षा है।

प्रश्नावली

१. भारत में भाषा-सम्बन्धी अनुसन्धान का क्रमिक विकास और उसका महत्त्व दिखलाइए।

२. भाषाविज्ञान की उत्पत्ति तथा विकास में भारत का क्या कार्य रहा है? वर्तमान शताब्दी में इस विषय में भारतीय विद्वानों ने क्या कार्य किया है?

३. भाषाविज्ञान के क्षेत्र में प्रारम्भ से अब तक जो कार्य हुआ है, उसका संक्षेप में उल्लेख कीजिए। इस सम्बन्ध में बीसवीं सदी में तीन प्रमुख भारतीय विद्वानों द्वारा किये गए महत्त्वपूर्ण कार्य का उल्लेख कीजिए।

४. "भाषाविज्ञान पश्चिम की उपज है।" इस कथन का स्पष्टीकरण करते हुए भारत में भाषाविज्ञान के इतिहास पर दृष्टिपात कीजिए।

५. भाषाविज्ञान के क्रमिक विकास में क्या कार्य हुए हैं? संक्षेप में लिखिए।

६. 'संस्कृत वैयाकरणों की भाषाविज्ञान को देन' पर समीक्षात्मक टिप्पणी लिखिए। (आ० वि० १९६९)

७. संस्कृत वैयाकरणों के भाषा के विज्ञान में योगदान पर टिप्पणी लिखिए। (आ० १९६५)

तृतीय अध्याय

भाषा

- भाषा की परिभाषा
- भाषा के विविध रूप
- भाषा की प्रकृति
- भाषा-परिवर्तन
- भाषा के उत्पत्ति-विषयक सिद्धान्त
- प्रश्नावली

भाषा

भाषा की परिभाषा

भाषा मानव-जीवन के लिए अनिवार्य उपकरण है; उसके अभाव में मानव जीवन के विकास की प्रक्रिया अपूर्ण है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि भाषा समाज-सापेक्ष वस्तु है, अतः मानव-जीवन से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। वक्ता जब अपने भावों को किसी अन्य व्यक्ति तक पहुँचाना चाहता है, उस समय वह भाषा नामक साधन का ही सहारा लेता है। विचारों और भावों को दूसरे व्यक्ति तक पहुँचाने के लिए भाषा के अतिरिक्त अन्य अनेक साधन भी हो सकते हैं। बच्चा भी अपने भावों को अपनी माँ से व्यक्त करता है, गूँगा भी पानी पीने के लिए हाथ को मोड़कर पानी माँगता है। गार्ड भी अपनी हरी झंडी दिखा कर अपने विचार व्यक्त करता है। स्काउट भी झंडियों का सहारा लेता है। पशु-पक्षी भी अपने विचारों को व्यक्त करते हैं। किन्तु "भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के लिये तो भाषा का और भी संकुचित अर्थ लिया जाता है। एक तो अन्य प्राणियों को छोड़कर हम अपना ध्येय मनुष्य की भाषा तक सीमित रखते हैं, दूसरे मनुष्य द्वारा प्रयुक्त अन्य अवयवों को त्याग कर केवल वाणी को ही अवलम्बन मानते हैं। बच्चे अथवा भिखारी की मूक भाषा का अथवा गूँगे की इंगित भाषा का यहाँ कोई स्थान नहीं है। इसके अतिरिक्त वाणी द्वारा व्यक्त सभी ध्वनियों का भी इस वैज्ञानिक अध्ययन में प्रयोजन नहीं। न हमें अट्टहास से काम, न रोदन से और न घोड़े को चलाने के लिए प्रेरित करने के ट् ट् ट् ट्....शब्द अथवा किसी की विपत्ति में सहानुभूति और करुणा-सूचक च् च् च् च्....शब्द से। हमें तो काम है वाणी द्वारा प्रयुक्त ऐसी ध्वनियों से जो अध्ययन द्वारा विश्लेषण में आ सकें और जिनके इधर-उधर के हेर-फेर से अन्य शब्द बन सकें। हमें प्रयोजन है ऐसी ध्वनियों से जिनके द्वारा एक मनुष्य अन्य

---

1. "वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्त्तते।
इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥"
—काव्यादर्श, १/३-४

मनुष्य पर अपने विचार प्रकट कर सके।"[1]हमें वे ध्वनियाँ अभिप्रेत हैं जो आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से युक्त हों।

विद्वानों ने भाषा की अनेक परिभाषाएँ की हैं। डा० पी० डी० गुणे कम्पैरेटिव फिलोलॉजी[2] नामक पुस्तक में Porze Zinski Boehme की भाषा की परिभाषा उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि इस प्रकार अपने व्यापकतम रूप में भाषा का अर्थ है, हमारे विचारों और मनोभावों को व्यक्त करने वाले ऐसे संकेतों का कुल योग जो देखे या सुने जा सकें और जो इच्छानुसार उत्पन्न किये एवं दुहराये जा सकें—

"Language in its widest sense means, therefore, the sum-total of such signs of our thoughts and feelings as are capable of external perception and as could be produced and repeated at will."

व्यापक अर्थ में हमारे विचार एवं भावनाओं की अभिव्यक्ति का साधन-तत्त्व भाषा है, जिसकी हमारी इच्छानुसार पुनरावृत्ति भी की जा सके। इसी प्रकार ए० ए० कार्डीनर[3] ने भी भाषा की परिभाषा करते हुए लिखा है कि विचाराभिव्यक्ति के लिए व्यक्त ध्वनि-संकेत ही भाषा है—

"The common definition of speech as the use of articulate sound symbols for the expression of thought."

इसी प्रकार एक अन्य विद्वान् ने भाषा की परिभाषा करते हुए भाषा को व्यक्त ध्वनि-संकेतों द्वारा मानव-विचारों की अभिव्यक्ति कहा है—

"Language is expression of human thoughts by means of speech, sounds or articulate sounds"

डिक्शनरी ऑफ लिंग्विस्टिक में मोरियो एपाई तथा 'फ्रैंक ग्यानोर' भाषा की परिभाषा इस प्रकार करते हैं—

"A system of communication by sound, i. e. through the organs of speech and hearing, among human being of a certain group or communlty, using vocal symbols poessing arbitrary conventional meanings."

अर्थात् भाषा उन सार्थक और विश्लेषण-समर्थ मानवोच्चारित ध्वनियों को कहते हैं जिनका प्रयोग मानव, विचारों और भावों को व्यक्त करने के लिए करता है।

---

1. सामान्य भाषाविज्ञान—बाबूराम सक्सेना, पृ० २।
2. Comparative Philology, p. 4.
3. A. A. Cardinor's Speech and Language.

भारतीय विद्वानों ने भी भाषा की परिभाषाएँ की हैं। संस्कृत में 'भाषणार्द्दाहिभाषा' यह सुप्रसिद्ध है, किन्तु आज के इस वैज्ञानिक युग में इस परिभाषा की व्याख्या की अपेक्षा है। डा० मंगलदेव तुलनात्मक भाषाशास्त्र[1] में भाषा की परिभाषा इस प्रकार करते हैं : "भाषा मनुष्यों की उस चेष्टा या व्यापार को कहते हैं, जिससे मनुष्य अपने उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों से उच्चारण किये गए वर्णनात्मक या व्यक्त शब्दों के द्वारा अपने विचारों को प्रकट करते हैं।"

डा० श्यामसुन्दरदास 'भाषारहस्य'[2] में भाषा की परिभाषा इस प्रकार लिखते हैं :

"मनुष्य-मनुष्य के बीच वस्तुओं के विषय में अपनी इच्छा और मति का आदान-प्रदान करने के लिए व्यक्त ध्वनि-संकेतों का जो व्यवहार होता है, उसे भाषा कहते हैं।"

डा० बाबूराम सक्सेना 'सामान्य भाषाविज्ञान' में भाषा की परिभाषा इस प्रकार लिखते हैं[3] : "जिन ध्वनि-चिह्नों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय करता है, उसे भाषा कहते हैं।"

भोलानाथ तिवारी[4] की परिभाषा इस प्रकार है—"भाषा निश्चित प्रयत्न के फलस्वरूप मनुष्य के मुख से निःसृत वह सार्थक ध्वनि-समष्टि है जिसका विश्लेषण और अध्ययन हो सके।" निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि भाषा मानव-जीवन के विकास के लिए एक अनिवार्य तत्त्व है। भाषा मानव-विचारों की अभिव्यक्ति की साधिका है, यद्यपि विचाराभिव्यक्ति के अन्य अनेक साधन भी हैं; जैसे—क्रियाओं द्वारा भावाभिव्यक्ति अथवा अर्थ-प्रकाश, बाह्य ध्वनियों द्वारा अर्थव्यंजना, संकेतों द्वारा भाव-प्रकाशन, प्रतीकों द्वारा भावव्यंजना, अनुकरण द्वारा भावाभिव्यक्ति। किन्तु "भावाभिव्यक्ति के लिए भाषा के अतिरिक्त अन्यान्य साधन अपूर्ण, अनिश्चित, भ्रामक, संशयोत्पादक तथा असमर्थ रहते हैं। जीवन की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों अथवा विचारों का स्पष्टीकरण अन्य साधनों द्वारा नहीं हो सकता।"[5] अतः भाषा का महत्त्व अवर्णनीय है। किन्तु भाषा वही है, जिसमें आकांक्षाऽऽसत्ति और सन्निधि के गुण विद्यमान हों।

भाषा के उपर्युक्त विवेचन में हमने भाषा के दो रूप देखे हैं। पहला स्थूल जिसमें वर्णनात्मक ध्वनि का प्रयोग होता है। इसका आधार भौतिक है। दूसरा

1. भाषाशास्त्र, पृ० १७
2. भाषारहस्य, पृ० ४४।
3. सामान्य भाषाविज्ञान, पृ० ५।
4. भाषाविज्ञान, पृ० २।
5. अभिनव भाषाविज्ञान—आचार्य नरेन्द्रनाथ, पृ० १६।

रूप वह है जिसमें सूक्ष्म विचार होते हैं। इसका आधार मानसिक है।[1] भाषा के प्रथम आधार के कारण भाषा के रूपात्मक अंग का निर्माण होता है तथा द्वितीय आधार के कारण भाषाविज्ञान में अर्थविज्ञान (Semantics) का उदय होता है। भाषा को उच्चारण-अवयवों की शारीरिक चेष्टामात्र मानना ही पर्याप्त नहीं है, वरन् साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भाषा एक मानसिक क्रिया भी है; क्योंकि जब हम 'आम' या 'लाल' बोलते हैं तो यह केवल उच्चारण-अवयवों का ही कार्य नहीं है। हमने केवल कुछ ध्वनियाँ ही उत्पन्न नहीं की हैं, बल्कि 'आम' शब्द के उच्चारण से पूर्व विचार-सामग्री को मूल तत्वों में खंडित करने और उनके संकेताक्षर निश्चित करने की विस्तृत मानसिक प्रक्रिया भी घटित हुई है। 'आम' शब्द से विभिन्न नैतिक, स्पर्शज्ञेय तथा अन्य इन्द्रियानुभूतियाँ संयुक्त होकर एक इकाई बन जाती हैं और 'लाल' शब्द से विशिष्ट रंग, आकार एवं आकृति के पदार्थ द्वारा उत्पन्न मिश्र इन्द्रियानुभूति का तत्त्व, शब्द, प्रतीक 'लाल' से सम्बद्ध होने के कारण खंडित हो जाता है, और पृथक् सत्ता ग्रहण कर लेता है। वांछित प्रभाव उत्पन्न करने के लिए विचार-सामग्री का यह विन्यास और प्रकटन उच्चरित ध्वनि से अनिवार्यतः सम्पृक्त होना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा में भौतिक और मानसिक तत्त्व साथ-साथ चलते हैं।"

भाषा के विविध रूप

भाषा की परिभाषा करते समय हम भाषा के स्वरूप को स्पष्ट कर चुके हैं। भाषा मनुष्य की वह चेष्टा है जिसके द्वारा वह अपने भाव और विचार व्यक्त करता है, "भाषा मनुष्य की उस चेष्टा या व्यापार को कहते हैं, जिससे मनुष्य अपने उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों से उच्चारण किये गए वर्णात्मक या व्यक्त शब्दों के द्वारा अपने विचारों को प्रकट करते हैं।" भाषा के संकुचित और व्यापक अर्थ नामक भेद भी विद्वानों ने किये हैं। "भाषा शब्द का प्रयोग कभी व्यापक अर्थ में होता है और कभी संकुचित अर्थ में।" भाषा का सामान्य अर्थ के अतिरिक्त विभिन्न रूपों में भी प्रयोग होता है; जैसे—(१) सामान्य भाषा, (२) बोली, (३) विभाषा, (४) भाषा, (५) राष्ट्रभाषा, (६) राजभाषा, (७) साहित्यिक भाषा, (८) कृत्रिम भाषा आदि।

सामान्य भाषा—मानव के विचारों की अभिव्यक्ति का साधन भाषा है, भाषा की परिभाषा प्रायः इसी अर्थ में होती है। इस भाषा के अन्तर्गत किसी जाति

---

1. "The conception of language therefore is based on the one hand, upon articulate sounds and on the other, upon our thoughts and feelings. Thus our speech has a physical and a psychic aspect."
—**Comparative, Philology, p. 4.**

देश या प्रान्त की भाषा भी समाविष्ट होती है। इसी के अन्तर्गत हम हिन्दी, हिन्दुस्तानी, फारसी, चीनी, अंग्रेजी आदि भाषाओं को भाषा कहते हैं।

बोली (Patois)—बोली को उपभाषा भी कहते हैं। गृह, ग्राम व समाज में बोली जाने वाली स्थानीय भाषा बोली कहलाती है। "भाषा के स्थानीय और प्रान्तीय भेदों के अतिरिक्त ऐसे भेद भी होते हैं जो एक ही स्थान पर रहने पर भी मनुष्यों के भिन्न-भिन्न समूहों या वर्गों में पाये जाते हैं। उनके लिये भी भाषा शब्द का प्रयोग होता है।" एक ही स्थान पर रहने वाले अनेक वर्गों में कुछ अपनी जातिगत और वर्गगत विशेषताएँ होती हैं। एक ही शहर में रहने वाले ब्राह्मणों, कायस्थों, मुसलमानों, भंगियों और चमारों में अपनी ही एक बोली होती है। इसमें साहित्य नाममात्र को भी नहीं होता है। इनमें पाये जाने वाले लोकगीत और लोककथाएँ मौखिक रूप से कर्ण-परम्परा द्वारा समाज में प्रयोग में आती रहती हैं। किन्तु एक बात यहाँ ध्यान देने योग्य यह है कि एक बोली बोलने वाला वर्ग दूसरी बोली बोलने वाले वर्ग की बात को समझ लेता है। इस प्रकार बोली से हमारा आशय एक निश्चित सीमा के अन्तर्गत बोली जाने वाली उस वाणी से है जिसमें उच्चारण-साम्यता तथा शैली-साम्यता हो—"The combination of thoughts and words is speech."

विभाषा (Dialect)—विभाषा का क्षेत्र बोली की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक होता है। विभाषा का रूप परिमार्जित, शिष्ट एवं साहित्य-सम्पन्न होता है। एक-एक विभाषा के अन्तर्गत अनेक बोलियाँ होती हैं जो कि उच्चारण, व्याकरण और शब्द-प्रयोगों की दृष्टि से भिन्न होने पर भी एक भाषा के अन्तर्गत स्वीकार कर ली जाती हैं। किन्तु विभाषा का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। इस विभाषागत विभिन्नता की उपेक्षा सम्भव नहीं है। बोलियाँ कभी-कभी समय पाकर विभाषा तथा साहित्यिक भाषा तक का पद प्राप्त कर लेती हैं। इनके महत्त्वपूर्ण बन जाने के अनेक कारण हो सकते हैं; यथा—

(१) विभिन्न बोलियों में उसकी भगिनी-सहयोगिनी बोलियाँ लुप्त हो जाएँ या विनष्ट हो जाएँ, उस दशा में वह विशिष्ट जीवित बोली भाषा का रूप धारण कर लेती है; उदाहरण के लिए—हम ब्राहुई, मुण्डा को ले सकते हैं। ये भाषाएँ इसी प्रकार भाषा के पद पर आसीन हुई हैं।

(२) साहित्य लिखा जाने तथा उसके लोकप्रिय होने पर भी बोलियाँ भाषा के पद को अलंकृत करती हैं। ब्रज बोली इसी कारण भाषा के पद पर आसीन हुई है। ब्रज बोली में साहित्य का सृजन अत्यधिक हुआ है। सूर-जैसे कवि को पाकर वह धन्य हो गयी है। आज वह एक साहित्य-सम्पन्न भाषा है।

(३) राज्याश्रय मिल जाने पर भी बोलियाँ भाषा के पद को प्राप्त कर लेती हैं। अवधी बोली राज्याश्रय को प्राप्त कर भाषा बनी थी। इसी प्रकार दिल्ली

सदा ही राजनीति का केन्द्र रही तथा राज्य-संचालन भी वहाँ से होता रहा, परिणामतः स्थानीय खड़ी बोली आज राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन हो गयी है। बोली के भाषा बनने का प्रधान कारण यही है, क्योंकि राजनीति-संचालन, न्याय-व्यवस्था, शासन के कार्यकलाप जिस बोली में सम्पादित होते हैं, वह भाषा के पद पर सहज ही प्रतिष्ठित हो जाती है।

(४) धार्मिक वैशिष्ट्य के कारण भी बोलियाँ महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं। अवधी और ब्रज बोलियाँ राम और कृष्ण की पावनचरित स्वरलहरी को संभृत कर जनमानस की कण्ठहार बनीं एवं भक्ति की अमर सम्पादिका बन भाषा पद को सुशोभित करने लगीं।

(५) बोलने वालों के प्रभावशाली होने पर भी बोलियाँ भाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो जाती हैं। अंग्रेजी एक सामान्य बोली थी। वह आज अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बनी हुई है। उसका एकमात्र कारण अंग्रेजी का महत्त्वपूर्ण होना है। एक व्यक्ति भी यदि प्रभावशाली होता है तो उस समय भी बोलियाँ भाषा का रूप प्राप्त कर लेती हैं; उदाहरणार्थ—बँगला रवीन्द्रनाथ टैगोर, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द आदि के कारण साहित्यसम्पन्न भाषा बनी और व्यापक रूप में व्यवहृत की जाने लगी।

भाषा (Standard Language)—"उपर्युक्त अर्थों के अतिरिक्त भाषा शब्द से आशय प्रायः किसी साहित्यिक भाषा या शिष्टभाषा का भी होता है....। साहित्यिक भाषा या शिष्टभाषा से आशय ऐसी भाषा से है जिसमें अच्छा-खासा साहित्य हो और जिसको मुख्यतया शिक्षित समुदाय या शिष्टवर्ग ही बोल सकता हो।" इसी भाषा के स्टैण्डर्ड भाषा, टकसाली भाषा अथवा आदर्श भाषा आदि नाम भी हैं। यदि कोई विभाषा कारण-विशेषवश महत्त्वपूर्ण बन जाती है और उसका महत्त्व अन्यान्य विभाषाएँ स्वीकार कर लेती हैं, तब वह विभाषा ही भाषा का रूप धारण कर लेती है। बोलियों में विशिष्ट बोलो विभाषा बनती है और विशिष्ट विभाषा भाषा के पद को अलंकृत करती है। "विभाषाओं का अपने क्षेत्र या प्रान्त पर ही जन्मसिद्ध अधिकार होता है पर भाषा राजनीतिक, साहित्यिक, सामाजिक या धार्मिक परिस्थिति का साहाय्य पाकर साम्राज्ञी बन जाती है। कभी-कभी वह विभाषाओं को कुचलने का प्रयास करती है और कभी उनसे उचित कर लेकर अपने कोष को बढ़ा लेती है। हिन्दी देश की ही बोली थी। उसने जब भाषा का पद पाया, उसने विभाषाओं से शब्द लेकर अपने कोष और व्यक्तीकरण को समृद्ध किया।"

भाषा का व्याकरण तथा उच्चारण आदि होते हुए भी विकास का अवसर बना रहता है। खड़ी बोली, बँगला, मराठी इसी प्रकार की भाषाएँ हैं, किन्तु इनमें स्थिरता होते हुए भी विकास के अवसर विद्यमान हैं। आशय यह है कि भाषा अपनी विभाषाओं पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाती, अपितु उन्हें, अपने रूप में ही विकसित होने का अवसर प्रदान करती है।

भाषा के दो रूप हो सकते हैं। एक पुस्तकों तक सीमित, जिसके वक्ता अल्पतम होते हैं; उदाहरण के लिए—संस्कृत और लैटिन आदि। दूसरा रूप वह है जिसमें भाषण-क्रिया के साथ लेखन-कार्य निरन्तर होता रहता है। हिन्दी, अंग्रेजी, जर्मन आदि इसी प्रकार की भाषाएँ हैं।

भाषा के दो अन्य रूप भी सम्भव हैं। एक **आदर्श** रूप जो लिखित रूप में ही प्राप्त होता है। किन्तु उसका मूल स्वरूप **मौखिक** रूप में अपने क्षेत्र-विशेष में सुरक्षित रहता है। हिन्दी का आदर्श-रूप पत्र-पत्रिकाओं तथा साहित्यिक कृतियों में व्यवहृत होता रहता है, दूसरा मौखिक रूप दिल्ली, मेरठ के आस-पास ग्रामीण बोलियों के रूप में सुरक्षित है।

भाषा के मूलतः यही तीन भेद मुख्य हैं, किन्तु भाषा के साथ अनेक विशेषण भी कभी-कभी जोड़ दिये जाते हैं। परिणामस्वरूप भाषा के अनेक स्वरूप प्रतीत होने लगते हैं; उदाहरण के लिए—साहित्यिक भाषा, सामान्य भाषा। साहित्यिक भाषा सर्वसामान्य की भाषा से भिन्न होती है। यह अपने सुसज्जित-लेखबद्ध साहित्य के कारण अधिक सुरक्षित रहती है।

साहित्यिक और सर्वसाधारण की भाषा के भेद के दो कारण हैं। **प्रथम कारण** साहित्यिक भाषा को सर्वसाधारण की भाषा से भिन्न करने वाली उसकी **कृत्रिमता** है। यदि सर्वसाधारण की भाषा एक अकृत्रिम नदी के समान है तो साहित्यिक भाषा एक कृत्रिम घाटों से सुसज्जित सरोवर से समान है। **दूसरा कारण भाषा की आपेक्षिक स्थिरता** है। सर्वसाधारण की भाषा निरन्तर परिवर्तनशील रहती है। वहाँ साहित्यिक भाषा साहित्य के प्रभाव से चिरकाल तक अपने स्वरूप को सुरक्षित बनाये रहती है। किन्तु भाषा-विज्ञानी के लिए साहित्यिक भाषा की अपेक्षा सर्वसाधारण की भाषा का अधिक महत्त्व होता है। भाषा और बोली का प्रमुख अन्तर निम्न तत्त्वों के आधार पर देखा जा सकता है—

(१) भाषा का क्षेत्र व्यापक होता है और बोली का सीमित। अतः एक भाषा के क्षेत्र में अनेक बोलियाँ होती हैं, किन्तु एक बोली के क्षेत्र में अनेक भाषाएँ नहीं हो सकतीं।

(२) दूसरा अन्तर यह है कि एक भाषा की विभिन्न बोलियों के बोलने वाले एक दूसरे की बोली को समझ लेते हैं। किन्तु भाषा के साथ यह बात नहीं है। आशय यह है कि एक भाषा की बोलियों में परस्पर बोध-गम्यता होती है, जबकि विभिन्न भाषाओं में नहीं; उदाहरण के लिए—अवधी, खड़ी और ब्रज-बोली बोलने वाले प्रायः परस्पर बातें समझ लेते है, किन्तु फ्रेंच और जर्मन को नहीं।

(३) "भाषा का प्रयोग शिक्षा, शासन और साहित्य-रचना आदि के लिए होता है, किन्तु बोली का दैनिक व्यवहार के लिए।" वैसे अवधी, ब्रज आदि में भी उत्कृष्ट साहित्य लिखा गया, अतः यह शाश्वत भेदक तत्त्व नहीं है; फिर भी स्थूल

रूप में ऐसा होता है। मूलतः भाषा और बोली में कोई महान् अन्तर नहीं है, क्योंकि अनुकूल परिस्थितियों में बोली ही भाषा बन जाती है।

राष्ट्रभाषा—राष्ट्रभाषा का क्षेत्र भाषा की अपेक्षा अधिक व्यापक होता है। भाषाएँ अपने सीमित क्षेत्र में ही अधिक लोकप्रिय होती है, किन्तु राष्ट्र-भाषा सम्पूर्ण राष्ट्र की भाषा होने के कारण सम्पूर्ण राष्ट्र पर अपना आधिपत्य रखती है। राष्ट्र की ही कोई भाषा राजनीतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक कारणों से समग्र राष्ट्र के सार्वजनिक प्रयोग में आती है। उस भाषा में वहाँ की संस्कृति, सभ्यता एवं आदर्शों की छाया विद्यमान रहती है। वह भाषा राष्ट्र को सांस्कृतिक एवं भावात्मक एकता में बाँधने में समर्थ होती है। भारत में गुजराती, बँगला, मराठी आदि अनेक भाषाएँ हैं, किन्तु उन्हें राष्ट्रभाषा नहीं कहा जा सकता है, हिन्दी ही भारत की राष्ट्रभाषा है। यह भाषा राष्ट्रीय कार्यों की साधिका है, किन्तु अपने स्थायित्व के लिए अन्य भाषाओं का विधान नहीं करती है। उन्हें अपनी प्राणदायिनी शक्ति से सदा प्राणान्वित करती रहती है। यही नहीं, यह निरन्तर राष्ट्रव्यापी लोकप्रियता प्राप्त करने का प्रयास करती है।

राजभाषा—राजभाषा और राष्ट्रभाषा प्रायः दोनों ही शब्द समानार्थक समझे जाते हैं। राष्ट्रभाषा ही राजभाषा के पद को प्राप्त करने की अधिकारिणी है. किन्तु यदा-कदा आक्रान्ता जब किसी देश पर अधिकार कर लेता है, तब वह अपनी सुविधा के लिए अपनी भाषा को राजभाषा के रूप में आक्रान्त देश पर लाद देता है। परिणामस्वरूप, उस देश की संस्कृति, सभ्यता भारस्वरूप उस भाषा को स्वीकार करती है और यही भाषा कुछ दिनों के पश्चात् राष्ट्रभाषा का पद भी प्राप्त कर लेती है। मुगलकाल में फारसी और अंग्रेजों के राजकाल में अंग्रेजी भारत में राजभाषाएँ थीं। स्वतन्त्र भारत में राजभाषा एवं राष्ट्रभाषा का पद हिन्दी को प्रदान किया गया है। पाकिस्तान में उर्दू किसी भी प्रदेश की न बोली है और न भाषा ही, किन्तु उर्दू को पाकिस्तान में राजभाषा का पद प्राप्त है। जब कोई भाषा विशेष राष्ट्र की सीमाओं के व्यवधान से ऊपर उठकर विश्व के अनेक राष्ट्रों में व्यापार आदि के कार्यों में व्यवहृत होने लगती है, तभी वह **अन्तर्राष्ट्रीय भाषा** अथवा विश्वभाषा का पद प्राप्त कर लेती है। आज से कुछ समय पूर्व फ्रेंच को यह पद प्राप्त था, किन्तु आज अंग्रेजी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के पद पर प्रतिष्ठित है।

कृत्रिम भाषा—यद्यपि भाषा का विकास नैसर्गिक रूप में होता है, इसीलिए भाषा की तुलना एक पहाड़ी नदी से की जाती है, किन्तु कभी-कभी व्यक्ति, समाज, देश या विश्व की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर भाषाओं का निर्माण भी किया जाता है। इन्हीं निर्मित अथवा निश्चित शब्द-संकेतों के आधार पर विचार-विनिमय किया जाता है। इसे कृत्रिम भाषा कहा जाता है। इस प्रकार की एक भाषा एस्पिरेन्तो (Esperanto) है। इस एस्पिरेन्तो भाषा की रचना डा० लुई

जमेनहाफ (Louis Zomenholf) ने की थी। वे इस भाषा को अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने का स्वप्न देख रहे थे। इस भाषा का ही एक विकसित रूप इडो (Ido) भी है। यह भाषा अत्यन्त सरल रूप में आविष्कृत की गयी थी। इसके कुल सोलह नियम थे। एक शिक्षित व्यक्ति बहुत थोड़े समय में इसका जानकार हो सकता है। इसकी लिपि रोमन निर्धारित की गई है। इसमें साहित्य की रचना भी हुई, पत्र-पत्रिकाएँ भी निकलीं। किन्तु इस प्रकार की भाषाओं का स्वाभाविकता के अभाव में प्रचार संभव नहीं है, क्योंकि इस प्रकार की कृत्रिम भाषाओं का आधार अत्यधिक क्षीण होता है। मात्र कुछ व्यक्तियों की कल्पना तक ही वह सीमित रह जाती है। भारत में भी हिन्दी-उर्दू के विरोध का समाधान करने के लिए हिन्दुस्तानी भाषा का निर्माण हुआ है। इसी प्रकार डाकू, चोर, क्रान्तिकारी तथा बच्चे भी कभी-कभी कृत्रिम भाषा की रचना कर लेते हैं। इस प्रकार की भाषाएँ भाषा-विज्ञान के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि भाषा मानव-विचारों की अभिव्यक्ति का साधन है। भाषा का उदय एक बोली के रूप में होता है, वही बोली क्रमशः विकास प्राप्त करती हुई विभाषा, भाषा, राष्ट्रभाषा और अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के पद तक पहुँच जाती है।

भाषा की प्रकृति

मानव में अनेक स्वाभाविक प्रवृत्तियों की भाँति भाषण-क्रिया भी निसर्ग-सिद्ध है। किन्तु भाषण-शक्ति निसर्गतः उसके पास होने पर भी वह केवल अपनी मातृभाषा को बोलने की ही क्षमता रखता है। यह मातृभाषा भी वह अपने परिवार के व्यक्तियों से या समाज से ही सीखता है। इस प्रकार जहाँ तक भाषण-शक्ति का प्रश्न है, वह निश्चित ही परम्परा-प्राप्त है, किन्तु भाषा सीखने के लिए उसे प्रयत्न करना ही पड़ता है। अतः भाषा को पैतृक सम्पत्ति नहीं कहा जा सकता। भाषा परम्परागत होते हुए भी सामाजिक वस्तु है—"भाषा न्यूनाधिक रूप में परम्परागत एवं सामाजिक है। किन्तु इसे जातिगत विशेषता की भाँति उत्तराधिकार में प्राप्त नहीं माना जाना चाहिए, जैसा कि कभी-कभी माना जाता है। बालक किसी अन्य भाषा को भी उसी प्रकार ग्रहण कर सकता है, जैसे कि अपनी मातृभाषा को।"

"Language therefore is more or less traditional and social. It should not be supposed, as is sometimes done, that it is inherited as a race characteristic."

"A child can acquire any other language in much the same way as it does its mother-tongue."

भाषा परम्परागत सम्पत्ति होते हुए भी अर्जन की जाती है। भाषा को सीखना पड़ता है। बचपन के निरन्तर प्रयास से स्मरण-शक्ति की सहायता से हम नित-नूतन

शब्दों की जानकारी प्राप्त करते हैं। जब एक भाषा-भाषी व्यक्ति दूसरे स्थान पर जाता है, तब उसे भाषा सीखने के लिए निरन्तर प्रयास करना पड़ता है; उदाहरण के लिए —'फ्रांस के निवासी, रोमन युग के केल्ट जाति के वंशज हैं। किन्तु आजकल वे कौन-सी भाषा बोलते हैं? अपनी भाषा केल्टिक नहीं जो कि रोमन विजेताओं की अपेक्षाकृत अधिक संस्कृत भाषा से भी बहुत पूर्व फ्रांस से लुप्त हो चुकी है। वे फ्रेंच भाषा बोलते हैं जो कि मूलतः लैटिन भाषा की एक बोली है और इसी कारण यूरोप की रोमन भाषाओं में परिगणित की जाती है। दूसरा उदाहरण पारसियों की भाषा है। वे एक भाषा बोलते हैं जिसका यद्यपि उनकी प्राचीन भाषा से दूरवर्ती एवं परोक्ष सम्बन्ध है, किन्तु वह वस्तुतः उनके लिए उतनी ही विदेशी या विजातीय है जितनी कि कोई अन्य भारतीय भाषा। सतपुड़ा और मध्य भारत के भील भी जो यद्यपि भारत के आदिवासियों की कोटि में हैं और इस प्रकार उन्हें मुंडा वर्ग की कोई विभाषा बोलनी चाहिए— भीली भाषा बोलते हैं जो कि खान देशी से बहुत मिलती-जुलती है।

"History has some very interesting examples that go against the theory that language is a race characteristic and is inherited like other characteristics. The French people are the desc..nd-ants of the Celts of the Roman days. But what language are they speaking now? Not their own, the Celtic, which has long since disappeared from France before the more cultural speech of the Roman Conquerors; they speak a language the French, which originally was a dialect of the Latin language and hence is included among the Romance Languages of Europe. Anotner example is the language, which though remotely and indirectly related to their old speech, is really as foreign to them any other Indian dialect. The Bhils of Centarl India and Satpura too speaek the Bhili language which is very akin to the Khande although they belong to the abogines of India, and as such much have spoken a dialect of the Muneta group."

इस प्रकार मनुष्य की निरन्तर सीखने और अर्जन-क्रिया के कारण भाषा को हम अर्जित सम्पत्ति कह सकते हैं—"भाषा मनुष्य स्वयं दूसरों से धीरे-धीरे अर्जित करता है और उसकी वृद्धि भी वह स्वयं करता है। धन सम्पत्ति या अन्य द्रव्यों की भाँति वह ऐसा धन नहीं है, जो उत्तराधिकार में माता-पिता द्वारा प्राप्त हुआ हो। उसकी प्राप्ति, उसका संवर्द्धन तथा संरक्षण वह स्वयं करता है और वह अपनी शक्ति के अनुसार ही उसे परिमार्जित तथा परिष्कृत करता है।"[1] भाषा को कोई व्यक्ति बहुत शीघ्र ही जान लेगा और कोई देर में। एक ही व्यक्ति अनेक

1. अभिनव भाषा-विज्ञान, पृ० २९।

भाषाओं को सीख जाता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि भाषा एक अर्जित सम्पत्ति है।

भाषा की प्रकृति निरन्तर विकासशील है। भाषाओं में निरन्तर प्रयत्न, स्थान स्वर आदि वाक्‌यन्त्रों के कारण परिवर्तन होता रहता है। भाषा, विभाषा, बोली आदि का भेद इसी परिवर्तनशीलता के कारण है। "एक भाषा विभाषा बनती है। वह विभाषा कालान्तर में भाषा बनकर दूसरी विभाषा या बोली को जन्म देती है और इस प्रकार बोलियों का यह प्रवाह चलता ही रहता है। अतः भाषाओं की प्रकृति अथवा स्वरूप अस्थिर या परिवर्तनशील होता है।"[1] भाषाओं की यही परिवर्तनशीलता उनका जीवन है। इसीलिए एक लोकोक्ति है—

"चार कोस में बदले पानी, आठ कोस में बानी।"

भाषा प्रकृत्या स्वतन्त्र होती है—भाषा की इसी परिवर्तनशीलता एवं विकसनशील प्रवृत्ति के कारण भाषा को नियमों में आबद्ध करना कठिन है। यदि हम व्याकरण के नियमों से किसी भाषा की जकड़बन्दी कर देते हैं, तब वह भाषा मृत भाषा के पद को प्राप्त कर लेती है। "संस्कृत या वैदिक भाषा को समय-समय पर न जाने कितने वैयाकरणों की आवश्यकता पड़ी, स्वयं वैदिक भाषा के भिन्न-भिन्न परिवर्तनों को देखकर पाणिनि को न जाने कितनी बार "बहुलं·छन्दसि" (अर्थात् वेद में यह प्रयोग होता भी है और नहीं भी होता है) इस सूत्र को लिखना पड़ा। निरुक्तकार के समय में भी वेदों की भाषा को नियमों में आबद्ध करने के लिए बहुत से वैयाकरणों का उल्लेख मिलता है।" इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भाषा की प्रवृत्ति मूलतः स्वच्छन्द है। हमें इस प्रकृति में व्याघात उपस्थित नहीं करना चाहिए। "महाभाष्यकार पतंजलि ने अपशब्दों को या अपभ्रंश शब्दों को म्लेच्छ शब्दों के नाम से कहा था और उन शब्दों का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों को म्लेच्छ नाम से कहा जाने लगा—"**म्लेच्छो ह वा एषा यदपशब्दः·········भूयासोऽपशब्दाः, अल्पीयांसः शब्दाः। एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः तद्यथा गौरित्यस्य गावी, गोणी गोता, गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः।**" एक ही शब्द के बहुत-से अपभ्रंश होते हैं, जैसे गौ इस शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका ये चार अपभ्रंश होते हैं। इस प्रकार भाषाओं का विकास या उसकी प्रगति स्वतन्त्र रूप से होती रहती है।"[2] भाषा में उसकी स्वातन्त्र्य प्रवृत्ति के कारण नित-नूतन शब्दों का, भाषाओं से विभाषाओं और बोलियों का जन्म होता रहता है।

भाषा की प्रवृत्ति **सरलता** की ओर रहती है। व्यक्ति भाषा के जीवन में सदा ही प्रयत्नलाघव को अपनाता है। इसके उदाहरण समाज में अनेक देखे जा सकते

---

1. अभिनव भाषा-विज्ञान, पृ० २९।
2. वही, पृ० ३०-३१।

हैं। घरों में बच्चों के नामों के संक्षिप्त संस्करण इसी प्रवृत्ति के परिचायक हैं। मानव के भाषण-अवयव भी कठिनता से सरलता को अधिक अपनाते है। इसीलिए अमरूद को अरमूद, लखनऊ को नखलऊ कहा जाता है। आशय यही है कि भाषा की प्रवृत्ति सरलता की ओर अग्रसर होने की है। भाषा की प्रवृत्ति कृत्रिमता से दूर रहने की है। इसीलिए सामान्य बोलचाल की भाषा में अंग्रेजी लिपि के बिगड़े हुए रूप ही अधिक चलते हैं। स्टेशन—टेशन, टिकट—टिकस आदि शब्द प्रचलित हैं। "जो ध्वनियाँ स्वाभाविक रूप से सर्वजन-सुलभ होती हैं, भाषा उन्हीं को अपनाती है। भाषाओं के अन्दर कृत्रिमता का होना उसके विकास में बाधक होता है। ......लौह पथगामिनी (रेल) या अविश्रान्त-निर्झर-लेखनी (फाउन्टेन पैन) आदि कृत्रिम शब्दों की रचना द्वारा हमें भाषा के साथ उपहास, अन्याय या अत्याचार नहीं करना चाहिए।"

भाषा एक सामाजिक वस्तु है—समाज में ही भाषा की उत्पत्ति, स्थिति एवं विकास सम्भव है। भाषा में व्यक्तित्व को उपेक्षा नहीं होती है। भाषा में अर्थ-ग्राहिका शक्ति होती है। भाषा योग्यता, आकांक्षा एवं आसक्ति की अपेक्षा रखती है। जब तक भाषा में ये तीनों गुण नहीं होंगे, वह अर्थावबोधन का कार्य नहीं कर सकेगी। भाषा की प्रवृत्ति नियमबद्धता की ओर होती है। प्रत्येक भाषा के अपने नियम होते हैं। हिन्दी में भाषा का क्रम कर्त्ता, कर्म एवं क्रिया का है। अंग्रेजी में कर्त्ता, क्रिया एवं कर्म का क्रम होता है। अतः भाषाओं में नियमबद्धता की प्रकृति संक्षेप की है। इसीलिए सन्धि, समास, कृदन्त, तद्धित आदि व्याकरण के नियम प्रचलित हैं।

निष्कर्ष यह है कि भाषा परम्परागत सम्पत्ति होते हुए भी अर्जित सम्पत्ति है। भाषा एक परम्परागत सम्पत्ति अवश्य है, किन्तु हम उसे पैतृक सम्पत्ति नहीं कह सकते हैं। भाषा अर्जित सम्पत्ति होते हुए भी व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है, अपितु वह आद्यन्त सामाजिक वस्तु है। भाषा निरन्तर परिवर्तनशील है, उसका कोई अन्तिम स्वरूप नहीं है, वह निरन्तर विकसनशील है। भाषा की धारा स्वभावतः कठिनता से सरलता की ओर जाती है। प्रयत्नलाघव भाषा की प्रमुखतम प्रवृत्ति है।

भाषा-परिवर्तन

भाषा परिवर्तनशील है, संसार की अन्यान्य वस्तुओं के समान भाषा का भी निरन्तर विकास होता रहता है, विकास ही उन्नति का मूल है। भाषा नदी के जल के प्रवाह के समान है, जो कि धारा की भाँति गतिमान व परिवर्तनशील रहती है। यही नहीं, भाषा मानव-विचारों की अभिव्यक्ति करती है। मानव के विचारों में युग एवं परिस्थितियों के अनुसार निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। अतः प्रत्येक भाषा में परिवर्तन की यह प्रक्रिया होती रहती है। मानव की भाषा मानव के शारीरिक व मानसिक अंग-प्रत्यंगों पर निर्भर रहती है, इसीलिए प्रत्येक मनुष्य

की भाषा एक दूसरे से भिन्न होती है। मानसिक स्तर के विकास के साथ ही भाषा में नये-नये तत्त्व आ मिलते हैं, पुरातन तत्त्व हट जाते हैं। मानव के ध्वनि-अंगों में भी परिवर्तन होता रहता है, विचारों के समुदाय प्रत्येक मनुष्य के भिन्न-भिन्न होते हैं। पाश्चात्य भाषाविज्ञानी पाल के कथनानुसार प्रत्येक विचार या प्रवृत्ति चेतना में नहीं रहती या उसकी पुनरावृत्ति नहीं की जा सकती या उसे कोई सहायक तत्त्व नहीं मिलता, इन्हीं कारणों से भाषा में अन्तर आ जाता है।

भाषा नदी की धारा की भाँति अविच्छिन्न होने पर भी निरन्तर विकास के साथ परिवर्तित होती रहती है। किसी भी भाषा में अचानक ही एक साथ महान परिवर्तन नहीं होता है। भाषा की "इस परिवर्तनशीलता को समझने के लिये किसी भाषा के काल-भेद से होने वाले भिन्न-भिन्न रूपों की परस्पर तुलना आवश्यक है।" कुछ विद्वानों का मत है कि प्राचीन परिष्कृत भाषाओं में परिवर्तन नहीं होता है। किन्तु ऐसी बात नहीं है। **डा० मंगलदेव** ने प्राचीन परिष्कृत भाषाओं के सम्बन्ध में इन तथ्यों की ओर संकेत किया है—"(क) प्राचीन परिष्कृत भाषाओं के व्याकरण और वर्ण-विन्यास में चाहे विशेष परिवर्तन न हो तो भी उनके उच्चारण में परिवर्तन कालान्तर में हो ही जाता है; उदाहरणार्थ—संस्कृत को बँगाली, महाराष्ट्री, पंजाबी आदि लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से उच्चारण करते हैं। उन सबका उच्चारण शुद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार आजकल अनेक पण्डित 'ष' को 'ख' 'य' को 'ज' 'ज्ञ' को 'ग्य' उच्चारण करते हैं। (ख) दूसरी बात प्राचीन परिष्कृत भाषाओं के विषय में यह ध्यान में रखनी चाहिए कि यद्यपि वे अपने स्वरूप में चिरकाल से स्थिर हैं, वे सदा से ही इस रूप में नहीं रही हैं। प्रत्येक प्राचीन साहित्यिक भाषा का प्रारम्भ किसी रोजमर्रा की सर्वसाधारण की भाषा से हुआ है। (ग) तीसरी बात इस सम्बन्ध में यह है कि साधारण पढ़े लिखे लोगों में यह भ्रम पाया जाता है कि वे आधुनिक हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओं को प्राचीन साहित्यिक संस्कृत से निकला हुआ समझते हैं। इसी तरह फ्रेंच, स्पेनिश आदि भाषाओं को प्राचीन साहित्य की लेटिन भाषा से निकला हुआ समझा जाता है।........परन्तु वास्तव में कोई सर्वसाधारण की भाषा प्राचीन परिष्कृत भाषा से नहीं निकली है। उसका निकास प्राचीन सर्वसाधारण की भाषा से ही समझना चाहिए।"[1] किन्तु भाषाओं के विकास में परिष्कृत-अपरिष्कृत दोनों ही प्रकार की भाषाएँ परस्पर एक दूसरे से प्रभावित होती हैं।

किसी भी जाति के भाषा इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि एक ही जाति की भाषा के इतिहास में समय-समय पर भिन्न-भिन्न साहित्यिक भाषाएँ देखी जाती हैं। भारत में ही वैदिक भाषा, संस्कृत भाषा, पालि भाषा, प्राकृत भाषा अपभ्रंश भाषा और आजकल की प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यिक रूप उपलब्ध हैं।

---

1. भाषाविज्ञान, पृ० ८६-८९।

भारत में आर्य जाति के भाषायी इतिहास को प्राचीन, मध्य और आधुनिक इन तीन कालों में विभक्त किया जा सकता है। ऋग्वेद की भाषा, ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा, वाल्मीकि रामायण की भाषा प्राचीनकाल की भाषाएँ मानी जा सकती हैं। धम्मपद की भाषा तथा संस्कृत नाटकों में लिखित प्राकृत मध्यकालीन भाषा, रामचरितमानस की भाषा तथा मैथिलीशरण से लेकर आज तक की भाषा आधुनिक काल की भाषा के रूप में स्वीकार की जा सकती हैं।

उपर्युक्त तीनों कालों की भाषाओं की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। प्राचीन-कालिक भारतीय आर्य-भाषा का स्वरूप संश्लेषणात्मक था। उसमें विभक्तियों की सत्ता को शब्दों से पृथक् किया नहीं जा सकता था; उदाहरण के लिए—'करोति' का अर्थ 'वह कर रहा है।' इसमें कर्त्ता, क्रिया दोनों ही अलग-अलग हैं। इसी प्रकार का उदाहरण 'जिगमिषति' (वह जाना चाहता है) भी है।

मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा का भी स्वरूप संश्लेषणात्मक ही था, किन्तु व्याकरण नियमों में कुछ अन्तर आ गया था। व्याकरण की वह जटिलता अब कुछ शिथिल होने लगी थी। "प्रातिपदिकों और धातुओं के रूपों में बहुत कुछ कमी आ गयी। बड़ा भारी भेद उच्चारण में आ गया था। व्यंजनों के क्लिष्ट संयोगों को या तो सरल संयोगों में बदल दिया गया था या उनके स्थान में एक ही व्यंजन उच्चारण किया जाने लगा था; उदाहरणार्थ—पालि में 'धर्म' के स्थान में 'धम्म', मृत्यु' के स्थान में 'मच्चु', भैषज्य के स्थान में 'भेसज्ज' बोला जाता था। इसी प्रकार 'स्थगयति' के स्थान में 'थकेति' श्लक्ष्ण' के लिए 'सण्ह' और 'पार्ष्णि' के लिए 'पण्हि' बोला जाता था।"[1] प्राकृत भाषा में व्यंजनों की अपेक्षा स्वरों की अधिकता हो गयी; उदाहरण के लिए—

संस्कृत	प्राकृत
यदि	जई
आर्यपुत्र	अज्जउत्त ।

आधुनिक काल की भारतीय आर्य-भाषाओं में प्राचीन संश्लेषणात्मकता के स्थान पर विश्लेषणात्मकता की प्रवृत्ति बढ़ गयी। व्याकरण, वाक्यविज्ञान आदि में परिवर्तन होने के अतिरिक्त अन्य विदेशी भाषाओं के सहस्रों शब्द आकर मिल गये हैं।

भाषा की परिवर्तनशीलता के प्रश्न का उल्लेख हमने व्यापक काल को लेकर किया है। इसमें परिवर्तनशीलता के लक्षण स्पष्ट प्रतीत होना सहज ही है। यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो भारतीय आर्य-जाति की प्राचीन भाषाओं में भी यह परिवर्तन परिलक्षित हो जाता है। यदि हम वैदिक संस्कृत एवं लौकिक संस्कृत का अध्ययन करें तो उसमें भी भाषा की परिवर्तनशीलता स्पष्ट है। ऋग्वेदीय

1. भाषा-विज्ञान, पृ० ८६-८९।

भाषा में प्रातिपदकों और धातुओं के रूपों की अधिकता तथा शब्द-रूपों की विभिन्नता मिलती है। किन्तु संस्कृत में ऐसा नहीं है; उदाहरणार्थ—

ऋग्वेद के अनुसार	लौकिक संस्कृत के अनुसार
मर्त्यासः, मर्त्याः	मर्त्याः
देवासः देवाः	देवाः
अग्नौः अग्ना	अग्नौ
पूर्वेभिः पूर्वैः	पूर्वैः
देवेभिः देवैः	देवैः

ऋग्वेदीय भाषा धातु-रूपों की बहुलता के लिए प्रसिद्ध ही है। उसका लेट् लकार लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त ही नहीं होता है। लेट्लकार के अतिरिक्त भी ऋग्वेदीय संस्कृत में धातुओं की बहुलता है।

ऋग्वेद	लौकिक संस्कृत
इमसि, इमः	इमः
स्मसि, स्मः	स्मः
यातन, यात	यात
शये	शेते
ईष्टे, ईशे, ईशते	ईष्टे
श्रुधि, शृणुधि, शृणुहि, शृण	शृणु

लौकिक संस्कृत में भाववाचक 'कर्त्तुम' 'पठितुम्' आदि शब्दों के लिए केवल तुमुन् प्रत्यय का प्रयोग होता है, जबकि ऋग्वेदीय संस्कृत में इसी कार्य के लिए 'असे' 'तवै' 'ध्यै' से निष्पन्न 'जीवसे' 'एतवै', 'पातवे' 'चरध्यै', 'गमध्यै', शब्द मिलते हैं।

व्याकरण की दृष्टि से उपर्युक्त अन्तर के अतिरिक्त इस प्रकार के अनेक शब्द भी मिलते हैं, जिनका प्रयोग ऋग्वेद में होता है, किन्तु परवर्ती संस्कृत में या तो मिलते ही नहीं अथवा दूसरे अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। वे शब्द जो परवर्ती संस्कृत में उपलब्ध नहीं है—

दर्शत=दर्शनीय, सुन्दर
दृशीक=सुन्दर, दर्शनीय
रपस्=चोट, दुर्बलता, रोग
अमूर=बुद्धिमान्
मूर=मूर्ख
ऋदूदर=कोमलाशय, दयालु

अक्तु = रात्रि, अन्धकार, रश्मि

अमीवा = व्याधि, रोग

इन शब्दों के अतिरिक्त दूसरे अर्थ में प्रयुक्त होने वाले शब्द—

शब्द		वैदिक अर्थ	संस्कृत में अर्थ
अदाति	=	शत्रुता, कृपणता	शत्रु
वध	=	कोई भयङ्कर हथियार,	मार डालना
मृडीक	=	कृपा, अनुग्रह	शिवजी का नाम
न	=	जैसे, नहीं	नहीं
अरि	=	ईश्वर, धार्मिक, शत्रु	शत्रु
क्षिति	=	निवास-स्थान	
		गृह, वस्ती मनुष्य	पृथ्वी[1]

भाषा की यह परिवर्तनशीलता विश्व की प्रत्येक भाषा में देखी जा सकती है; उदाहरण के लिए—अंग्रेजी भाषा को भी देखा जा सकता है। ब्योवुल्फ (Beowulf) (सप्तम शतक), चॉसर (Chaucer) (१३४०–१४००), शेक्सपीयर (Shakespeare) (१५६४–१६१६), टेनीसन (Tennyson) (१८०९–१८९२) इन चारों ही कवियों की भाषा में अन्त विद्यमान है। इनकी भाषा के एक-एक पद के उदाहरण से ही भाषा की कालभेद से परिवर्तनशीलता स्पष्ट हो जाती है।

भाषा-परिवर्तन के कारण—भाषा-परिवर्तन के अनेक कारण हो सकते हैं। ये कारण शारीरिक, मानसिक, भौतिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक, सामाजिक आदि अनेक प्रकार के हैं। इस प्रकार भाषा-परिवर्तन के कारणों में बाह्य एवं आन्तरिक दोनों ही प्रकार के कारण हैं। इन्हें हम साक्षात् या असाक्षात् भी कह सकते हैं। किन्तु भाषा में परिवर्तन मिले-जुले रूप में ही अधिक होते हैं। अतः उनको विभक्त करना उचित प्रतीत नहीं होता है, तथापि अध्ययन की सुविधा के लिए इन कारणों को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। **प्रथम** भाषा-परिवर्तन के वे कारण हैं जो **स्वाभाविक** होते है और **द्वितीय** कारण वे हैं जो किसी **बाह्य** उपकरण से प्रभावित होते हैं।

आन्तरिक कारण

आन्तरिक कारणों में वे कारण आते हैं जो बिना किसी बाह्य प्रभाव के स्वयं वक्तागणों में ही उत्पन्न होते हैं।

(अ) **प्रयोगाधिक्य**—किसी शब्द के प्रयोगाधिक्य के कारण शताब्दियों के पश्चात् पूर्णतः परिवर्तित रूप में वक्ताओं के सम्मुख आना, 'उपाध्याय' शब्द का 'झा' होना, इसी का उदाहरण है। शताब्दी शब्द भी आज 'सदी' के रूप में प्रचलित है।

---

1. भाषा-विज्ञान—मङ्गलदेव, पृ० ९२–९६।

(ब) **बलाघात**—किसी ध्वनि या अर्थ पर विशेष बल दिया जाता है, वह अन्य ध्वनियों या अर्थों को गौण बनाकर समाप्त कर देती है; उदाहरण के लिए—वैदिक भाषा में 'अरि' शब्द के ईश्वर, धार्मिक, शत्रु और निवासस्थान ये चार अर्थ थे, किन्तु परवर्ती संस्कृत में 'शत्रु' अर्थ पर बल देने से अन्य अर्थ समाप्त हो गये।

(स) **प्रयत्नलाघव** (Economy of Efforts or The Ease Theory)—सुप्रसिद्ध विद्वान् लॉक (Locke) का विचार है कि परिश्रम के लिए परिश्रम करना मानव-स्वभाव के विरुद्ध है। इसीलिए हम मानव-स्वभाव की एक विशेषता देखते हैं— कम-से-कम प्रयास में अधिक-से-अधिक भाव प्रकट करना। इसी कारण भाषा में सूक्ति, लोकोक्ति, मुहावरों का जन्म हो जाता है। इसी प्रयत्नलाघव कारण के अन्तर्गत **ध्वनिलोप, आगम, समीकरण, विषमीकरण, वर्ण-व्यत्यय** आदि की भी गणना की जाती है। इन सभी के कारण भाषा में परिवर्तन देखा जाता है। प्रायः उच्चारण करते समय मास्टर साहब, डाक्टर साहब, प्रोफेसर साहब क्रमशः मास्साब, डाक्साब प्रोस्साब हो जाते हैं। पण्डितजी-पंड्डीजी, उन्होंने उन्ने अंग्रेजी का 'हाउ डू यू डू' (How do you do) हडू डू में परिवर्तित हो जाते हैं। कभी-कभी प्यार से माता-पिता, अध्यापक बालक के नाम आदि को संक्षिप्त कर देते हैं।

यह प्रयत्नलाघव का सिद्धान्त भाषा-परिवर्तन का मुख्य कारण है, किन्तु सर्वप्रथम जब इस सिद्धान्त की चर्चा थी, उस समय विद्वानों ने इस सिद्धान्त में अनेक आक्षेप किये थे। "(i) मनुष्य को आलसी और परिश्रम से बचने वाला मानना ठीक नहीं है। (ii) कई भाषाओं में ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं, जिनमें ध्वनियाँ परिवर्तित होकर जटिल हो गई हैं। (iii) सबसे बड़ा आक्षेप तो यह है कि कौन-सी ध्वनियाँ सरल हैं और कौन-सी जटिल। अभी तक इसका निर्णय ही नहीं किया गया तो सरलता और जटिलता का प्रश्न ही नहीं उठता।"[1] किन्तु इन आक्षेपों में कोई विशेष तथ्य नहीं है; क्योंकि किसी कार्य को सरलता से करना आलस्य नहीं है। अनावश्यक परिश्रम करना भी बुद्धिमानी नहीं है। ध्वनियाँ सरल और जटिल किसी भी प्रकार की हो सकती हैं। किन्तु जिन्हें हम सुविधापूर्वक उच्चारण कर सकें वे ही सरल ध्वनियाँ हैं।

(द) **वैयक्तिक विभिन्नता—शारीरिक विभिन्नता** (Anatomy)—वैयक्तिक विभिन्नता के कारण भी भाषा में अन्तर आ जाता है। भाषा मानव की अर्जित सम्पत्ति है। व्यक्ति भाषा को अर्जित करते समय बहुत-से तत्त्वों को ग्रहण करता है, बहुतों को नहीं। बहुत-से नूतन तत्त्वों को ग्रहण कर लेता है, प्राचीनों का परित्याग कर देता है। इस ग्रहण एवं परित्याग का मूल हेतु व्यक्ति की अपनी व्यक्तिगत

---

1. हिन्दी भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन, पृ ४१।

क्षमता एवं विशेषता है। प्रत्येक व्यक्ति के अतिरिक्त ध्वनियन्त्र निरन्तर परिवर्तनशील रहते हैं। अतः व्यक्ति की भाषा में भी निरन्तर परिवर्तन होता रहता है—

"We have also seen that language is an achievement. In the very process of this acquisition, certain linguistic factors are dropped out of consideration, as certain other new ones are added; because a successful achievement depends as much upon the capacity of an individual (both in point of hearing and the basis of articulation), as upon the circumstances in which he is placed. The inner speech organism or the groups of speechideas are constantly changing in every individual."

"यह भी हम देख चुके हैं कि भाषा एक उपलब्धि है। उसे अर्जित करने में ही कुछ भाषिक (Linguistic) तथ्य दूर हो जाते है और कुछ नये जुड़ जाते हैं; क्योंकि एक सफल उपलब्धि व्यक्ति की श्रवण एवं उच्चारण-क्षमता तथा उसके वातावरण एवं परिस्थितियों पर निर्भर करती है, और ये बातें सभी के साथ एक-सी नहीं होतीं। "हर व्यक्ति में आन्तरिक भाषा अथवा भाषा विचारों के वर्ग परिवर्तित होते रहते हैं।"

पॉल (Paul) नामक भाषाविज्ञानी ने इस सम्बन्ध में तीन तथ्यों की ओर संकेत किया है : (i) प्रत्येक शब्द जो असमर्थ होता है, जिसका भाषा में प्रयोग नहीं होता है, निरन्तर क्षीण होता है और उसका प्रयोग कम हो जाता है। (ii) प्रत्येक भाषणक्रिया, बोलना, सुनना और सोचना, निरन्तर कुछ नवीन योजना करती है। परिणामस्वरूप, भाषण-यन्त्र शक्तिशाली बनते हैं। (iii) नवीन योजना के कारण प्राचीन ध्वनियन्त्र शक्तिशाली बनते हैं और कुछ को हटा दिया जाता है। इसलिए भाषण, उच्चारण आदि में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है—

"The three causes enumerated by PAUL should be noted. First every impetus that is not, in consciousness, supported by the renewal of the impression or by itself being repeated, becomes weaker and weaker. Secondly, every activity, of speaking, hearing or thinking adds something new to the speech-material. Even in faithful reproduction of an original activity, at least some of the moments of an existing speech-organism are strengthened. And thirdly. as well by the strengthening of old speech elements by the addition of new ones, the conditions of the associatians inside the speech organism always shifted."

—P. D. Gune

ध्वनियन्त्र-भेद, स्वरभेद से श, ष, स में अन्तर नहीं रहता है। 'ऋ' का 'री' भी इसी वैयक्तिक विभिन्नता के कारण हो जाता है।

(य) **जातीय मानसिक अवस्था भेद** (National Psychology)—विद्वानों का एक मत यह है कि एक व्यक्ति की, एक राष्ट्र की मानसिक अवस्था दूसरे से ऊँची

या नीची होती है। जर्मनी के सुप्रसिद्ध भाषाशास्त्री जेकब ग्रिम का विचार है कि जर्मन भाषाओं में ध्वनि-परिवर्तन का कारण जर्मन लोगों की प्रगतिशील प्रवृत्ति और स्वन्त्रता की कामना का परिचायक है। आशय यह है कि विद्वानों का एक समुदाय भाषा-परिवर्तन का मूल कारण किसी जाति की मानसिक विशेषता को स्वीकार करना है। वैदिक संस्कृत से संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा प्रान्तीय भाषा में जातीय मानसिक अवस्था-भेद के कारण ही निरन्तर परिवर्तन होता रहा है। वैदिक काल के भारतीयों की भाषा वैदिक संस्कृत थी। वह उस युग की भावनाओं के अनुरूप थी। बुद्ध का संस्कृत त्यागकर पालि को अपनाना भी तत्कालीन मानसिक अवस्था का परिचायक है।

(र) **अनुकरण की अपूर्णता**—अनुकरण की अपूर्णता के कारण भी भाषाओं में परिवर्तन होता रहता है। यह कारण अवयवों की विभिन्नता अनवधानता, अशिक्षा तथा आकर्षण की चाह आदि पर आधारित है; उदाहरण के लिए -हिन्दी में गुप्त, मिश्र अंग्रेजी में गुप्ता, मिश्रा (Gupta, Misra) हो गये हैं। अंग्रेजो के Time, Station हिन्दी में टेम, टेशन हो गये 'साइपर्स एण्ड माइनर्स' का अशिक्षित 'सफरमैना', 'लॉर्ड्स कमाण्डर' को 'लाटकमण्डल', 'लार्ड चैम्सफोर्ड' को 'चिलमफोड़' भी कह देते हैं। इसी प्रकार 'ओम् नमः सिद्धम्' 'ओनामासीधम' हो गया है।

उपर्युक्त आन्तरिक कारणों के अतिरिक्त भाषा-विकास एवं परिवर्तन के कुछ वाह्य कारण भी हैं। ये भाषा-परिवर्तन एवं विकास में महत्वपूर्ण कार्य करते हैं।

बाह्य करण

भौतिक कारण—**भौगोलिक विभिन्नता** (Geographical)—स्थान, वातावरण के अनुसार भी भाषा में परिवर्तन होता है। जीविका, स्वभाव, रहन-सहन तथा आचरण पर गर्मी सर्दी का प्रभाव पड़ता है। इन्हीं के अनुसार भाषा भी प्रभावित होती रहती है। इसी कारण एक ही परिवार की भाषाएँ देश-भेद से विभिन्न रूप धारण कर लेती हैं। पहाड़ी एवं मैदानी भागों की बोलियों में सदा ही अन्तर बना रहता है। जहाँ मैदानी इलाका होगा वहाँ दूर-दूर तक सम्पर्क बना रहने के कारण भाषा में प्रायः एकरूपता बनी रहती है। किन्तु पहाड़ी इलाके में यह बात नहीं है, क्योंकि पहाड़ों या जंगलों में लोग अपने क्षेत्र तक ही सीमित रहते हैं। दुर्गम नदियाँ, पर्वत एक सीमित क्षेत्र को बहुत दूर-दूर कर देते हैं। इन भागों की भाषा अपने तक ही सीमित रहती है, अतः पहाड़ों पर अनेक बोलियाँ होती हैं। "पहाड़ी प्रदेशों के निवासियों में तथा मैदान के निवासियों में जलवायु के विचार से शरीर-संस्थानों में भिन्नता हो जाती है और कठोर प्रकृति के कारण उन प्रदेशों के निवासियों के उच्चारण में कुछ शब्दों में कठोरता तथा उग्रता व्यक्त होती है। भिन्न-भिन्न प्रदेशों के निवासी शब्दों का रूप अपने जैसा ही निर्मित कर लेते हैं। इसमें कुछ तो भौगोलिक प्रभाव होता है और कुछ वातावरण या समाज का भी।

उड़द, उरद या उद्द; बैल, बरदा, बद्द आदि ध्वनियों में कुछ भौगोलिक प्रभाव भी अवश्य है। पंजाब प्रान्त में पूर्ण ध्वनि का होगा, बंगला में ओ कहने की प्रवृत्ति राजस्थान या कतिपय दक्षिणी भाषाओं में द्वित्व करने की प्रवृत्ति उस देश के जलवायु द्वारा अवयव संस्थान और वहाँ के वातावरण की भिन्नता की भी परिचायिका होती है।"[1]

भूमि की अच्छी उपज तथा व्यापार आदि के कारण भी भाषा पर प्रभाव पड़ता है। जो देश आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होगा, वहाँ के निवासी वैभव के इन दिनों में विज्ञान, दर्शन, धर्म, कला आदि गम्भीर विषयों की चर्चा में समय व्यतीत करते हैं। ज्ञान-विज्ञान की चर्चा के कारण भाषा भी परिमार्जित, शिष्ट, सुसंस्कृत होती है। आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए इलाकों में व्यक्ति सदा ही अपनी जीविका एवं उदरपूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। वे मानसिक उन्नति के लिए पूरा-पूरा समय नहीं दे पाते। अतः उनकी भाषा भी असंस्कृत होती है; उदाहरण के लिए—गंगा के दोआब तथा राजस्थान की भाषा एवं बोलियों की तुलना की जा सकती है।

विजातीय सम्पर्क—जब किसी जाति का दूसरी जाति से सम्पर्क होता है, उस समय परस्पर विचारों का आदान-प्रदान होता है। एक दूसरे की भाषा एक दूसरे को प्रभावित करती है; जैसे—मुसलमानों के सम्पर्क से अरबी का 'इन्तकाल' आज हिन्दी में 'अन्तकाल' बन गया है। जिह्वामूलीय ध्वनियाँ क़, ग़, ज़, क़, हिन्दी में प्रयुक्त होने लगी हैं। अरबी-फारसी के अनेक शब्द किताब, कागज, कलम हिन्दी में आ गये हैं। अंग्रेजों के सम्पर्क से भाषा में, वैज्ञानिक वस्तुओं के नाम भी आज अपनी भाषा के अन्तर्गत मान लिये गए हैं। द्राविड़ संस्कृति के प्रभाव से नीर, अलि, मीन; ग्रीकों के प्रभाव से 'यवनिका' शब्द का प्रयोग भी संस्कृत एवं हिन्दी में होता है। इसी प्रकार विजातीय सम्पर्क के कारण ध्वनियों का आदान-प्रदान भी होता है। आर्यभाषाओं में ट वर्गीय ध्वनियों का प्रयोग द्राविड़ों के कारण तथा अंग्रेजों के प्रभाव से ओ (O) ध्वनि का प्रयोग होने लगा है।

राजनीतिक परिस्थिति—भाषा की प्रगति पर राजनीतिक परिस्थिति का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। राजनीतिक परिस्थितियों के कारण भाषा में परिवर्तन, विकास, उन्नति, अवनति आदि समय-समय पर होते रहते है। अपभ्रंश की उन्नति आभीर राजाओं के कारण, पालि की उन्नति अशोक आदि तात्कालिक शासकों द्वारा बौद्धधर्म ग्रहण करने के कारण, फारसी यवनकाल में राजा-दरबार की भाषा होने के कारण, उर्दू की अंग्रेजी राज्य में अदालती भाषा होने के कारण, पंजाबी की रणजीतसिंह द्वारा सिक्ख राज्य स्थापित होने के कारण तथा हिन्दुस्तानी की उत्पत्ति अंग्रेजों एवं कांग्रेस के कारण हुई।

सांस्कृतिक एवं धार्मिक प्रभाव—धर्मों के कारण भी भाषा प्रभावित होती है, क्योंकि धर्म-ग्रन्थों की भाषा पवित्र मानी जाती है। यदि कोई भाषा किसी धर्म

1. अभिनव भाषा-विज्ञान, पृ० ४६।

द्वारा स्वीकार कर ली जाती है तो उसकी उन्नति एवं विकास शीघ्र गति से होता है। कभी-कभी उसे राष्ट्रभाषा का पद भी मिल जाता है। वैदिक धर्म के कारण वेदों की संस्कृत, बुद्ध धर्म के कारण त्रिपिटकों की पालि, सिक्ख धर्म के कारण पंजाबी, इस्लाम के कारण अरबी की उन्नति हुई। आर्यसमाज के कारण हिन्दी में संस्कृतनिष्ठ हिन्दी लिखने का प्रचार हुआ।

सामाजिक व्यवस्था—समाज की दशा के अनुरूप ही भाषा का गठन होता है; उदाहरण के लिए—किसी नगर में मुसलमानों के मुहल्लों को देखें तो वहाँ की भाषा भिन्न होगी। स्थानीय हिन्दू भी उसी भाषा का प्रयोग करते हैं। हिन्दू पंडित-समाज में हमें संस्कृतनिष्ठ अथा कथावचकों की भाषा के दर्शन होंगे। अंग्रेजी भाषा से दीक्षित व्यक्तियों की भाषा कुछ भिन्न ही होगी। इसी प्रकार चमारों की भाषा, गूजरों की भाषा आदि नामभेद, इसी सामाजिक अवस्था के कारण होते हैं।

कालभेद—यद्यपि भाषा की धारा परम्परागत तथा अविच्छिन्न है, तथापि कालान्तर में उच्चरित स्वरूप में अन्तर होता ही रहता है; उदाहरण के लिए—प्राचीन वैदिक संस्कृत (इसका विस्तार से विवेचन प्रारम्भ में कर चुके हैं) तथा प्राकृत संश्लिष्ट भाषाएँ थीं, किन्तु क्रमशः परिवर्तित होती गयीं। इसी प्रकार लैटिन अवेस्ता, अंग्रेजी, फारसी, हिन्दी, बँगला, गुजराती कालभेद से प्रभावित हैं।

स्थानभेद—स्थानभेद भी भाषा के परिवर्तन में योग देता है। किसी व्यक्ति की भाषा को सुनकर यह जान लिया जाता है कि व्यक्ति-विशेष किस प्रान्त या जिले का है। पहाड़ी, पंजाबी, बंगाली, मराठी, लखनवी सीतापुरी, बनारसी, बलियाटिक तथा ब्रजभाषा आदि भेद स्थानभेद के ही उदाहरण हैं। पंजाबी 'न' को 'ण' व अंग्रेज 'त को 'ट' इसी स्थानभेद के कारण बोलते हैं।

व्यक्ति-विशेष का प्रभाव—व्यक्ति-विशेष के प्रभाव से भी भाषा प्रभावित होती है; उदाहरणार्थ—बुद्ध, शंकर, तुलसी, विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, रवीन्द्र, प्रसाद, प्रेमचन्द, गांधी आदि के साहित्य के प्रभाव से भी भाषा में अन्तर आया है; उदाहरण के लिए—जैसे बुद्ध ने पालि का, शंकर ने संस्कृत का, स्वामी दयानन्द ने हिन्दी का, रवीन्द्र ने बँगला का, प्रसाद ने हिन्दी में संस्कृतनिष्ठ भाषा का और प्रेमचन्द ने हिन्दुस्तानी का प्रचार किया है।

शिक्षा तथा संस्कृति—शिक्षा एवं संस्कृति के कारण भी भाषा प्रभावित होती है। समाज में सर्वत्र ही दो रूप दृष्टिगत होते हैं; जैसे—सभ्य-असभ्य, शिक्षित-अशिक्षित; तथा इन दोनों की संस्कृति में भी पर्याप्त भेद मिलता है। भाषा में इसके कारण भेद बना रहता है। शिक्षित तथा सभ्य व्यक्ति अशिक्षित एवं असभ्य व्यक्तियों की भाषा को व्यवहार में नहीं ला सकता और न बालक बड़ों की भाषा को।

डा० मंगलदेव ने अपने ग्रन्थ 'तुलनात्मक भाषा-विज्ञान' में भाषा के बाह्य रूप में विकास और परिवर्तन के अनेक कारणों का निर्देश किया है। भाषा के बाह्य रूप में विकास का पहला कारण वे **नूतन शब्दों का निर्माण** मानते हैं। भाषा की प्रारम्भिक अवस्था निश्चित ही अनुकरणमूलक, अनुरणनमूलक मनोभावाभिव्यंजक शब्दों का निर्माण होता है। इन नूतन शब्दों के द्वारा भाषा के विकास में पर्याप्त सहयोग मिलता है। इन शब्दों के अतिरिक्त एकान्ततः कल्पित शब्द भी भाषा के विकास मे सहायक होते हैं। 'महाभाष्य' में शब्दों के सम्बन्ध में विचार करते हुए, शब्दों की प्रवृत्ति चार प्रकार की बतायी गयी है। इनमें कल्पित यदृच्छा शब्द भी स्वीकार किये गए हैं—

चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः। जातिशब्दाः गुणशब्दाः क्रियाशब्दाः यदृच्छा-शब्दाश्चतुर्थाः।…त्रयी च शब्दानां प्रवृत्तिः। जातिशब्दाः गुणशब्दाः क्रियाशब्दः इति। न सन्ति यदृच्छाशब्दाः।" महाभाष्य पर कैयट कृत-टीका—**"अर्थगतं प्रवृत्ति निमित्तमनपेक्ष्य यः शब्दः प्रयोक्तृभिप्रायेणैव प्रवर्त्तते स यदृच्छाशब्दो डित्थादि।"**[1]

"सभ्यता के विकास और विद्या की वृद्धि के कारण तथा अनेक प्रकार की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक नवीन परिस्थितियों के कारण प्रत्येक भाषा के इतिहास में उसके अपने ही स्वभाव और प्रवृत्ति के आधार पर नवीन शब्दों का निर्माण होता रहता है। साधारणतः पुराने शब्दों के सादृश्य पर ही ये शब्द बना लिये जाते हैं। आजकल राष्ट्रभाषा हिन्दी में जो सहस्रों नवीन शब्द बनाये जा रहे हैं, वे इसी प्रवृत्ति के निदर्शन हैं।"[2]

डाक्टर मंगलदेव **नूतन शब्द-आदान** के कारण भी भाषा का विकास स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि "विभिन्न जातियों में परस्पर राजनीतिक, धार्मिक, व्यापारिक आदि सम्पर्क के कारण एक भाषा से दूसरी भाषा में अनेकानेक शब्द और शब्दसमूह ले लिये जाते हैं। इस प्रकार दूसरी भाषा से नये शब्दों के ले लेने से भी भाषा का कुछ-न-कुछ विकास होता है।....इसी आधार पर हिन्दी, अंग्रेजी आदि भाषाओं में सहस्रों शब्द दूसरी भाषाओं के ले लिये गए हैं।"[3]

प्राचीन **शब्द-अप्रयोग** के कारण भी भाषा में परिवर्तन हो जाता है। "सामाजिक, धार्मिक आदि परिस्थिति के बदलने के कारण जहाँ अनेक नये शब्द भाषा में प्रचलित हो जाते हैं, वहाँ अनेकानेक प्राचीन शब्द या प्रयोग व्यवहार में आने बन्द हो जाते है।"[4] इस सम्बन्ध में महाभाष्य में भी कहा गया है कि अप्रयुक्त

---

1. **भाषा-विज्ञान**—डा० मंगलदेव, पृ० १०८।
2. वही, पृ० १०८।
3. वही, पृ० १०९।
4. वही, १०९-११०।

शब्द भी अनेक हैं, जिनके नियत विषय हैं तथा जिनमें से बहुत-से शब्दों के प्रयोग बन्द भी हो जाते हैं।

विभिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न शब्द प्रयुक्त होते हैं "**सन्ति वै शब्दा प्रयुक्ताः तद्यथा ऊषतेर चक्रपेत्रेति।" ' ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते।"**

तद्यथा शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेवभाषितो भवति, विकार एवैनमार्या भाषन्ते शव इति।[1]

शब्द-द्वैधीभाव—कभी-कभी किसी भाषा का कोई शब्द विकृत या परिवर्तित होकर विभिन्न रूपों को धारण कर भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने लगता है; उदाहरणार्थ—हिन्दी के पाँव (=पैर) और 'पाव' (=सेर का चतुर्थांश)[2] ये दोनों शब्द संस्कृत 'पाद' (=पैर) शब्द से निकले हैं। इसी प्रकार हिन्दी के 'भद्दा' और 'भला' ये दोनों ही शब्द संस्कृत के 'भद्र' से निकले हैं।"[3]

अनेक शब्द संश्लेषण के द्वारा भी डा० मंगलदेव भाषा का विकास तथा परिवर्तन स्वीकार करते हैं। उनका कथन है—"भाषा के बाह्य रूप के विकास का एक और प्रकार अनेक शब्दों के मेल से एक नये स्वतन्त्र शब्द का बन जाना है। पुराने शब्दों के सादृश्य पर प्राचीन शब्दों में आने वाले प्रत्यय नये शब्दों में जोड़ दिये जाते हैं। कई स्वतन्त्र शब्दों के योग से एक नया शब्द बना लिया जाता है। उच्चारण सम्बन्धी विकारों के हो जाने पर ऐसे शब्द कई शब्दों के योग से बने हैं, इसकी प्रतीति नहीं रहती। अनेकानेक प्रत्यय भी इसी प्रकार कालान्तर में स्वन्त्र शब्दों से बन जाते हैं।"[4] उदाहरण के लिए, सौत (सपत्नी), सोना (स्वर्ण), मौसी (मातृष्वसा), पतोहू (पुत्रवधू), त्योहार (तिथिवार), नैहर (निजगृह) आदि शब्द अनेक शब्दों के मेल से बने हैं, किन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता है। इसी प्रकार अंग्रेजी में Back bone (रीढ़), Millsone (चक्की का पाट) Light hearted (प्रसन्न) और Anglo-Indian आदि शब्द इसी प्रकार के हैं जो कि समस्त कर दिये गए हैं।

भाषा के बाह्य रूप-परिवर्तन का प्रधान कारण **उच्चारण-सम्बन्धी परिवर्तन या वर्ण-विकार** है। यह परिवर्तन प्रत्येक भाषा को अनिवार्यतः प्रभावित करता है। इस परिवर्तन को हम सादृश्य उपमान (Anology) कह सकते हैं। भाषा में एक शब्द की ध्वनि और अर्थ, दूसरे शब्द-अर्थ से समान होने के कारण परिवर्तित होते हैं। संस्कृत के प्रभाव से हिन्दी संस्कृतनिष्ठ तथा पण्डिताऊ हो गयी है तथा अंग्रेजी के प्रभाव से हिन्दी में बीच-बीच में विशेषण उपवाक्यों के प्रयोग की प्रवृत्ति बढ़ रही है। शब्दों की रचना भी देखी जा रही है; जैसे—पाश्चात्य के आधार पर

---

1. भाषा-विज्ञान—डा० मंगलदेव, पृ० ११०।
2. तौल की प्रचलित इकाई का चतुर्थांश; पहले सेर का चौथाई और अब किलो के चौथाई का द्योतक है।
3. भाषा-विज्ञान, डा० मंगलदेव, पृ० ११०।
4. वही, पृ० १११।

पौर्वात्य, देहाती के सादृश्य पर शहराती एवं सुख के साम्य पर दुःख के विसर्ग लुप्त होकर दुख का प्रयोग होने लगा है। द्वादश के सादृश्य पर एकदश का एकादश हो गया है।

इस प्रकार भाषा परिवर्तनशील है, यह निर्विवाद सत्य है। यह धारणा आज भ्रान्त सिद्ध हो चुकी है कि संस्कृत, लैटिन आदि भाषाएँ शाश्वत एवं परिवर्तनशील हैं। "संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः।"........भाषा परिवर्तनशील होती है। उसके बदलने के कारण अनेक हैं। उसमें परिवर्तन होना उसकी प्रकृति है। भाषा एक वेगमती धारा के सदृश बढ़ती जाती है, उसकी गति सदा ही टेढ़ी-मेढ़ी होती हुई जाती है, कहीं चौड़ी तो कहीं सँकरी, कहीं उथली तो कहीं गहरी। उसकी स्वाभाविक गति में परिवर्तन सम्भव नहीं। यदि कोई वैयाकरण उसमें दृढ़ बाँध लगाना चाहता है तो वह अपना पथ ही त्याग देती है। उसकी स्वाभाविक परिवर्तनशील गति को रोकना ही उसको मारना है। संस्कृत जब पाणिनि के द्वारा व्याकरण के चक्रव्यूह में बाँध दी गयी तो उसका वह स्वरूप 'मृत' हो गया। उसने वह पथ छोड़कर प्राकृत का रूप धारण किया। इसी प्रकार प्राकृत से अपभ्रंश और अपभ्रंश से आधुनिक आर्य-भाषाओं में बदलती रही। भाषा की गति कभी रोकी नहीं जा सकती। उसमें परिवर्तन उसका विकास है। जो लोग इस परिवर्तन को भाषा की भ्रष्टता समझते हैं, यह उनकी ही भूल है।"[1]

भाषा की उत्पत्ति (The Origin of Language)

भाषा सामाजिक जीवन के लिए अत्यावश्यक तत्त्व है, क्योंकि यह पारस्परिक विचार-विनिमय की साधक है। किन्तु भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न ऐसा प्रश्न है जिसका समाधान अद्यावधि नहीं हो सका है। भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न मानव की उत्पत्ति तथा उसके विचारों की अभिव्यक्ति के प्रश्न के साथ सम्बद्ध है। अतः भाषा की उत्पत्ति-विषयक प्रश्न का समाधान मानव उत्पत्ति की समस्या के समाधान होने पर ही सम्भव है। भाषाशास्त्री भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न के विवाद से दूर ही रहना चाहते हैं, क्योंकि उनके अनुसार इस समस्या का हल सम्भव नहीं है। इटली के प्रसिद्ध विद्वान मेरियो पाई (Mario Pai) ने लिखा है—

"If there is one thing on which all linguists are fully agreed, it is that the problem of the origin of human speech is still unsolved.", अमरीका के प्रसिद्ध विद्वान् जे० वेण्ड्रिएस भी इस समस्या का सन्तोषजनक समाधान प्राप्त नहीं करते हैं—"The Problem of the origin of language does not admit of any satisfactory solution." किन्तु आज के इस वैज्ञानिक युग में मानव-बुद्धि इसी प्रकार सन्तोष नहीं कर सकती; अतः

1. सरल भाषा-विज्ञान—मनमोहन गौतम, पृ० ७४।

वैज्ञानिक प्रक्रिया को अपनाकर भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों ने प्रत्यक्ष मार्ग (Deductive Method) तथा परोक्ष मार्ग (Inductive Method) से अध्ययन करने का प्रयास किया है। प्रत्यक्ष मार्ग में सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण करते हुए प्राचीनता के आधार पर अर्वाचीनता की जानकारी की जाती है। परोक्ष मार्ग में आधुनिक भाषाओं के स्वरूप का वैज्ञानिक अध्ययन कर प्राचीन भाषा तक पहुँचने का प्रयास किया जाता है।

प्रत्यक्ष मार्ग

(१) दैवी उत्पत्तिवाद (Divine Theory)

इस सिद्धान्त के समर्थकों का कथन है कि भाषा मानव-सृष्टि के साथ अचानक दैवी शक्ति द्वारा उत्पन्न हुई है। इस मत के मानने वालों का कथन है कि "ईश्वर ने सृष्टि को जिस प्रकार से उत्पन्न किया है, उसी प्रकार उसने भाषा को भी उत्पन्न किया है। सृष्टि के साथ ही शब्दों और धातुओं के द्वारा मानव की भाषा का भी उदय हुआ है। यदि हम इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते हैं तो ईश्वर के महत्त्व और ईश्वर पर अविश्वास करते हैं। ....सृष्टि का निर्माण करने वाला परमेश्वर है। मानव का निर्माण उसी ने किया है। मानव मन में विचारों और भावों की सृष्टि भी उसी ने की और उन मानवीय विचारों और भावों की अभिव्यक्ति के माध्यम, अर्थात भाषा का निर्माण भी उसी ने किया।"[1] ईश्वर पर आस्था रखने वाले सभी दैवी सिद्धान्त के समर्थक मूलतः इस सिद्धान्त के साथ अपना अभिमत व्यक्त करते हैं, किन्तु जिस प्रकार विभिन्न धर्मानुयायियों की ईश्वर-विषयक मान्यता में भेद है, उसी प्रकार आदि भाषा के सम्बन्ध में भी मतभेद है। सभी धर्मानुयायी अपनी धर्मपुस्तक और भाषा को सृष्टि के आदि में उत्पन्न तथा प्राचीनतम मानते हैं; उदाहरण के लिए—भारत में वेदों को ईश्वरीय ज्ञान[2] मानने वालों का कथन है कि "वेदों की भाषा

---

1. हिन्दी भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन, पृ० २६।
2. देवी वाचमजनयन्त देवाः।
   यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्
   सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसोमुखम् ॥
   स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥
   तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
   छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ —ऋग्वेद
   सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्
   वेद शब्देभ्यः एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे।, —मनुस्मृति, १/२१
   संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः ॥ —काव्यादर्श, १/३२

संस्कृत है और वेद अनादि हैं, वे ईश्वरोत्पन्न हैं। अतः वेदों की भाषा नित्य है।"[1] इसी प्रकार बौद्ध लोग अपनी पालि (मागधी) भाषा को समस्त भाषाओं की आदि भाषा समझते हैं। पालि व्याकरण के रचयिता **कच्चायन** का कहना है—"एक भाषा (सारी भाषाओं की) मूल है, कल्प के आरम्भ में मनुष्य और ब्राह्मण जिन्होंने पहले एक मनुष्य-स्वर भी मुख से नहीं निकाला था, इसी को बोलने लगे। भगवान बुद्ध भी इसी को बोलते थे। वह भाषा मागधी है।"[2] एक अन्य स्थान पर भी कच्चायन ने लिखा है कि यदि बच्चे को कोई भी भाषा न सिखायी जाय; फिर भी वह मागधी में ही भाषण करेगा। यही मागधी भाषा तीनों लोकों में प्रधान है। यह सदा एक रूप रहती है। भगवान बुद्ध ने अपने त्रिपिटकों की रचना इसी मागधी में की थी। जैन विद्वानों का भी यही मत है कि अर्द्धमागधी ही मूल भाषा है। पशु-पक्षी तक इस भाषा को समझ लेते हैं। ईसाई विशेष रूप से कैथोलिक मतानुयायी, हिब्रू भाषा को मूल भाषा स्वीकार करते हैं। बाइबिल इसी भाषा में लिखी है। बाइबिल में भी अनेकशः लिखा हुआ है कि ईश्वर हिब्रू जाति के लोगों के साथ हिब्रू में बातचीत किया करता था।[3] बाइबिल में यह भी लिखा है कि प्राचीन काल में सम्पूर्ण पृथ्वी पर एक ही भाषा थी।[4] किन्तु बाद में अनेक भाषाएँ उत्पन्न हो गयीं। हिब्रू ही विश्व भाषाओं की जननी है, यह सिद्ध करने का प्रयास भी किया है। "मिस्र के लोग भी 'न्त्र-न्त्र' अर्थात् देवभाषा शब्द का प्रयोग करते हैं। यूनान के सुप्रसिद्ध महाकवि होमर ने भी देवभाषा का उल्लेख किया है। मुसलमानों का यह विचार है कि खुदा ने पैगम्बर हजरत मुहम्मद को अरबी भाषा ही सबसे पहले सिखायी।"[5]

समीक्षा—इस प्रकार दैवी उत्पत्तिवाद के आधार पर विश्व की भाषाएँ ईश्वर से उत्पन्न हैं। इस सिद्धान्त में सर्वाधिक पुष्ट तथ्य यह है कि दैवी-शक्ति की प्रेरणा से मानव उत्पन्न हुआ है और उसी शक्ति की प्रेरणा से भाषा उत्पन्न हुई है।

---

1. **ननु चोक्तम्। नहि छन्दांसि क्रियन्ते।**
   नित्यानिच्छन्दांसीति। यद्यप्यर्थो नित्यः। या त्वसौवर्णानुपूर्वा सा अनित्या।
   —पतंजलि महाभाष्य, ४/३/१०१
2. **सामागधी मूलभाषा नरा यायादिकवि**
   ब्रह्मानो चस्सुतालापा संबुद्धा चापि भासर
   —डा० मंगलदेव, 'भाषा-विज्ञान', पृ० १८३।
3. "God at sundry times and divers manners spake in times past into the fathers by the prophets."
   —**Epistle**
4. "And the whole earth was of one language, and of one speech."
   —**Genesis II. I**
5. **हिन्दी भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन, पृ० २७-२८।**

एक अर्थ में हम इस बात को स्वीकार कर सकते हैं कि भाषा ईश्वरीय देन है, क्योंकि भाषा केवल मनुष्यों में पायी जाती है। मानव के अतिरिक्त अन्य कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है जो भाषा का उपयोग करता हो। किन्तु सूक्ष्म विवेचन करने पर ज्ञात होता है कि इसी सिद्धान्त ने, कि भाषा का विकास स्वाभाविक रीति से हुआ है, भाषा-विज्ञान की उन्नति में सर्वाधिक व्याघात उपस्थित किया है। (क) यदि भाषा को ईश्वर ने उत्पन्न किया है तो भाषा को उसी रूप में शाश्वत रहना चाहिए, फिर आज विश्व की भाषाओं में परिवर्तन एवं परिवर्द्धन क्यों हो रहा है? (ख) भाषा में आज धातुओं का निर्धारण एवं नवीन वस्तुओं के नामकरण क्यों हो हो रहे हैं। (ग) सभ्य और असभ्य, परिष्कृत-अपरिष्कृत भाषाओं का विभाग भी क्यों? (ख) यही नहीं, यदि एक बालक को उत्पन्न होते ही एकान्त में रखकर परीक्षण किया जाय तो ज्ञात होगा कि वह किसी भी भाषा को नहीं बोलेगा, साथ ही वह गूँगा ही रहेगा। अतः यदि भाषा स्वाभाविक होती तो वह अवश्य ही भाषण करता। इस सम्बन्ध में अनेक परीक्षण भी किये गए हैं, जिनका परिणाम लाभदायक नहीं रहा है। (१) मिस्र के राजा सेमिटिकुस (Psammeticus) ने इस प्रकार के दो बालकों पर परीक्षण किया था। वे बालक विभिन्न भाषा-भाषी थे, किन्तु वह परीक्षण असफल हो गया। दोनों ही बालकों ने 'बेकोस' रोटीवाचक शब्द का उच्चारण किया। इस शब्द को बालकों ने नौकरों के मुख से कभी सुना था। (२) अकबर ने भी इस प्रकार के परीक्षण किये थे, किन्तु बालक गूँगे ही रहे थे। (३) राबिन्सन क्रूसो का कथानक प्रसिद्ध ही है कि भाषण शक्ति-सम्पन्न वह व्यक्ति पशुओं के सहवास के कारण पशुओं की भाँति उच्चारण करता था। (ङ) नास्तिक लोग इस दैवी सिद्धान्त पर अपनी आस्था कदापि व्यक्त नहीं कर सकते। (च) भाषा और विचार का नित्य स्वाभाविक तथा अनिवार्य सम्बन्ध है। विचार से भाषा को अलग नहीं किया जा सकता है। विचार यदि होंगे तो वे स्वतः भाषा के द्वारा व्यक्त हो जायेंगे। इस सम्बन्ध में इतना ही कहना है कि जन्मतः गूँगे व्यक्ति में भाषा के अभाव में भी विचार होते हैं यह उसकी क्रियाओं से सिद्ध है। न्यायदर्शन में भी भाषा और विचारों का सम्बन्ध सामयिक-सांकेतिक स्वीकार किया गया है—"सामयिकः शब्दार्थसंप्रत्ययः न स्वाभाविकः।" यदि भाषा और विचार में स्वाभाविक और सिद्ध सम्बन्ध स्वीकार कर लिया जाय तो 'भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न पदार्थों के भिन्न-भिन्न नाम प्राप्त होते हैं, जो समान रीति से अपने-अपने अर्थों का बोध कराते हैं।'[1] यह न होकर अव्यवस्था होने लगेगी—"यदि स्वाभाविक शब्दार्थ सम्बन्धोऽभविष्यन्न जातिविशेषे शब्दार्थ व्यवस्था अभविष्यत्। अस्ति तु जातिविशेष प्रयोगः। जातिविशेषे यथाकामं प्रयोगो दृष्टः। न तु स्वाभाविकेन सम्बन्धेन संबद्धानां जातिविशेषे व्यभिचारो दृष्टः। नहि प्रदीपोऽस्माकयन्यथा प्रकाश-

1. भाषा-विज्ञान—मंगलदेव पृ० १८६।

यति, अन्यथा जातिविशेषं इति ।"[1] (छ) इस मत के सम्बन्ध में हर्डर[2] का कहना है कि यदि भाषा का निर्माण ईश्वर ने किया होता तो वह अधिक पूर्ण और युक्तिसंगत होती। हर्डर का एक अन्य आक्षेप भी है। उसका कहना है कि अधिकांश भाषाओं में धातुओं से संज्ञा शब्दों की उत्पत्ति होती है। यदि भाषा ईश्वरकृत होती तो भाषा का प्रारम्भ संज्ञा शब्दों से होना चाहिए था।[3]

निष्कर्ष यह है कि यह सिद्धान्त स्वयं में निर्जीव है। भाषा की उत्पत्ति-विषयक समस्या का समाधान इस सिद्धान्त से सम्भव नहीं है। भाषण-शक्ति अवश्य ही मनुष्य-वर्ग में ईश्वर-प्रदत्त है।

(२) सांकेतिक उत्पत्तिवाद या निर्णय-सिद्धान्त (Agreement Theory : Conventional or Symbolical Origin)

भाषा-उत्पत्ति के सम्बन्ध में द्वितीय मत सांकेतिक उत्पत्तिवाद का है। इस मत के अनुसार यद्यपि भाषा की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा नहीं हुई है, तथापि सृष्टि के आदि में मनुष्यों ने एकत्र होकर भाषा का निर्माण किया है। समाज और सामाजिक संस्थाओं का जिस प्रकार समझौते से निर्माण होता है, उसी प्रकार भाषा की उत्पत्ति मनुष्य ने की है। फ्रांस के सुप्रसिद्ध लेखक रूसो (J. J. Rousseau) का कहना भी यही है कि आवश्यकता आविष्कार को जन्म देती है। मनुष्य समाज को समाज के संचालन के लिए भाषा जैसे किसी एक साधन की आवश्यकता थी। मानव-समाज ने मिलकर इसकी रचना कर ली है। वस्तुओं को सांकेतिक नाम प्रदान किये गए हैं।

समीक्षा—परीक्षण करने पर यह सिद्धान्त भी उचित प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि (१) यदि मनुष्यों में कोई भाषा थी तो नवीन भाषा-निर्माण की आवश्यकता ही क्या थी ? पहले वाली भाषा का ही विकास किया जा सकता था। (२) यदि कोई भाषा नहीं थी तो यह नाम-निर्धारण किस प्रकार हुआ, एकत्र मनुष्यों ने वार्त्तालाप कैसे किया ? यदि कुछ गूँगे मनुष्यों के हाथों में लाठियाँ-डंडे देकर किसी बात के

---

1. न्यायवार्त्तिक, २-१-५६।
2. "One of Herder's strongest arguments it that if language had been framed by God and by him instillod into the mind of man, we should expect it to be much logical, much more imbued with pure reason than it is an actual matter of fact."
3. "And nouns are created from verbs, where as according to Herder, if language had been the creation of God, it would inversely have begun with nouns, as that would have been the logically ideal order of Procedure."

—**Language : Its Nature. Development and Origin.** pp. 27-28.

निर्णय करने का संकेत किया जाय, उस समय जो एक भयानक दृश्य उत्पन्न होगा, उसकी कल्पना करने पर ही इस सिद्धान्त की वास्तविकता का ज्ञान हो जायगा। अतः रूसो का यह सिद्धान्त सर्वथा असंगत एवं अव्यावहारिक है।

(३) धातु-सिद्धान्त (Root Theory)

इस सिद्धान्त के प्रतिपादक मैक्समूलर (Max Muller) महोदय हैं। इस सिद्धान्त की उद्भावना प्रोफेसर हेस (Heyse) ने की थी। मैक्समूलर का कहना है कि सृष्टि के आदि में मानव में एक ऐसी स्वाभाविक विभाविका शक्ति थी जो चार सौ या पाँच सौ धातुओं को जन्म देकर नष्ट हो गयी है। इन्हीं धातुओं के आधार पर विश्व की भाषाओं का विकास हुआ है। यही कारण है कि विश्व की बहुत-सी भाषाओं में साम्य देखने को मिलता है।

समीक्षा—यह सिद्धान्त भी भाषा की उत्पत्ति की समस्या का समाधान करने में असमर्थ है, क्योंकि (१) चार सौ या पाँच सौ धातुओं की उद्भावना-विषयक मान्यता मात्र मैक्समूलर के मस्तिष्क की उपज है। (२) दूसरे, यदि यह शक्ति थी तो वह कहाँ से आयी और अब लुप्त क्यों हो गयी? (३) तीसरे, विश्व की समग्र भाषाएँ धातुओं पर आधारित नहीं हैं। भाषा का विकास वाक्यों से हुआ है। असभ्यों की भाषा में धातु नाम की कोई चीज नहीं है। चीनी भाषा में धातु नहीं है। अथवस्कन भाषा भी धातुओं से रहित है। (४) यह मत स्वयं ही हास्यास्पद एवं सदोष होने के कारण बाद में मैक्समूलर के द्वारा त्याग दिया गया था। (५) चार सौ या पाँच सौ धातुएँ भी अल्प हैं, फिर इनका भाषानुसार विभाजन भी सम्भव नहीं है। संस्कृत में ही १९७० धातुएँ हैं। फिर धातुएँ ५०० मानना कहाँ तक उचित है। (६) विभाविका शक्ति की कल्पना भी उपहासास्पद है, उसके विनष्ट हो जाने की धारणा भी कल्पनामात्र है, क्योंकि आज भी शब्दों का निर्माण हो रहा है।

(४) अनुकरणमूलकतावाद (Bow-Wow Theory)

इस सिद्धान्त के अनुसार भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह कल्पना की जाती है कि मनुष्य ने पशु-पक्षियों आदि के अनुकरण पर भाषा का निर्माण किया है। इस मत के उद्भावक हारडर हैं। कोयल को 'कुहू-कुहू' करते सुनकर मनुष्य उसे 'कुहू-कुहू' कहने लगा। बिल्ली को म्याऊँ इसी सिद्धान्त के आधार पर कहा जाता है। चीनी भाषा में 'मिआऊँ' (Miaou) बिल्ली को कहा जाता है, कुत्ते के भौंकने को देखकर भौं-भौं आदि शब्द बने हैं।

ध्वनि अनुकरण या ध्वन्यात्मक शब्दों के इस सिद्धान्त का ह्विटनी, पाल तथा अन्य भाषाविज्ञानविदों ने समर्थन किया है। यद्यपि, भाषा की आज की अत्यन्त विकसित अवस्था में, इसके बहुत थोड़े, प्रायः नहीं के बराबर अवशेष रह

गये हैं। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि आरम्भिक अवस्था में ये ध्वनि के अनुकरण पर आधारित ध्वन्यात्मक शब्द भाषा के महत्त्वपूर्ण अंग थे।''

समीक्षा—भाषा में इस प्रकार के अनेक शब्दों को देखकर हम कह सकते हैं कि यह मत आंशिक रूप में सत्य है। किन्तु (१) मानव संसार में सर्वाधिक मननशील प्राणी है, उसने पशु-पक्षियों का अनुकरण किया, स्वयं भाषा का निर्माण क्यों नहीं किया। (२) इस प्रकार के अनुकरणात्मक शब्द किसी भाषा में शतांश भी नहीं होते हैं।

अतः इन्हीं शब्दों के आधार पर किसी एक भाषा के निर्माण की कल्पना करना उचित नहीं है। साथ ही अनुकरणात्मक शब्दों में ध्वनियों का ही महत्त्व है। उच्चारण करने की क्षमता मनुष्य को ईश्वर-प्रदत्त है। अतः यह आवश्यक नहीं था कि वह इसके लिए दूसरे प्राणियों का आश्रय लेता। संसार की कुछ भाषाओं में इस प्रकार के शब्द होते ही नहीं हैं; उदाहरण के लिए—उत्तरी अमरीका की 'अथवस्कन' भाषा ऐसी है जिसमें अनुकरणात्मक शब्दों का अभाव है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अनुकरणमूलकतावाद भाषा की उत्पत्ति का पूर्णतः समाधान प्रस्तुत नहीं करता है, किन्तु कुछ शब्दों का निर्माण इस सिद्धान्त के अनुसार अवश्य ही हुआ है।

(५) मनोभावाभिव्यंजकतावाद (Pooh-Pooh Theory)

अनुकरणमूलकतावाद सिद्धान्त के आधार पर ही इस सिद्धान्त का विकास हुआ है। इस मत के अनुसार मनुष्य विभिन्न अवसरों पर अपने दुख-सुख, घृणा-क्रोध आदि के भावों को व्यक्त करता है। उस समय हस्त-संकेतों और चेष्टाओं के स्थान पर मानव मुख से कुछ ध्वनियों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार अचानक मानव मुख से निःसृत मनोभावाभिव्यंजक शब्दों से ही भाषा की उत्पत्ति एवं विकास हुआ है। इन शब्दों के अन्तर्गत हिन्दी में हाय, आह; संस्कृत में ओह अंग्रेजी में Alas; जर्मन में 'औ'; फ्रेंच में 'अहि' आदि शब्द देख सकते हैं।

समीक्षा—किन्तु यह मत भी अनुकरणमूलकतावाद की भाँति आंशिक रूप में ही सत्य है, क्योंकि (१) विस्मयादिबोधक शब्द सामान्य भावों पर आश्रित होने पर भी विश्व की विभिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न रूप में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के (२) शब्दों की संख्या भी अत्यल्प है। (३) ये शब्द भाषा के प्रधान अंग भी नहीं हैं।

किन्तु इस प्रकार के शब्द भाषा में मिलते हैं, अतः भाषा की उत्पत्ति एवं निर्माण में इनका योग अवश्य है।

(६) श्रमपरिहरणमूलकतावाद—योहेहोवाद (Yo-he-ho Theory)

नायर साहब का कथन है कि मानव परिश्रम के बाद अपनी श्वास-प्रश्वास

क्रिया के द्वारा अपने परिश्रम एवं थकान को शान्त करता है। उस श्वास-प्रश्वास के साथ वह कुछ ध्वनियों का उच्चारण करता है। सड़क पर कार्य करने वाले मजदूर, कपड़े धोने वाले धोबी, मल्लाह आदि हियो-हियो, हूँ, छी-छी आदि शब्द करते हैं। इसी सिद्धान्त के आधार पर यह निश्चित किया गया कि आदि मानव विभिन्न कार्यों को करते हुए कुछ इस प्रकार के उच्चारण करता था, उन्हीं से भाषा के कुछ शब्दों का निर्माण हुआ है।

समीक्षा—(१) विभिन्न भाषाओं में ये शब्द सामान्य रूप में प्राप्त नहीं होते हैं। भारतीय मजदूर कुछ दूसरे प्रकार की ध्वनि तथा अंग्रेज मजदूर दूसरे प्रकार की ध्वनि करते हैं। (२) ये शब्द सार्वदेशिक भाषाओं में अपना समान रूप से महत्त्व नहीं रखते हैं। (३) किन्हीं-किन्हीं भाषाओं में इनकी सत्ता भी नहीं है। (४) इस प्रकार के शब्दों की संख्या भी अत्यल्प है। (५) ये शब्द भाषा के प्रधान अंग भी नहीं हैं।

तथापि यह सिद्धान्त भाषा की उत्पत्ति की समस्या के समाधान में आंशिक रूप में सहयोग करता है।

(७) अनुरणनमूलकतावाद (Ding.dong Theory)

इस मत के अनुसार निर्जीव पदार्थों के परस्पर संसर्ग या आघात से जो ध्वनि निकलती है, उसी के आधार पर बनाये गए शब्दों से भाषा का निर्माण किया गया होगा। इस प्रकार के शब्दों में पत्रम् कलकल, Gass, Daggle आदि शब्द हैं।

समीक्षा—इन अनुरणनात्मक शब्दों से भी भाषा की उत्पत्ति की समस्या का समाधान सम्भव नहीं है, क्योंकि (१) यद्यपि ये शब्द अवश्य अनुकरण के आधार पर बने हैं, किन्तु इनकी संख्या अत्यल्प है। अतः यह सिद्धान्त भी आंशिक रूप में ही समस्या का समाधान कर सकता है।

(८) प्रतीकवाद, इंगित सिद्धान्त या जेस्चर थ्योरी

भाषा की उत्पत्ति की समस्या का समाधान प्रतीकवाद के सिद्धान्त पर करने का भी विद्वानों ने प्रयास किया है। इस मत में विभिन्न ध्वनियों के आधार पर शब्द बने हैं; उदाहरण के लिए—पीने की क्रिया के साथ होठों के हिलने से 'पी' की ध्वनि निकलती है। इसी से पिबति, 'पीना' शब्द निष्पन्न हुए हैं। अरबी का 'शरब' (पीना) भी इसी प्रकार बना है। मामा, पापा, शरबत, दन्त, दाँत, टूथ (Tooth) आदि शब्द भी ऐसे ही बने।

समीक्षा—निश्चय ही इस प्रकार के शब्द भाषा में मिलते हैं (१) किन्तु इनकी मात्रा कम होती है। इनसे किसी सम्पूर्ण भाषा का निर्माण सम्भव नहीं है। (२) साथ ही प्रतीक की क्रिया-प्रणाली भी अभी अस्पष्ट है। (३) इसके अतिरिक्त यदि आदिकाल में कोई भाषा नहीं थी तो फिर यह प्रतीक-निर्धारण कैसे सम्भव हुआ होगा।

अतः यह सिद्धान्त भी आंशिक रूप में ही समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है।

(९) समन्वित विकासवाद का सिद्धान्त या स्वीट का समन्वय सिद्धान्त

मनोभावाभिव्यंजकतावाद, श्रमपरिहरणमूलकतावाद, अनुकरणमूलकतावाद, अनुरणनमूलकतावाद तथा प्रतीकवाद के अनुसार भाषा में थोड़े-थोड़े शब्दों का निर्माण हुआ, इसके पश्चात् भी कुछ शब्दों का निर्माण उपचार से हुआ, अर्थात् ज्ञात से अज्ञात की व्याख्या से अनुसार, जैसे अंग्रेजी का पाइप (Pipe) पहले गड़रिये का बाजा था, उसी के अनुकरण पर Pipe अब नल का वाचक हो गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार आज भी शब्दों का निर्माण हो रहा है। "भाषा का विकास केवल आदिमकाल में ही नहीं हुआ, बल्कि अब भी हो रहा है। जैसे-जैसे ज्ञान-विज्ञान का विकास होता जा रहा है, वैसे-वैसे उनको व्यक्त करने के लिए शब्दों की आवश्यकता भी बढ़ती जा रही है। पहले से उपलब्ध शब्दों के आधार पर नये शब्द बना लिये जाते हैं। इस प्रकार आवश्यकतानुसार भाषा का विकास होता जा रहा है। पुराने शब्दों के आधार पर बनाये हुए नये शब्दों को औपचारिक शब्द भी कहा जाता है। संस्कृत में 'या' का अर्थ जाना है, इसी से यान, यात्रा, अभियान, वायुयान वाष्पयान, जलयान, प्रयाण, हीनयान, महायान आदि अनेक शब्दों का निर्माण कर लिया गया है।.......अंग्रेजी का **Understand** शब्द बड़ा रोचक है। प्राचीनकाल में किसी बात का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिज्ञासु को ज्ञाता से नीचे खड़ा रहना पड़ता था। Under—नीचे; Stand—खड़ा होना, समझने के अर्थ में रूढ़ हो गया है। उन्नीसवीं शताब्दी में कर्नल बायकाट (Colonel Boycott) नामक व्यक्ति को आयरिश लीग से निकाला गया तभी से **बायकाट** शब्द बहिष्कार के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय की ऑनर्स डिग्री का नाम **ट्राइपोज** (Tripos) है। इस शब्द का सम्बन्ध ग्रीक **त्रिपोदोस्** (Tripodos) या संस्कृत **त्रिपाद** के साथ है। डिग्री प्राप्त करने का इच्छुक विद्यार्थी तीनपाँव वाले स्टूल पर बैठकर शास्त्रार्थ किया करता था। इसी से **ट्राइपोज** (Tripos) शब्द की उत्पत्ति हुई।"[1] संस्कृत की कुप्, व्यथ् और रम् धातुएँ मूलतः कम्पन, हिलने और स्थिर होने के अर्थ में प्रयुक्त होती थीं, किन्तु आज ये धातुएँ उपचार से मानसिक अवस्थाओं की सूचक बन गयी हैं। परिणामस्वरूप, कुप् से क्रुद्ध, व्यथ् से दुःखी और रम् से आनन्द लेने का अर्थ स्थिर कर दिया गया है। आशय यह है कि भाषा के विकास में विभिन्न वादों के साथ ही इस उपचारवाद ने भी पर्याप्त सहयोग दिया है।

आज सृष्टि के विकास में **विकासवाद** का सिद्धान्त मान्यता प्राप्त कर चुका है। फलस्वरूप, ज्ञान-विज्ञान की प्रत्येक विधा पर विचार करते समय विकासवाद के

---

1. हिन्दी भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ३३-३४।

सिद्धान्त के आधार पर उसका विचार किया जाता है। इसलिए आज भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न का समाधान भी विद्वान् विकासवाद के आधार पर प्रस्तुत करते हैं।

निष्कर्ष यह है कि भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उल्लिखित सिद्धान्तों में से सांकेतिक उत्पत्तिवाद तथा धातु-सिद्धान्त सर्वथा अमान्य हैं; इनके अतिरिक्त शेष समस्त सिद्धान्तों में समन्वित रूप ने भाषा को विकास प्रदान किया है। प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी हेनरी स्वीट (Henry Sweet) ने इसी समन्वित विकासवाद को स्वीकार किया है। भाषा सृष्टि के आदिमकाल से न जाने कितने संक्रमण, उत्क्रमण और व्युत्क्रमणों को उठाकर आज इस रूप को प्राप्त हुई और भविष्य में भी प्रतीकवाद तथा औपचारिक शब्दों के निर्माण की प्रक्रिया से अपना विकास निरन्तर करती रहेगी।

परोक्ष मार्ग (Inductive Method)

भाषा की उत्पत्ति का अध्ययन करने के लिए द्वितीय पद्धति परोक्ष मार्ग की है। **गैस्पर्सन** आदि विद्वान् इसी वैज्ञानिक पद्धति से भाषा-उत्पत्ति की समस्या का समाधान करते हैं। विद्वानों के अनुसार भाषा के उद्गम तक पहुँचने के लिए हमें तीन रूपों में भाषाओं का अध्ययन करना चाहिए—

(१) बच्चों की भाषा से मूल भाषा की प्रकृति जानना।
(२) प्राचीन असभ्यों की भाषा का अध्ययन।
(३) भाषाओं का ऐतिहासिक अध्ययन।

बच्चों की भाषा—बच्चों की भाषा का अध्ययन करते समय हम देखते हैं कि बालक प्रारम्भ में भाषाविहीन होता है, किन्तु वह अपने हृदयोद्गारों को हँसकर-रोकर प्रकट कर ही देता है। बच्चा अपनी अनुकरण-प्रवृत्ति के द्वारा भाषा को सीखता है। किन्तु इस विचार में हमें **एक दोष** दृष्टिगत होता है कि बच्चों के समक्ष एक भाषा पूर्व से ही विद्यमान होती है। वह मनुष्यों को विभिन्न क्रियाएँ करते देखता है, उन्हीं का अनुकरण करता है। यद्यपि बच्चों की भाषा के माध्यम से भाषा के आदिम रूप का अनुसन्धान का प्रयत्न निश्चय ही प्रशंसनीय तथा मनोरंजक है, किन्तु आदिम मानव के पास भाषा न थी, आज के बच्चों के समक्ष एक भाषा विद्यमान है। अतः बच्चों की भाषा के माध्यम से भाषा के आदिमरूप की खोज पूर्ण एवं सर्वथा यथार्थ होगी, इसमें हमें सन्देह है।

असभ्य जातियों की भाषा—संसार में ऐसी अनेक जातियाँ हैं जो ज्ञान, सभ्यता, संस्कृति और भाषा की दृष्टि से सृष्टि की आदिम अवस्था में ही हैं। इसलिए अनेक विद्वान असभ्य, असंस्कृत, अशिक्षित प्राणियों की भाषा के द्वारा भाषा के मूल रूप का अनुसन्धान करना चाहते हैं। अफ्रीका एवं अमरीका की अनेक जंगली जातियों की भाषा के सम्बन्ध में इस प्रकार के यत्न भी किये गए हैं।

निस्सन्देह इन मनुष्यों की भाषाओं में आदिम भाषा के रूपों की खोज की जा सकती है, किन्तु इन भाषाओं पर सभ्यता, संस्कृति और आज की भाषाओं का थोड़ा-बहुत प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव भी पड़ चुका है, परिवर्तन हो चुका है। अतः ये भाषाएँ आदिम रूप की सूचक नहीं हैं, तथापि इनसे भाषा के आदिम रूप की ओर पहुँचने में सहायचा अवश्य ही मिल सकती है।

ऐतिहासिक अनुसन्धान का मार्ग—भाषा सम्बन्धी ऐतिहासिक अनुसन्धान का यह मार्ग भाषा की उत्पत्ति की खोज में विशेष सहायक, विश्वसनीय एवं महत्त्व-पूर्ण है। भाषा-विज्ञान आज की किसी साहित्यिक भाषा को लेकर क्रमशः उसके अतीत की ओर बढ़ता हुआ उसके मूल रूप तक पहुँचता है और उसकी आदिम प्रकृति की जानकारी करता है; उदाहरणार्थ—आज की हिन्दी को लिया जा सकता है। एक भाषाविज्ञानी हिन्दी की आधुनिक प्रकृति की जानकारी के लिए अपभ्रंश, प्राकृत, पालि, संस्कृत, वैदिक संस्कृत आदि की ओर बढ़ता है और भाषा के मूल रूप को जानने का प्रयत्न करता है। इस प्रक्रिया में भी एक असंगति उत्पन्न होती है। इस प्रक्रिया में भाषाविज्ञानी साहित्यिक भाषाओं का ही अध्ययन करता है, जबकि भाषा-विज्ञान का विषय साहित्यिक भाषाओं की अपेक्षा बोलियाँ होती हैं। किन्तु एक भाषाविज्ञानी के पास आज इन साहित्यिक भाषाओं के अतिरिक्त साधन ही क्या है?

भाषा की उत्पत्ति की समस्या का समाधान अति जटिल है। उसके मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हैं। मानव भी स्वयं अल्पज्ञ है, उसके साधन सीमित हैं; फिर भी इस दिशा में जो प्रयत्न हो रहा है, उसे देखते हुए भविष्य में सुन्दर परिणाम की सम्भावना है।

प्रश्नावली

१. भाषा क्या है? भाषा के शास्त्रीय अर्थ को स्पष्ट करते हुए उसके व्यापक एवं संकुचित रूपों पर विचार प्रकट कीजिए।

२. भाषा, विभाषा, राष्ट्रभाषा आदि भाषा के विविध रूपों को स्पष्ट करते हुए, भाषा एवं बोली के अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

३. भाषा परम्परागत सम्पत्ति है अथवा अर्जित सम्पत्ति है, इस पर विचार करते हुए भाषा की प्रवृत्तियों का उल्लेख कीजिए।

४. भाषा की उत्पत्ति के विभिन्न मतों का उल्लेख करके यह प्रतिपादित कीजिए कि उनमें कौनसा मत समीचीन एवं सर्वमान्य कहा जा सकता है।

५. भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में समन्वित विकासवाद का सिद्धान्त ही सर्वमान्य हैं, इस कथन की पूर्णरूप से परीक्षा कीजिए और इस सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए।

6. भाषा परिवर्तनशील क्यों है ? भाषा-परिवर्तन के प्रमुख कारण क्या हैं ?
7. Discuss the comparative importance of literary languages versus dialects. (A. U. 1961)
8. 'Dialects are more important than a literary languages for a philologist.' Comment. (A. U., 1962)
9. Why are dialects more important than a litrary language for a Philologist. Comment. (A. U., 1964 1957)
10. Differentiate between a dialect and literary language. What is their relative value to a student of Comparative Philology ? (A, U., 1959, 1966)
11 Discuss in detail the causes of change in language. (A. U., 1957, 1952, 1966)
12. What are the main factors that introduce changes in a language ? (A. U., 1963, 1956)
13. Write a note on th causes of change in a language. (A. U., 1964 66)
14. Write a note on the origion of language. (A. U., 1962)
15. Discuss the various theories regarding the origin of language and state which of them appreciate to you most scientific and why. (A. U. 1955, 1959, 1963. 1964, 1965,)

चतुर्थ अध्याय

भाषाओं का वर्गीकरण

- वर्गीकरण, उसका प्रयोजन और आधार
- आकृतिमूलक वर्गीकरण
- पारिवारिक वर्गीकरण
- भारोपीय भाषा-परिवार
- प्राचीन भारतीय आर्यभाषा
- मध्यकालीन आर्यभाषा
- प्रश्नावली

भाषाओं का वर्गीकरण

वर्गीकरण क्यों, वर्गीकरण का प्रयोजन

आज का युग विज्ञान का युग है, अतः भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए तदनुरूप तुलनात्मक दृष्टिकोण की अपेक्षा रहती है। भाषा के वर्तमान स्वरूप के अध्ययन के लिए भाषा-विशेष के रूप, अर्थ, ध्वनि का परिज्ञान ही अपेक्षित नहीं है, अपितु उनका मूल, देश, इतिहास आदि का ज्ञान भी नितान्त अनिवार्य है। इसी अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति के लिए विश्व की भाषाओं का तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन प्रारम्भ हुआ। इस अध्ययन की सुविधा के लिए विश्व की भाषाओं का आकृति-प्रकृति के आधार पर वर्गीकरण करना भी आवश्यक प्रतीत हुआ। इसी लिए विश्व की भाषाओं का वर्गीकरण किया गया है।

वर्गीकरण का आधार

देश—भाषाओं के वर्गीकरण का आधार क्या होना चाहिए ? भाषा-विज्ञान के प्रारम्भिक अध्ययन के समय देश को आधार बनाकर भाषाओं के वर्गीकरण की प्रवृत्ति चली थी। इसके आधार पर भारत की भाषाएँ, यूरोप की भाषाएँ, एशिया की भाषाएँ, अमरीका की भाषाएँ; इस प्रकार के वर्गीकरण किये गए थे।

किन्तु देश के आधार पर किया गया यह वर्गीकरण तर्कसंगत एवं उचित सिद्ध न हुआ, क्योंकि प्रवास के कारण देशान्तरों को जाने वाले व्यक्ति अपने साथ अपनी भाषाएँ ले जाते थे। परिणामस्वरूप, एक ही प्रान्त में अनेक भाषा-भाषी व्यक्ति होते थे। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक न था कि देश में बोली जाने वाली सभी भाषाएँ एक दूसरे से निकट सम्बद्ध हों अथवा विभिन्न देशों में प्रयोग में आने वाली विभिन्न भाषाएँ एक दूसरे से नितान्त दूर हों। उदाहरण के लिए, भारत में ही बोली जाने वाली भाषाएँ तमिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़; भारत की संस्कृत, गुजराती और मराठी आदि भाषाओं से भिन्न हैं। किन्तु संस्कृत, बँगला, मराठी का दूरदेशीय जर्मन और अंग्रेजी से निकट सम्बन्ध है। अतः देशों के आधार पर भाषाओं का वर्गीकरण उचित नहीं है।

धर्म—विश्व के राष्ट्रों में धर्म की महत्ता स्वयंसिद्ध है, इसीलिए जातियों का वर्गीकरण धर्म के आधार पर हुआ और भाषाओं का वर्गीकरण भी धर्म के आधार पर—आर्यभाषाएँ, ईसाई भाषाएँ, मुस्लिम भाषाएँ आदि किया गया है।

समीक्षा—किन्तु यह वर्गीकरण तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि जब एक देश के व्यक्ति ही एक प्रकार की भाषा नहीं बोल सकते तो फिर विश्वव्यापी धर्म के अनुयायी एक भाषा कैसे बोल सकते हैं ? अतः धर्म के आधार पर भाषाओं का वर्गीकरण भी असंगत है ;

आकृति—भाषाओं के वर्गीकरण का तीसरा आधार रूप तथा आकृति है। इस वर्गीकरण को आकृतिमूलक या रूपात्मक वर्गीकरण (Morphological Classification) कहा जाता है। रूप-आकृति के आधार पर साम्य रखने वाली भाषाओं को इस वर्गीकरण में रखा जाता है।

समीक्षा—प्रारम्भ में इस वर्गीकरण को अत्यधिक लोकप्रियता मिली, किन्तु वैज्ञानिक-तुलनात्मक दृष्टि के उन्मेष के साथ ही भाषाओं के बाह्य स्वरूप की समानता उनके अध्ययन में बाधक सिद्ध हुई, तथापि आकृतिमूलक वर्गीकरण का महत्त्व है। भाषाओं के विकास-क्रम की प्रक्रिया को स्पष्ट करने में यह वर्गीकरण सहायक है।

इतिहास—विश्व की भाषाओं का इतिहास के आधार पर पारिवारिक वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया। यह वर्गीकरण अधिक वैज्ञानिक सिद्ध हुआ। इसके आधार पर विश्व की भाषाओं को कुलों-परिवारों में विभक्त किया गया है। जिस प्रक.र मानव की अपनी वंशपरम्परागत कुछ विशेषताएँ होती हैं। उन्हीं के आधार पर उसके आदर्श, मान्यताएँ, धर्म आदि बनते-बिगड़ते हैं। उसी प्रकार भाषाओं की कहानी भी परिवारों के आधार पर सहज ही स्पष्ट की जा सकती है।

आकृतिमूलक वर्गीकरण

आकृतिमूलक वर्गीकरण को रूपात्मक, पदात्मक या रचनात्मक वर्गीकरण भी कहते हैं। आकृति और रूप समानार्थक शब्द हैं। आकृतिमूलकका आशय यह है कि "रचना उस आकृति या रूप की निष्पत्ति-प्रक्रिया की व्याख्या है। पदात्मक का सम्बन्ध भी रचना से है।"

विषय की स्पष्टता के लिए शब्द और पद की रचना-प्रक्रिया को देखना आवश्यक है।

वाक्य में प्रयुक्त ध्वनिसमूह को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) अर्थतत्त्व अथवा सामग्री (Material)

(२) सम्बन्धतत्त्व प्रत्यय अथवा शैली (Formal)

उदाहरण के लिए, 'रामः पठति' में 'राम्' और 'पठ्' अर्थतत्त्व हैं और 'सः' एवं

'ति' सम्बन्धतत्त्व हैं। यही सम्बन्धतत्त्व उसका रूपतत्त्व है। जिन भाषाओं में रूपतत्त्व की समानता मिलती है, उन्हें आकृतिमूलक वर्गीकरण में रखा जाता है। इस वर्गीकरण में वाक्य का विशेष महत्त्व होता है। अतः इसे **वाक्यमूलक वर्गीकरण** (Syntactic Classification) भी कहा जाता है। आशय यह है कि आकृतिमूलक वर्गीकरण में (१) शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है, (२) ये शब्द किस प्रकार धातु, प्रत्यय अथवा उपसर्ग द्वारा निर्मित हैं, आदि पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता है।

आकृतिमूलक वर्गीकरण के आधार पर भाषाओं के विभाजन में मतभेद है। डा० मंगलदेव[1] शब्द-रचना की दृष्टि से मानवीय भाषाओं को प्रधानतः तीन वर्गों में बाँटते हैं :

(i) अयोगात्मक
(ii) योगात्मक
(iii) विभक्तियुक्त

किन्तु कुछ भाषा-विज्ञानी लेखक—जैसे तारापुर वाला[2], बाबूराम सक्सेना[3], भोलानाथ तिवारी[4], मनमोहन गौतम[5]—दो भागों में विभक्त करते हैं :

(i) अयोगात्मक
(ii) योगात्मक

योगात्मक को वे पुनः अश्लिष्ट (Agglutinating), श्लिष्ट (Inflecting) और प्रश्लिष्ट (Incorporating) इन तीन भागों में विभक्त करते हैं। डा० मंगलदेव इन्हीं को क्रमशः योगात्मक, विभक्तियुक्त और बहु-संश्लेषणात्मक नामों से व्यवहृत करते हैं।[6] ऋषिगोपाल महोदय ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन' में इन्हीं को चार रूपों में सीधे ही विभक्त किया है :

(i) अयोगात्मक (Isolating)
(ii) अश्लिष्ट योगात्मक (Agglutinating)
(iii) श्लिष्ट योगात्मक (Inflecting)
(iv) प्रश्लिष्ट योगात्मक (Polysynthetic)

---

1. तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, पृ० ६८।
2. Elements of the Science of Language, pp. 22-23.
3. सामान्य भाषा-विज्ञान, पृ० १२१-१२५।
4. भाषा-विज्ञान, पृ० ५४।
5. सरल भाषा-विज्ञान, पृ० ७८।
6. तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, पृ० ८०।

डा० पी० डी० गुणे[1] ने अपनी पुस्तक में आकृतिमूलक वर्गीकरण के चार भेद माने हैं :

(i) The Agglutinative Language. योगात्मक या प्रत्यय-प्रधान उदाहरण—तुर्की

ii) The Agglutinative-Inflectional, श्लिष्टयोगात्मक, उदाहरण—तिब्बती

(iii) Isolating, अयोगात्मक या धातु-प्रधान; उदाहरण—चीनी

(iv) The Inflectional. श्लिष्ट भाषाएँ—भारोपीय भाषाएँ

इस वर्गीकरण का आधार अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व का पारस्परिक संयोग और वियोग है।

क्रमशः इनका संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार है :

अयोगात्मक (Isolating) व्यासप्रधान, निरवयव

अयोगात्मक भाषाओं में प्रत्येक शब्द स्वतन्त्र रीति से अलग-अलग प्रयुक्त होता है। उसमें प्रकृति-प्रत्यय का योग नहीं होता है। उद्देश्य और विधेय आदि का सम्बन्ध स्थान और स्वर के द्वारा प्रकट होता है। स्वर-भेद से समानाकार अनेकार्थक शब्दों के विभिन्न स्थलों पर अर्थनिर्णय करने में सहायता मिलती है। "इसमें किसी वाक्य में शब्द का स्थान ही उसकी विशेषता या उसकी व्याकरणिक कार्यकारिता को निर्धारित करता है, अर्थात् कोई शब्द क्रिया, संज्ञा अथवा विशेषण इसलिए नहीं होता कि उसमें इनकी विशेषताएँ होती हैं, वरन् इसलिए होता है कि उसका वाक्य में इसका विशेष स्थान होता है।"[2] वर्णानुपूर्वी की दृष्टि से एक ही शब्द अनेकार्थक होता हैं; जैसे—चीनी भाषा में Tao (तो) शब्द के पहुँचना, ढाँपना, झण्डा, घाव, रास्ता; तथा Lu (लू) के गाड़ी, जवाहिर, ओस, त्याग करना, रास्ता आदि अनेक अर्थ होते हैं। इन अयोगात्मक भाषाओं में केवल स्वतन्त्र रूप ही मिलते हैं। इन भाषाओं की शब्द-रचना अत्यधिक सरल होती है। प्रकृतियाँ ही इनमें प्रधान हैं, प्रत्ययों का अभाव होता है। "प्रत्येक शब्द वाक्य में, प्रत्येक अवस्था में, अव्ययों की तरह एक ही रूप रहता है। इसीलिए इन भाषाओं में और भाषाओं के सदृश, शब्दों का नाम विशेषण, सर्वनाम, क्रिया, क्रिया-विशेषण इत्यादि प्रकार का विभाग भी नहीं किया जाता।"[3]

व्यासप्रधान भाषाओं का सर्वोत्तम उदाहरण चीनी भाषा है। वाक्य में एक ही शब्द, स्थान और प्रयोग के अनुसार संज्ञा, विशेषण या क्रिया आदि हो सकता

---

1. **Comparative Philology, pp. 99-102.**
2. **डा० गुणे तुलनात्मक भाषा-विज्ञान**, पृ० ६१।
3. वही, पृ० ६६।

है; उदाहरण के लिए—चीनी भाषा में स्थान-भेद से 'तालेन' का अर्थ होता है 'बड़ा आदमी' और 'लेनता' का अर्थ हो जाता है 'आदमी बड़ा' (है)। इसी प्रकार 'न्गोतनि' का अर्थ होता है—'मैं मारता हूँ तुमको।' और इसका उल्टा करने पर 'नितन्गो' का अर्थ 'तुम मारता है मुझको' हो जाता है। 'त्सेन' का अर्थ है 'चलना' और भूतकालवाचक अर्थ के लिए 'लियोन' शब्द है जिसका अर्थ है समाप्त करना, 'त्सेनलियोन' दोनों सम्मिलित शब्दों का अर्थ होता है 'चल चुका'। 'तलई' शब्द का अर्थ है 'आता है' तथा 'तलईलियाँव' का अर्थ है 'वह आता है'। 'निपात' (वाक्य के बीच में नये शब्द का आना) से भी अर्थ परिवर्तन होता है; जैसे—'वांगपाओमिन' का अर्थ है 'राजा लोगों की रक्षा करता है'। अब यदि 'ची' निपात बढ़ाकर 'वांगपाओचीमिन' कर दिया जाय तो इसका 'राजा द्वारा रक्षित लोग' अर्थ हो जाता है। स्वरभेद से भी अर्थ-परिवर्तन हो जाता है—'क्वेईक्वोक' में उदात्त स्वर के आने पर इसका अर्थ मान्य या विशिष्ट देश हो जायगा।

प्रधानतः इन भाषाओं को अयोगात्मक कहा जाता है किन्तु इनके कुछ अन्य नामों का भी प्रयोग होता है—व्यासप्रधान, निरवयव, निरिन्द्रिय, निपातप्रधान, एकाक्षर, एकाच्, धातुप्रधान निर्योग आदि। अयोगात्मक भाषाओं में अफ्रीका की सूडानी भाषा, एशिया की चीनी, तिब्बती, बर्मी, स्यामी आदि भाषाएँ आती हैं। इस प्रकार की भाषाओं के स्थान-प्रधान, निपात-प्रधान और स्वर-प्रधान ये तीन भेद किये जाते हैं।

योगात्मक (Agglutinating) सावयव भाषा—अयोगात्मक भाषाओं में प्रत्येक शब्द की स्वतन्त्र सत्ता होती है। अर्थतत्त्व तथा सम्बन्धतत्त्व में योग नहीं होता है, अर्थात् प्रकृति और प्रत्यय के योग की कल्पना नहीं की जाती है। किन्तु योगात्मक भाषाओं में प्रकृति और प्रत्यय के योग से शब्दों की रचना होती है। "शब्दों के रूप प्रत्ययों से बनते हैं और दोनों एक सीमा तक परस्पर चिपके हुए प्रतीत होते हैं; फिर भी मूलशब्द और प्रत्यय सदैव अपना अस्तित्व अलग रखते हैं और उनको मिलाने के बाद भी स्पष्टतः अलग-अलग देखा जा सकता है। प्रत्यय जोड़ने पर यदि कोई ध्वनि-परिवर्तन होता भी है तो वह वैसा आवश्यक नहीं है; जैसाकि भारोपीय भाषाओं में है। इनमें प्रत्यय मूल शब्द से अलग किये जा सकते हैं और उन्हें स्वतन्त्र शब्द समझा जा सकता है। इसका एक लाभ यह है कि एकवचन और बहुवचन के लिए पृथक् सम्बन्ध-तत्त्वों की आवश्यकता नहीं होती, उसके लिए मूल शब्द और सम्बन्धतत्त्व के बीच में प्रत्यय का परिवर्तन ही पर्याप्त है।" इन भाषाओं में शब्द की स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, अपितु सम्बन्ध-तत्त्व (प्रत्यय) अर्थतत्त्व (प्रकृति या धातु) के साथ जोड़ दिया जाता है। प्रत्येक शब्द प्रकृति रूप न होकर प्रकृति-प्रत्यय के संयोग का परिणाम होता है; उदाहरणार्थ, संस्कृत में 'रामेण हतो बालिः' में 'राम' के साथ तृतीया के 'एन्' का तथा 'हन्' के साथ 'तः'

प्रत्यय का और 'बालि' के साथ 'अ:' प्रत्यय का योग है। विश्व में योगात्मक भाषाएँ ही सर्वाधिक हैं। संसार में परस्पर विभिन्न जातियों में भी इस वर्ग की भाषाएँ उपलब्ध होती हैं।

योगात्मक भाषाओं को उनके प्रकृति-प्रत्यय के संयोग के आधार पर तीन विभागों में विभक्त किया जाता है .

(१) अश्लिष्ट योगात्मक (प्रत्यय-प्रधान) भाषा।
(२) प्रश्लिष्ट योगात्मक (समास-प्रधान) भाषा।
(३) श्लिष्ट योगात्मक (विभक्ति-प्रधान) भाषा।

अश्लिष्ट योगात्मक

यदि भाषा में अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व का पारस्परिक योग हो, किन्तु उसकी स्थिति स्पष्टतः परिलक्षित होती हो, ऐसी भाषा अश्लिष्ट योगात्मक कहलाती है। अश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं के वाक्यों में प्रत्ययों की प्रधानता रहती है जिनकी सत्ता स्पष्टतः दृष्टिगत होती है। ऐसे वाक्यों में एक से अनेक प्रत्यय लगाकर विभिन्न अर्थ निकाले जाते हैं। उदाहरण के लिए, 'जुलु' भाषा में 'तु चिल यवनोकल' के पूर्व प्रत्यय लगाने पर यह वाक्य बनता है—'उमन्तु-वेतु ओमुच्चले उयवनोकल' अर्थात् 'हमारा आदमी देखने में भला है'। इसी वाक्य का बहुवचन 'अवन्तु वेतु अवच्चले वयवनो कल' अर्थात् 'हमारे आदमी देखने में भले हैं'। इसी प्रकार 'पर प्रत्यय-प्रधान' तुर्की भाषा में एंव=घर, एवलेर=कई घर, एवलेरइम= मेरे घर। अश्लिष्ट योगात्मक (प्रत्यय-प्रधान) भाषा में व्याकरण सम्बन्ध पुरः प्रत्यय अन्तः प्रत्यय, पर प्रत्यय के संयोग से सूचित किया जाता है। कुछ भाषाएँ सर्व प्रत्यय-प्रधान और कुछ ईषत् प्रत्यय प्रधान होती हैं। प्रत्यय-प्रधान अश्लिष्ट भाषाओं को विद्वानों ने चार भागों में विभक्त किया है :

(१) पुरः प्रत्यय-प्रधान—पूर्व योगात्मक (Prefix agglutinative)
(२) मध्य प्रत्यय-प्रधान—मध्य योगात्मक (Infix agglutinative)
(३) पर प्रत्यय-प्रधान—अन्त योगात्मक (Suffix agglutinative)
(४) पूर्वान्त योगात्मक—आंशिक योगात्मक (Prefix-Suxffi agglutinative)।

(१) पूर्व योगात्मक—पुरः प्रत्यय-प्रधान—भाषाओं में 'बान्तु परिवार' की भाषाओं की गणना होती है। पूर्व योगात्मक भाषाओं में सम्बन्धतत्त्व आरम्भ में लगता है। इस परिवार की भाषाओं को तीन वर्गों में विभक्त किया जाता है—(१) पूर्वी, (२) मध्यवर्ती, (३) पश्चिमी। पूर्वी भाषाओं में काफिर और जुलू मुख्य भाषा हैं। काफिर भाषा में 'कु' उपसर्ग का अर्थ होता है—को। ति (हम) नि (उन) आदि सर्वनाम हैं। इसका परस्पर योग होने पर :

कु-ति=हमको।
कु-नि=उनको।
कु-जे=उसको।

जुलू भाषा के उदाहरण ऊपर दे चुके हैं। पूर्व प्रत्यय जोड़ने की प्रवृत्ति के दर्शन संस्कृत में भी हो जाते हैं; जैसे—गच्छति=जाता है और अवगच्छत=जानता है।

(२) **मध्य प्रत्यय-प्रधान—मध्य योगात्मक**—मध्य योगात्मक भाषाओं में सम्बन्धतत्त्व की योजना मध्य में होती है। मलाया परिवार की मुख्य भाषा फिलिपाइन की टगलॉग (Tagalog) भाषा मध्य योगात्मक भाषा का ही उदाहरण है; जैसे—

सुलत्=लेख।
सुमूलत्=(स+उम्+ऊलत्) लिखने वाला।
सिनूलत=(स+इन+ऊलत्) लिखा गया।

इस उदाहरण में 'उम्' और 'इन' मध्य प्रत्ययों का प्रयोग हुआ है। भारत की मुण्डा परिवार की भाषाओं में भी मध्य प्रत्ययों का प्रयोग किया गया है; जैसे—संथाली भाषा में 'मंझि' का अर्थ है मुखिया और 'मपंझि' का अर्थ है मुखियागण। इस प्रकार स्पष्ट है कि 'प' मध्य प्रत्यय का प्रयोग बहुवचन में होता है। इस प्रकार तुर्की भाषा का एक उदाहरण भी दर्शनीय है—सेव्मेक' का अर्थ है 'प्यार करना' 'सेव इन मेक' का अर्थ हुआ, 'अपने को प्यार करता है' और 'सेव् इल मेक' का अर्थ हुआ 'प्यार किया जाना'। यहाँ भी 'इन्' और 'इल' प्रत्ययों का प्रयोग मध्य में हुआ। इसी प्रकार 'दल्' का अर्थ है 'मारना' और 'दपल्' का अर्थ है 'परस्पर मारना'। इस क्रिया में 'प' प्रत्यय का प्रयोग मध्य में हुआ है।

कुछ भाषाएँ ईषत् प्रत्यय-प्रधान भी होती हैं, इनमें प्रत्यय के साथ कारक, समास और विभक्ति की भी योजना होती है।

(३) **पर प्रत्यय-प्रधान—अन्त योगात्मक**—अन्त योगात्मक भाषाओं में प्रत्यय अन्त में संयुक्त होता है। यूराल, अल्टाइक तथा द्रविड़ परिवार की भाषाओं में अन्त योग के उदाहरण मिलते हैं। तुर्की भाषा अन्त योगात्मकता के लिए प्रसिद्ध है :

'यव' का अर्थ है 'घर'
'एवलेर' का अर्थ हुआ 'कई घर'।
'एवलेर इम' का अर्थ हुआ 'मेरे घर'।
'यज' का अर्थ है 'लिख'।
'यज्मक्' का अर्थ है 'लिखना'।

यजिस्मक् (यज्+इस्+मक)=परस्पर लिखना।

यज्दिर्मक् (यज+दिर्+मक)=लिखवाना।

यजिल्मक (यज+इल्+मक)=लिखाया जाता।

भारतीय दक्षिणी भाषाओं—कन्नड़, मलयालम आदि—में भी अन्त योगात्मकता दृष्टिगत होती है।

कन्नड भाषा—सेवक शब्द से सेवकरु (कर्ता), सेवक-रन्नु (कर्म), सेवक-रिन्द (करण), सेवक-रिगे (सम्प्रदान) सेवक-र (सम्बन्ध), सेवक-रल्लि (अधिकरण) आदि रूप बनते हैं।

इसी प्रकार मलयालम भाषा में बहुवचन के रूप इस प्रकार बनते हैं; सेवकन्-मार (कर्ता), सेवकन्-मारे (कर्म), सेवकन्-माराल् (करण), सेवकनमारकु (सम्प्रदान), सेवकन्-मारुटे (सम्बन्ध), सेवकन्-मार-इल (अधिकरण)। आशय यह है कि कन्नड़-मलयालम में प्रत्यय अन्त में संयुक्त होते हैं। इन भाषाओं को पर-प्रत्यय-प्रधान' या 'अन्त-योगात्मक' कहा जाता है।

(४) सर्व प्रत्यय-प्रधान या पूर्वान्त-योगात्मक—'सर्व-प्रत्यय-प्रधान' भाषाओं के अर्थतत्त्व के पूर्व तथा पश्चात् दोनों ओर प्रत्यय जोड़े जाते हैं। सर्व-प्रत्यय-प्रधान भाषाओं में प्रशान्त महासागर चक्र की 'पपुआई परिवार' की भाषाएँ आती हैं। न्यूगिनी द्वीप की 'मफोर' भाषा में प्रकृति और प्रत्यय का संयोग शब्द में इस प्रकार होता है :

स्नफ़ =सुनना।
जस्नफ् =मैं सुनता हूँ।
जस्नफ्उ =मैं तेरी बात सुनता हूँ।

यहाँ 'ज' आदि में और 'उ' प्रत्यय अन्त में संयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार :

स्नफ् =सुनना।
बस्नफ् =तू सुनता है।
इस्नफ् =वह सुनता है।
सिस्नफ् =वे सुनते हैं।
सिस्नइफ्=उसकी बात सुनते हैं।

प्रश्लिष्ट योगात्मक (Incorporative) समास-प्रधान

प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में प्रकृति-प्रत्यय इस प्रकार संश्लिष्ट होते हैं कि उन्हें अलग करना असम्भव-सा लगता है। प्रश्लिष्ट-योगात्मक-भाषाओं की एक विशेषता यह भी है कि इस भाषा के वाक्यों में अनेक शब्द न आकर शब्दखण्ड संयुक्त होते हैं। परिणामस्वरूप, एक दीर्घ वाक्य बन जाता है। ग्रीनलैण्ड तथा दक्षिणी अमरीका की भाषाएँ इसी प्रकार की हैं। संस्कृत भाषा यद्यपि

प्रधानतः श्लिष्ट-योगात्मक है, किन्तु उसमें प्रश्लिष्ट-योगात्मकता के लक्षण दृष्टिगत होते हैं; जैसे :

तैरभिप्रेतार्थसाधनेऽभिनवकौशलप्रदर्शनंकृतमासीत्, अर्थात् 'उन्होंने अपना अभिप्राय सिद्ध करने में नूतन कुशलता दिखायी'। यद्यपि अंग्रेजी भी समास-प्रधान भाषा नहीं है, तथापि यत्र-तत्र इस प्रकृति के दर्शन किये जा सकते हैं—United Nations Economical, Social and Cultural Organization इन सभी शब्दों के प्रथमाक्षरों के संयोग से यूनेस्को (UNESCO) शब्द बनता है।

प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं के सम्बन्धतत्त्व और अर्थतत्त्व की दृष्टि से दो विभाग हो सकते हैं—

(१) पूर्ण प्रश्लिष्ट

(२) आंशिक प्रश्लिष्ट

पूर्ण प्रश्लिष्ट—पूर्ण प्रश्लिष्ट भाषाएँ अपेक्षाकृत अधिक जटिल होती हैं। अपनी प्रकृति के कारण इस भाषा के शब्दखण्डों से पूरा वाक्य एक लम्बा-सा शब्द बन जाता है। दक्षिणी अमरीका की **चैरोकी** भाषा का एक उदाहरण :

नातेन=लाओ।

आमोखल=नाव।

निन=हम।

इन तीनों शब्दों के संयोग से 'नाधोलिनिन' शब्द का अर्थ है—'हमारे पास नाव लाओ।'

ग्रीनलैण्ड की **एस्किमो** भाषा में भी पूर्ण प्रलिष्टावस्था के दर्शन होते हैं :

अउलिसर=मछली मारना।

पेअर्तोर=किसी काम में लगना।

पिन्नेसुअर्पोक=वह जल्दी करता है।

इन तीनों से मिलकर—'अउलिसरिअर्तोरसुर्पोक' (वह मछली मारने के लिए जाने की जल्दी करता है) एक शब्द से निर्मित वाक्य बन जाता है।

आंशिक प्रश्लिष्ट—आंशिक प्रश्लिष्ट भाषाओं में क्रियाओं और सर्वनाम का संयोग इस प्रकार से होता है कि क्रिया का अस्तित्व ही शेष नहीं रहता। बास्क भाषा का एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

बकार्क ओत—मैं इसे उसके पास ले जाता हूँ।

नकार्सु—तुम मुझे ले जाते हो।

इन दोनों ही वाक्यों में सर्वनाम और क्रियाओं के अतिरिक्त संज्ञा, विशेषण, अव्यय आदि का योग नहीं होता है।

श्लिष्ट योगात्मक (Inflectional) विभक्ति-प्रधान

श्लिष्ट योगात्मक भाषाओं के वाक्यों में विभक्ति की प्रधानता होती है, जिनमें वाक्य आदि का सम्बन्ध विभक्ति के द्वारा प्रकट होता है। विभक्ति-प्रधान वाक्य में प्रत्यय ही सम्बन्ध का ज्ञान कराते हैं। किन्तु स्वयं वे अस्तित्वहीन हो जाते हैं। "योगात्मक भाषाओं में प्रकृति-प्रत्यय का भेद-भाव स्पष्ट बना रहता है और उनका पूरी रीति से एकीभाव नहीं होने पाता। इसके विरुद्ध, विभक्तियुक्त भाषाओं में प्रकृति और प्रत्यय का प्रायः एकीभाव हो जाता है।"......जहाँ योगात्मक भाषाओं में प्रकृत्यंश सदा जैसा-का-तैसा रहता है और प्रत्ययांश में ही थोड़ा परिवर्तन होता है, वहाँ विभक्तियुक्त भाषाओं में प्रकृत्यंश भी परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार विभक्तियुक्त भाषाओं में प्रकृति और प्रत्यय—दोनों के परिवर्तित हो जाने से ही दोनों परस्पर इतने सट जाते हैं कि उनमें बिलकुल एकीभाव हो जाता है।"[1] डा० मंगलदेव ने आकृति के आधार पर भाषाओं के तीन वर्गीकरण किये हैं—अयोगात्मक, योगात्मक और विभक्ति-प्रधान। उनके वर्गीकरण का आधार यही है। पुनश्च वे लिखते हैं कि—दोनों की शब्द-रचना का मूल सिद्धान्त एक ही है; केवल भेद इतना है कि विभक्तियुक्त भाषाओं में प्रकृति-प्रत्यय का परस्पर मेल योगात्मक भाषाओं की अपेक्षा कहीं अधिक गहरा होता है। साथ ही, विभक्तियुक्त भाषाओं में भी यह घनिष्ठ सम्बन्ध सदा नहीं पाया जाता।[2]

श्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में सम्बन्धतत्त्व को अर्थतत्त्व से इस प्रकार संश्लिष्ट कर दिया जाता है कि अर्थतत्त्व के अंश में विकृति आ जाती है। अर्थतत्त्व यद्यपि अपना अस्तित्व खो देता है; फिर भी सम्बन्धतत्त्व की झलक स्पष्ट परिलक्षित होती रहती है। उदाहरणतः ईश्वर शब्द से ऐश्वर्य की निष्पत्ति होने पर 'य' प्रत्यय जोड़ा गया है, साथ ही ई का ऐ हो गया है। वेद से वैदिक, नीति से नैतिक आदि शब्द इसी प्रकार के हैं जहाँ सम्बन्ध तथा अर्थतत्त्व की प्रतीति स्पष्ट है। संस्कृत, अरबी आदि भाषाओं में भी इस प्रकार की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है।

विभक्तियाँ अन्तर्मुखी हैं या बहिर्मुखी इसी के आधार पर श्लिष्ट योगात्मक भाषाओं के विद्वानों ने दो विभाग किये हैं :

(१) अन्तर्मुखी श्लिष्ट (विभक्ति-प्रधान भाषाएँ),
(२) बहिर्मुखी श्लिष्ट (विभक्त-प्रधान भाषाएँ)।

इन भाषाओं के भी दो-दो उपभेद मिलते हैं :

(१) संहित—संयोगात्मक (Synthetic),
(२) व्यवहित—वियोगात्मक (Analytic)

---

1. तुलनात्मक भाषाविज्ञान—डा० मंगलदेव, पृ० ७२-७३।
2. वही, पृ० ७३।

अन्तर्मुखी भाषाओं में सम्बद्ध अंश अर्थतत्त्व के बीच में मिल जाते हैं। सैमेटिक और हैमेटिक परिवार की भाषाएँ इसी वर्ग में आती हैं। बहिर्मुखी भाषाओं में जोड़े हुए अंश अर्थतत्त्व के अन्त में आते हैं। इस वर्ग में भारोपीय परिवार की संस्कृत, लैटिन, ग्रीक आदि भाषाएँ आती हैं।

अन्तर्मुखी भाषाओं में एक उदाहरण अरबी भाषा का प्रस्तुत है :

क्-त्-ल् धातु का अर्थ है मारना।
क़तल=खून।
क़ातिल=मारने वाला।
क़िल्ल=शत्रु।
यकतुल=वह मारता है।
क़ितल=प्रहार।

इन उदाहरणों में सम्बन्धतत्त्व इस प्रकार मूल धातु से सम्बद्ध हैं कि उन्हें अलग-अलग नहीं देखा जा सकता। अन्तर्मुखी श्लिष्ट भाषा की संयोगात्मक भाषाओं का उदाहरण अरबी है तथा वियोगात्मक भाषा का उदाहरण हिब्रू भाषा है।

बहिर्मुखी भाषाओं में भारोपीय परिवार की भाषाएँ आती हैं। इनमें सहायक क्रिया और परसर्ग आदि को सम्बद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। पूर्व से ही उनकी सत्ता विद्यमान रहती है। उदाहरणत: संस्कृत भाषा में स: गच्छति (वह जाता है)—'स:' में प्रथमा विभक्ति और 'गच्छति' में तिप्रत्यय संयोगात्मक है।

संयोगात्मक-वियोगात्मक भाषाओं की दृष्टि से आज अधिकांश भाषाएँ वियोगात्मक हो गयी हैं। लिथुआनियन भाषा आज भी संयोगात्मक है। संयोगात्मक भाषाओं में ग्रीक, लैटिन, संस्कृत और अवेस्ता प्रधान हैं तथा वियोगात्मक भाषाओं में हिन्दी, बँगला तथा अंग्रेजी प्रधान हैं।

आकृतिमूलक-वर्गीकरण की समीक्षा

प्रारम्भ में आकृतिमूलक-वर्गीकरण बहुत दिनों तक मान्य रहा है। भाषा-विज्ञान का एक प्रमुख अंग भाषाओं का रूपविश्लेषण है। यह वर्गीकरण प्रधानत: रूप-विश्लेषण पर आधारित है अत: इसका महत्त्व स्वीकार्य है। इसीलिए डा० श्यामसुन्दरदास ने लिखा है—"वाक्य और शब्दों की प्रकृति का सम्यक् विवेचन करने के लिए भाषाओं का आकृतिमूलक अथवा रूपात्मक वर्गीकरण अच्छा समझा जाता है।" आकृतिमूलक-वर्गीकरण भाषा के विकास-क्रम को स्पष्ट करता है।

किन्तु आकृतिमूलक-वर्गीकरण में विश्व की भाषाओं का समुचित विभाजन नहीं हो पाता। इस वर्गीकरण में परस्पर किसी प्रकार का भी सम्बन्ध न रखने वाली भाषाओं को एक वर्ग में रख दिया जाता है। उदाहरण के लिए, यदि हिन्दी

को अश्लिष्ट योगात्मक मान लें तो उसी वर्ग में तुर्की, अफ्रीका की काफ़िर, फिलिपाइन की टगलॉग, न्यूगिनी की मफोर आदि भाषाएँ हैं जिनका हिन्दी से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। योगात्मक, अयोग्यात्मक दो वर्गीकरण स्पष्ट होते हुए भी योगात्मक भाषाओं के उपसर्गों की सीमा-रेखा अत्यन्त धूमिल है। परिणामस्वरूप एक ही भाषा अश्लिष्ट, श्लिष्ट और प्रश्लिष्ट हो सकती है। हिन्दी, संस्कृत, तुर्की आदि भाषाएँ विभिन्न वर्गों के लिए उदाहरण दे सकने में समर्थ हैं। इसके अतिरिक्त यह वर्गीकरण भाषा के बाह्य पक्ष का सूचक है। अतः अधिक वैज्ञानिक नहीं है। इस सम्बन्ध में देवेन्द्रनाथ शर्मा ने लिखा है कि वर्गीकरण के इस आधार पर बहुत वैज्ञानिक निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते। इसके दो प्रमुख कारण हैं —

(१) "एक तो यह कि श्लिष्ट अथवा प्रश्लिष्ट में स्पष्ट विभाजक-रेखा खींचना कठिन है। प्रत्येक भाषा में कुछ अंश ऐसा है जो इन तीनों वर्णों में समाविष्ट हो जाता है। संस्कृत को ही ले लीजिए। उपसर्गों या क्रिया विभक्तियों का अस्तित्व अर्थ-तत्त्व से पृथक् झलकता रहता है। जैसे, प्रभवति, प्रहरति में उपसर्ग (प्र), धातु (भू एवं हृ) और विभक्ति (ति) का रूप बिल्कुल स्पष्ट है। 'वैदिक', 'नैतिक' आदि शब्द श्लिष्ट के उदाहरण हैं और 'जिगमिषति' आदि प्रयोग प्रश्लिष्ट के। अतः आकृतिमूलक भेद स्थूल दृष्टि से ही ग्राह्य है; सूक्ष्मता से विचार करने पर उनमें परस्पर सांकर्य आ जाता है, जो वैज्ञानिकता का विरोधी है।

(२) "संसार की समस्त भाषाओं का अब तक अध्ययन नहीं हो पाया है। सम्भव है, उसका अध्ययन होने पर और भी आकृतिगत या रूपात्मक विशेषताओं का पता लगे। अभी संयोगात्मक भाषाओं की जितनी जानकारी है, वह भी अपर्याप्त है। जिस गहराई से भारत-यूरोपीय परिवार की भाषाओं का अध्ययन हुआ है, उस गहराई से चीनी, बर्मा आदि का नहीं। अतः अयोगात्मक भाषाओं के सम्बन्ध में जो निष्कर्ष निकलते हैं वे अखंडनीय हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसीलिए आकृतिमूलक वर्गीकरण का अब वह महत्त्व नहीं रह गया है जो पहले था। भाषाविज्ञानी अथवा आकृतिमूलक वर्गीकरण से पारिवारिक वर्गीकरण को अधिक महत्त्वपूर्ण मानने लगे हैं।"[1]

[भाषाओं का वर्गीकृत चित्र अगले पृष्ठ की तालिका द्वारा प्रदर्शित किया गया है।]

पारिवारिक वर्गीकरण

संसार की भाषाओं का वर्गीकरण एक ओर तो भाषाओं की आकृति या रचना-साम्य की दृष्टि से किया जाता है तो दूसरी ओर उनकी उत्पत्ति या पारिवारिक एकता की दृष्टि से। जिनके क्रमशः आकृतिमूलक वर्गीकरण एवं पारिवारिक

1. भाषा-विज्ञान की भूमिका, पृ० १०८।

- आकृतिमूलक वर्गीकरण
  - अयोगात्मक-निरवयव (व्यासप्रधान) चीनी भाषा
    - स्थानप्रधान
    - निपातप्रधान
    - स्वरप्रधान
  - योगात्मक (सावयव)
    - आश्लिष्ट योगात्मक (प्रत्ययप्रधान)
      - पुरःप्रत्ययप्रधान बान्टू परिवार : जूलू भाषा
      - मध्यप्रत्यय तुर्की भाषा, संथाली भाषा
      - अन्तप्रत्यय तुर्की, द्राविड़ परिवार
      - सर्वप्रत्यय यूगिनी की मफोर
    - श्लिष्ट योगात्मक (विभक्तिप्रधान)
      - बहिर्मुखी
        - संयोगात्मक संस्कृत
        - वियोगात्मक हिन्दी
      - अन्तर्मुखी
        - संयोगात्मक अरबी
        - वियोगात्मक हिब्रू
    - प्रश्लिष्ट योगात्मक (समासप्रधान)
      - पूर्णप्रश्लिष्ट चेरोकी तथा ग्रीनलैण्ड की भाषा
      - आंशिक प्रश्लिष्ट बास्क भाषा

वर्गीकरण नाम हैं। प्रथम वर्गीकरण में इतिहास, भूगोल आदि की ओर ध्यान न देकर आकृति या सामान्य रचना की ओर ही ध्यान दिया जाता है, जबकि दूसरे प्रकार के पारिवारिक वर्गीकरण में भाषा की रचना और समानता, व्युत्पत्ति, ध्वनि-समूह, शब्दसमूह, तथा इतिहास-भूगोल की ओर भी ध्यान दिया जाता है। इस प्रकार तुलना और रचना के माध्यम से भाषा की उत्पत्ति के मूल में जाकर एक ऐसे परिवार की कल्पना की जाती है जिसमें भाषाएँ समान हों। वस्तुतः भाषा-विज्ञान का एक मुख्य उद्देश्य यही है कि भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन, रचनातत्त्व और अर्थतत्व के सम्मिलित अध्ययन के द्वारा भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण प्रस्तुत किया जा सके, "भाषाओं का अध्ययन बाह्य तत्त्वों के आधार पर पूर्ण नहीं किया जा सकता। उसके लिए हमें गहराई में जाकर अध्ययन करना होगा, क्योंकि भाषाओं का एक अन्तरंग सम्बन्ध भी है जो केवल बाह्य रचना तक ही सीमित नहीं, बल्कि अर्थ को भी आधार बनाकर चलता है। जिस प्रकार एक पूर्वज से उत्पन्न सभी मनुष्य एक गोत्र के माने जाते हैं, उसी प्रकार एक भाषा से कालान्तर में अनेक सगोत्र भाषाओं की उत्पत्ति भी होती है जो एक परिवार में रखी जाती हैं। उत्पत्ति या परिवार को यहाँ बिल्कुल उसी अर्थ में नहीं लेना चाहिए, जिस अर्थ में मनुष्य की उत्पत्ति या परिवार की कल्पना की जाती है, अर्थात् भाषा के प्रसंग में इन शब्दों का प्रयोग लाक्षणिक होता है। अतः उत्पत्ति का अर्थ सहसा आविर्भाव नहीं, बल्कि क्रमिक विकास समझना चाहिए। एक भाषा से दूसरी भाषा उत्पन्न हुई, यह कहने का अभिप्राय यह है कि पहली भाषा दूसरी में रूपान्तरित हो गयी।" किन्तु अद्यावधि भारोपीय परिवार का ही व्यवस्थित रूप में अध्ययन किया जा सका है।

वर्गीकरण का आधार

रचना की समानता—पारिवारिक वर्गीकरण में बाह्य आकृति अर्थात्, शब्द और वाक्य के गठन के अतिरिक्त शब्दों की समानता भी अपरिहार्य रूप से अपेक्षित है, क्योंकि विभिन्न भाषाओं के साथ तुलना करते समय भाषाओं के व्याकरण और भाषा की प्रकृति का भी अध्ययन किया जाता है।

व्युत्पत्ति—भाषाओं के शब्दों का इतिहास जानकर शब्द के मूल अश का पता लगाकर विभिन्न भाषाओं के शब्दों से उसकी तुलना की जा सकती है। परि-णामस्वरूप, शब्दों की वंशपरम्परा का अनुसन्धान भाषाओं के परिवारों की खोज में सहयोग देता है।

शब्दसमूह—विभिन्न भाषाओं को एक परिवार में समाविष्ट करने के लिए, उनके ऐतिहासिक सम्बन्ध-स्थापन के लिए शब्दों की समानता भी सहयोग देती है। इन शब्दों का मूल रूप ही विशेषकर इस वर्गीकरण में सहयोगी होता है; उदाहरणार्थ आगे दी गई तालिका देखिए—

संस्कृत	फारसी	ग्रीक	लेटिन	जर्मन	अंग्रेजी	स्पेनिश	फ्रेंच	पंजाबी
पितृ	पिदर	Pater	Pater	Vater	Father	Padro	Pere	पिउ
भ्रातृ	बिरादर	Frater	Frater	Braider	Brother	—	—	—
अश्व	अस्प	Hippos	Equus	Aihve	Horse	—	—	—
हंस	—	Chen	Onser	Gans	Goose	—	—	—

संख्यावाचक शब्द

त्रि	सिह	Tries	Tres	Drei	Three	Troi	Tri	तिन्न
सप्त	हफ्त	Hepta	Septem	Sieben	Seven	Sibun	—	—

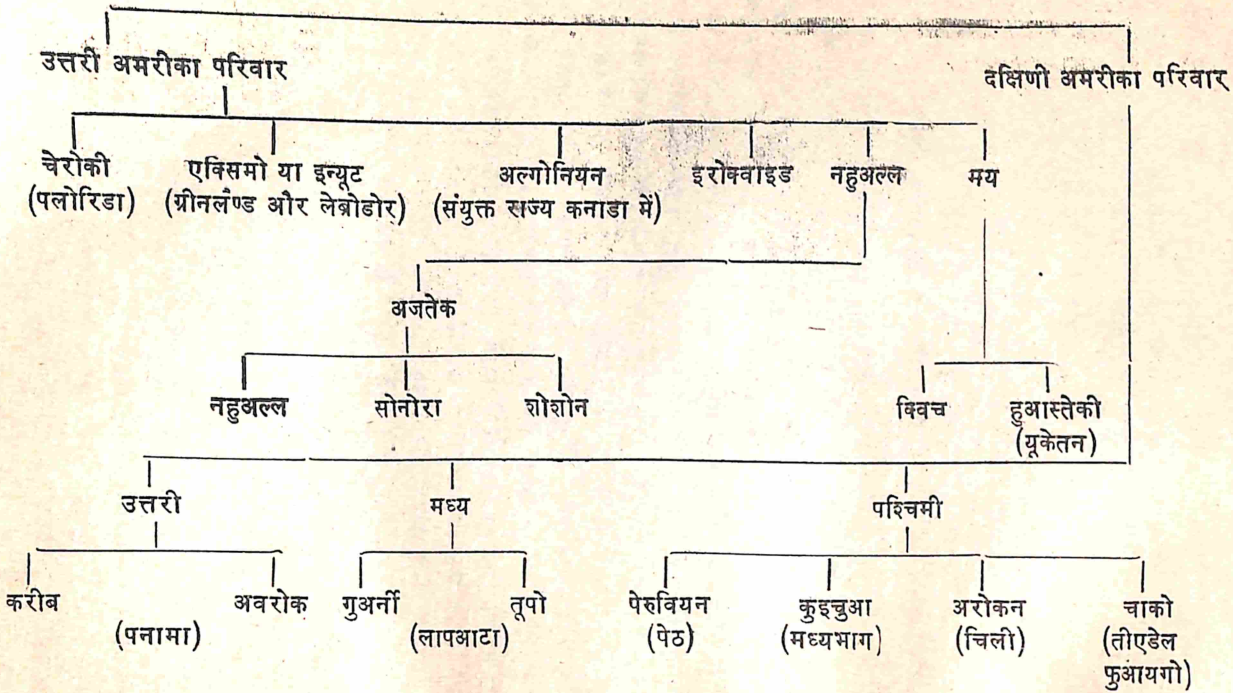
"इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार की तुलना से ऐसी भाषाओं में भी जिनमें आपाततः कोई समानता नहीं दीखती, अनेक समानताओं का पता लग जाता है, और परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाली भाषाओं के वर्गीकरण में बहुत कुछ सहायता मिलती है। ऐसी तुलना के आधार पर यह कल्पना की जा सकती है कि जितनी ही अधिक संख्या में इस प्रकार समान शब्द जिन भाषाओं मे पाये जाते हैं और जितना ही कम उनके उच्चारण में भेद होता है, उतना ही अधिक उन भाषाओं में परस्पर सम्बन्ध होता है।"[1] किन्तु भाषाओं में कुछ शब्दों की समानता से ही भाषाओं की पारिवारिक खोज का सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता है, क्योंकि सम्भव है कि हम ऐसे शब्दों की तुलना कर बैठें जिनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है, बल्कि यत्किंचित् समानता है। यह भी सम्भव है कि दो शब्द आपाततः एक होते हुए भी व्युत्पत्ति की दृष्टि से नितराम भिन्न हों। उनका इतिहास भिन्न-भिन्न हो। इस स्थिति में उनकी समानता आकस्मिक ही हो सकती है। प्रायः देखा जाता है कि वर्णविकारों के कारण दो परस्पर सम्बन्ध रखने वाले शब्द शाब्दिक रूप से अत्यधिक परिवर्तित हो जाते हैं। ऐसे शब्दों के सम्बन्धों की खोज का कार्य कठिन हो जाता है; जैसे—

संस्कृत	ग्रीक	लैटिन	अंग्रेजी	जर्मन
गौः	Bous	Bos	Cow	Kuh
पञ्च	Pente	Quinque	Five	Funf
श्वा	Kuon	Canis	Hund	Hund

संस्कृत	हिन्दी	संस्कृत	हिन्दी	संस्कृत	हिन्दी
हृदय	हियाव	आत्मन्	आप	उद्गार	उकार
तिलक	टीका	धृष्ट	ढीठ		

1. तुलनात्मक भाषाविज्ञान, पृ० २३७-३८।

अमरीका-परिवार की भाषाएँ



यही नहीं, यह भी सम्भव है "कि जिन शब्दों की समानता से हम दो भाषाओं का सम्बन्धी होना सिद्ध करना चाहते हैं, वे शब्द वस्तुतः उन दोनों भाषाओं में या दोनों में से किसी और ही भाषा से ले लिये हों, या उन दोनों में से ही एक ने दूसरी से उद्धृत कर लिये हों। ऐसी दशा में यह स्पष्ट है कि शब्दों की समानता से भाषाओं के सम्बन्धी होने में कोई प्रमाण नहीं मिल सकता।"[1]

ध्वनिसमूह—भाषाएँ जब परस्पर एक दूसरे के सम्पर्क में आती हैं तो शब्दों के साथ-साथ विभिन्न भाषाओं की ध्वनियाँ भी अपनी भाषा की प्रकृति के अनुरूप प्रभाव डालती हैं और उनको विभिन्न भाषाओं में ग्रहण कर लिया जाता है। फारसी में विभिन्न अक्षरों के नीचे नुकता रखकर पढ़ने की प्रवृत्ति (काग़ज़) है, किन्तु हिन्दी में ऐसा नहीं है। इसी प्रकार अंग्रेजी का पॉट हिन्दी में पाट, बॉक्स का बक्स आदि बन गये हैं। कहने का आशय यह है कि ध्वनिसाम्य भाषाओं में मिलता तो है, किन्तु अविकल ध्वनिसाम्य नहीं मिलता। अतः ध्वनिसाम्य पारिवारिक वर्गीकरण में सहायक होते हुए भी व्याकरणात्मक साम्य के समान महत्त्वपूर्ण नहीं है।

आशय यह है कि पारिवारिक-वर्गीकरण के लिए अध्ययन करते समय (i) शब्दसमूह की समानता (संख्यावाचक एवं व्यवहारोपयोगी), (ii) व्याकरणात्मक साम्य एवं ध्वनिसमूह पर विशेष ध्यान दिया जाता है। पारिवारिक सम्बन्ध की स्थापना के लिए स्थानीय साम्य के आधार पर विचार होता है, शब्दों की समानता से उत्पन्न विचार की पुष्टि होती है, व्याकरण की समानता से एक 'वाद' बन जाता है तथा ध्वनिसाम्य से सम्बन्ध निश्चित हो जाता है।

पारिवारिक वर्गीकरण

विश्व की समग्र भाषाओं को एक बड़ा कुल मानकर उनको विभिन्न परिवारों में विभक्त किया गया है। जैसा कि फैडरिक मूलर आदि विद्वानों का विचार है, समस्त विश्व की भाषाओं को सौ भाषा-परिवारों में विभक्त किया जा सकता है। कुछ विद्वानों के अनुसार दो सौ पचास से कम भाषा-परिवार नहीं हैं। किन्तु अद्यावधि उपलब्ध भाषाओं को अध्ययन की सुविधा के लिए भौगोलिक आधार पर चार भौगोलिक खण्डों मे विभक्त किया गया है। प्रत्येक खण्ड की भाषाएं दूसरे खण्डों की भाषाओं से पूर्णतः प्रभावित हैं। अतः इस दृष्टिकोण के आधार पर भाषा के चार खण्ड हैं—(१) अमरीका खण्ड, (२) अफ्रीका खण्ड, (३) प्रशान्त महासागर खण्ड और (४) यूरेशिया खण्ड।

(१) अमरीका खण्ड

इस वर्ग के अन्तर्गत उत्तरी तथा दक्षिणी अमरीका में बोली जाने वाली लगभग चार सौ भाषाओं की गणना की जाती है। किन्तु इस वर्ग की अधिकांश भाषाएँ अनुसन्धान एवं अध्ययन की प्रतीक्षा में हैं। अधिकांश भाषाएँ साहित्य एवं

---

1. तुलनात्मक भाषाविज्ञान, पृ० २३९।

लिपि-रहित हैं तथा अपनी अविकसित दशा में यात्रा पूर रही हैं। मैक्सिको की 'मय' तथा 'नहुअल' भाषाओं की अपनी लिपि तथा साहित्य भी है।

इस भूखण्ड की भाषाएँ प्रश्लिष्ट योगात्मक समास-प्रधान हैं। वाक्य बनाने के लिए शब्दों के प्रधान अंश लेकर मिलाते जाते हैं और एक शब्दवाक्य बन जाता हैं। एक लम्बे शब्द के रूप में एक वाक्य हो इन भाषाओं में कार्य में आता है। कभी-कभी इन भाषाओं में दस-बारह शब्द मिलकर एक शब्द -वाक्य की रचना करते हैं; उदाहरण के लिए—चैरोकी भाषा का पूर्व परिचित उदाहरण ही यहाँ द्रष्टव्य है—'नाधोलिनिन' वाक्य में 'नतेन' 'आमोखल' तथा 'निन' शब्द हैं। 'नतेन' का अर्थ लाओ, आमोखल का अर्थ नाव तथा 'निन' का अर्थ हमको। इस प्रकार नाधोलिनिन का अर्थ है—हमको नाव लाओ।

इस वर्ग की भाषाओं के अध्ययन व सामग्री के अभाव में विशेष वर्गीकरण व विवरण देना सम्भव नहीं है; फिर भी विद्वानों ने इस वर्ग की भाषाओं का एक स्थूल वर्गीकरण किया है, जो पीछे पृष्ठ ९८ पर प्रदर्शित है।

(२) अफ्रीका खण्ड

इस भूखण्ड में अफ्रीका में बोली जाने वाली समस्त भाषाओं का समावेश होता है। इस खण्ड में प्रधानतः पाँच भाषा-परिवार हैं :

(१) बुश मैन, (२) बाण्टू, (३) सूडान, (४) हैमेटिक या हामी और (५) सैमेटिक या सामी।

(१) **बुशमैन भाषा-परिवार**—बुशमैन अफ्रीका के मूल निवासियों की एक जाति का नाम है। यह जाति ओरेंज नदी से लेकर नगामी झील तक बसी हुई है। अफ्रीका के निवासियों की यह भाषा प्राचीनतम है तथा जंगली जातियों की भाषा के रूप में प्रसिद्ध है। इस भाषा में लोक-गीत एवं लोक-कथाओं के अतिरिक्त किसी प्रकार का साहित्य नहीं मिलता है। डा० ब्लाख के अनुसार इस परिवार की भाषाएँ 'अश्लिष्ट-अन्त-योगात्मक' थीं, किन्तु क्रमशः अयोगात्मकता की ओर अग्रसर हैं। इन भाषाओं के लक्षण सूडान-परिवार तथा बाण्टू कुल की 'जुलू' भाषा से मिलते-जुलते हैं। इस परिवार की भाषाओं की सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखति हैं—

(i) इस परिवार की भाषाओं में एकवचन की पुनरावृत्ति कर बहुवचन बनाया जाता है।

(ii) इस परिवार की ध्वनियाँ कुछ विचित्र हैं। अतः विदेशियों के द्वारा उनका यथावत् उच्चारण दुस्साध्य है। इन्हें स्फोटात्मक क्लिक-ध्वनि कहा जाता है। ये ध्वनियाँ दन्त्य, मूर्धन्य, पार्श्विक, तालव्य और ओष्ठ्य हैं।

(iii) इन भाषाओं में लिङ्ग के नियम पुरुषत्व या स्त्रीत्व पर आधारित न होकर चेतन-अचेतन पर अवलम्बित हैं।

(iv) हुटन्टाट इस परिवार की प्रमुख भाषा है।

(२) बाण्टू परिवार—बाण्टू परिवार की भाषाएँ मध्य और दक्षिणी अफ्रीका की भाषाएँ हैं। इसके दक्षिण में बुशमैन परिवार की भाषाएँ तथा उत्तर में सूडान परिवार की भाषाओं का प्रयोग होता है। इस परिवार में लगभग एक सौ पचास भाषाएँ हैं जिन्हें पूर्वी, मध्यवर्ती तथा पश्चिमी इन तीन वर्गों में विभक्त किया जाता है।

(१) इन भाषाओं में साहित्य का अभाव है।

(२) संयुक्त व्यंजनों का अल्प प्रयोग समस्त शब्द स्वरान्त हैं, परिणामस्वरूप भाषाएँ मधुर तथा संगीतात्मक हैं।

(३) इस परिवार की भाषाएँ पूर्व अश्लिष्ट योगात्मक अथवा पुरःप्रत्यय-प्रधान हैं।

(४) पदों की रचना उपसर्ग जोड़ कर अधिक होती है।

(५) इन भाषाओं में लिङ्ग विचार का अभाव तथा स्वरों की विभिन्नता से अर्थ की भिन्नता होती है।

(३) सूडान परिवार—सूडान परिवार में भूमध्य रेखा के उत्तर में पूर्व से पश्चिम तक विस्तीर्ण भू-भाग में बोली जाने वाली भाषाओं का समावेश होता है। इसके उत्तर भाग में हैमेटिक परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। इस परिवार में लगभग चार सौ पैंतीस भाषाएँ बोली जाती हैं, किन्तु लिपि पाँच-छह के ही पास है। इस परिवार की प्रमुख भाषाएँ 'वाइ', 'मोम', 'कनूरी हाउसा' तथा 'प्यूल' हैं।

(१) ये भाषाएँ पढ़ने में सरस हैं।

(२) इन भाषाओं में 'नूबी' भाषा के काप्टी लिपि में लेखबद्ध कुछ लेख चतुर्थ शताब्दी तक के उपलब्ध हैं।

(३) इस परिवार की भाषाएँ चीनी भाषा की तरह अयोगात्मक व्यास-प्रधान हैं।

(४) विभक्तियों का सर्वथा अभाव है।

(५) प्रत्ययों के अभाव के कारण अर्थभेद स्वरों पर आधृत है।

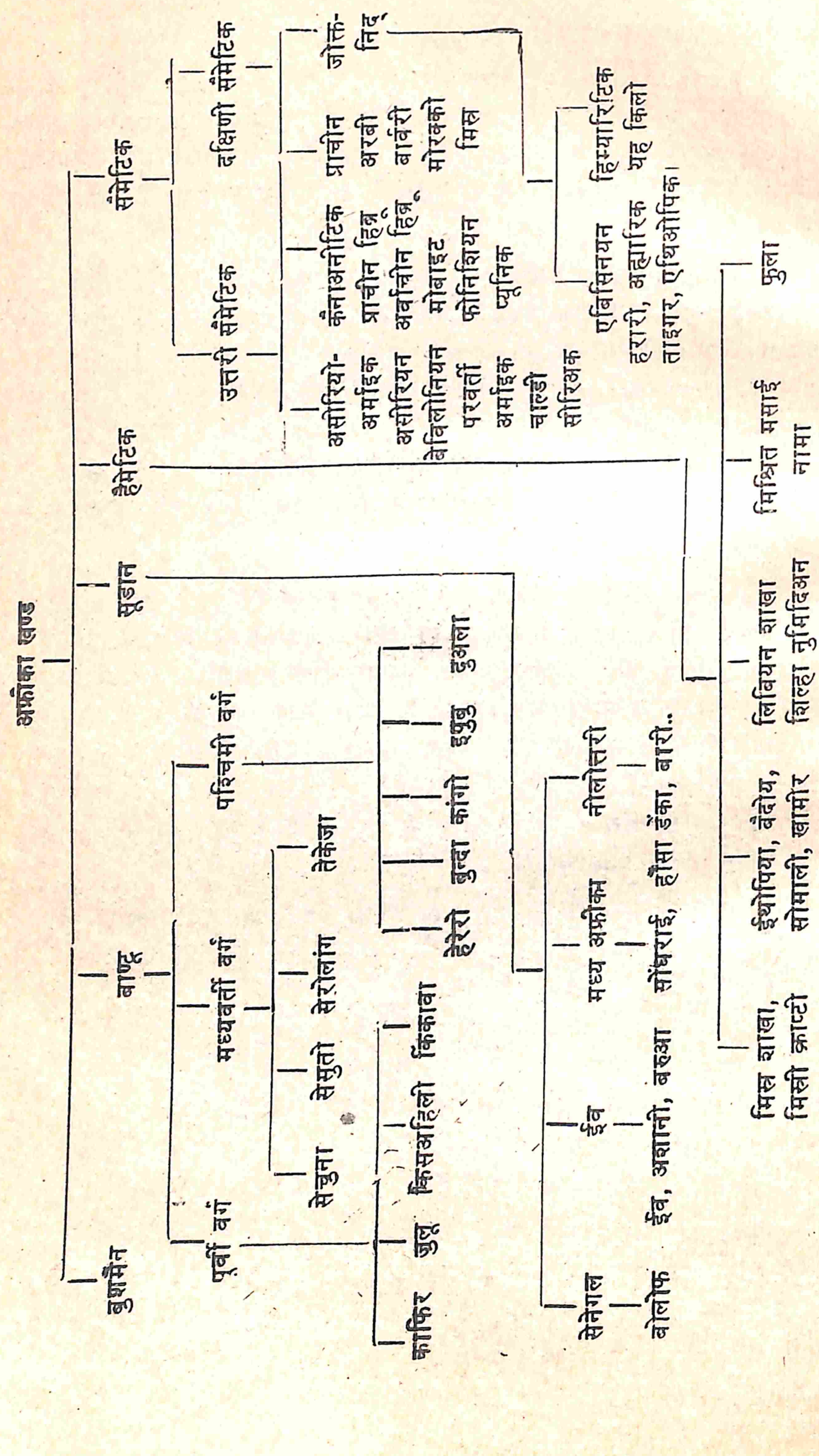
(६) इन भाषाओं में व्याकरण का अभाव है।

(७) लिङ्ग-बोधक कुछ शब्दों से लिङ्ग की जानकारी होती है।

(८) बहुवचन के नियम भी अस्पष्ट हैं।

(९) वाक्य प्रायः छोटे-छोटे होते हैं।

(१०) इस परिवार को चार भागों में विभक्त कर उसकी भाषाओं का अध्ययन किया गया है—(१) सेनेगल भाषाएँ, (२) ईव भाषाएँ (३) मध्य अफ्रीका समूह, (४) नील नदी के ऊपरी भाग की बोलियाँ। इन चारों वर्गों में प्रथम वर्ग की 'वोलोफ' तथा 'ईव' भाषाएँ प्रमुख हैं।



अफ्रीका खण्ड
बुशमैन
बाण्टू
सूडान
हैमेटिक
सैमेटिक
पूर्वी वर्ग
मध्यवर्ती वर्ग
पश्चिमी वर्ग
काफिर
ज़ुलू
किसअहिली
किकावा
सेचुना
सेसुतो
सेरोलांग
तेकेजा
हैरेरो
बुन्दा
कांगो
इपुबु
दुअला
सेनेगल
ईव
मध्य अफ्रीका
नीलोत्तरी
वोलोफ
ईव, अशान्ती, बरुआ
सोंघराई, हौसा डंका, बारी..
मिस्र शाखा, मिस्री क्राप्टी
ईथोपिया, बेदोय, सोमाली, खामोर
लिबियन शाखा शिल्हा नुमिडिअन
मिश्रित मसाई नामा
फुला
उत्तरी सैमेटिक
दक्षिणी सैमेटिक
असीरियो-अर्मइक
असीरियन
बेबिलोनियन
परवर्ती अर्मइक
चाल्डी
सीरिअक
कैनाअनीटिक
प्राचीन हिब्रू
अर्वाचीन हिब्रू
मोबाइट
फोनिशियन
प्यूनिक
प्राचीन अरबी
बार्बरी
मोरक्को
मिस्र
जोक्त-निद्
एबिसिनियन
हरारी, अह्मारिक
ताइगर, एथिओपिक।
हिम्यारिटिक
यह किलो

(४) **हैमेटिक परिवार**—हैमेटिक या हामी परिवार की भाषाएँ सम्पूर्ण उत्तरी अफ्रीका में बोली जाती हैं। इंजील के आख्यान के अनुसार नौह के द्वितीय पुत्र हैम अफ्रीका के कुछ भागों—मिस्र, फोनेशिया, इथोपिया में 'आदि पुरुष' के रूप में मान्य है। उन्हीं के नाम पर इस परिवार का हैमेटिक परिवार नामकरण हुआ है। इस परिवार की अनेक भाषाएँ क्रमशः नष्ट होती जा रही हैं।

(१) इन भाषाओं में धार्मिक साहित्य और प्राचीन अभिलेख भी मिलते हैं।

(२) इस परिवार की भाषाओं पर दूसरे परिवारों की भाषाओं का प्रभाव अधिक है।

(३) इस परिवार की प्रमुख भाषा मिस्री तथा लिबियन है।

(४) मिस्री भाषा-गठन में सरल धातुएँ, एकाक्षर तथा अनेकाक्षर हैं, विभक्तियों के लिए प्रत्यय-योजना नहीं होती।

(५) आदि, मध्य और अन्त में धातुएँ जोड़कर पदों की रचना होती है।

(६) ये भाषाएँ श्लिष्ट योगात्मक विभक्ति-प्रधान हैं जो संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर उन्मुख हैं।

(७) इन भाषाओं में स्वर-परिवर्तन से अर्थ-परिवर्तन होता है।

(८) विशेष बल देने के लिए पुनरुक्ति का प्रयोग होता है।

(९) इन भाषाओं में क्रिया से काल का बोध नहीं होता, अपितु काल का बोध कराने के लिए सहायक शब्दों का प्रयोग होता है।

(१०) बहुवचन के रूप विभिन्न होते हैं।

(५) **सैमेटिक परिवार**—सैमेटिक या सामी अफ्रीका में इस परिवार की भाषा मोरक्को से स्वेज नहर तक बोली जाती है। इस कुल की प्रधान भाषा अरबी है। यही अल्जीरिया और मोरक्को में राजभाषा के रूप में प्रयुक्त होती है। इस परिवार की भाषाओं में हिब्रू, आरमेनियन भी हैं। (१) भाषाएँ श्लिष्ट योगात्मक विभक्ति प्रधान हैं। (२) विभक्तियाँ अन्तर्मुखी हैं। धातु-रचना तीन व्यंजनों से होती है। (४) स्वर-परिवर्तन से अर्थ-परिवर्तन होता है। (५) क्रिया द्वारा काल का बोध नहीं होता। (६) बहुवचन बनाने के लिए प्रत्ययों का प्रयोग होता है।

(३) प्रशान्त महासागर खण्ड

इस खण्ड की भाषाएँ प्रशान्त-महासागर और हिन्द-महासागर के द्वीपों में विस्तृत भूखण्ड में व्याप्त हैं। इस वर्ग में मलाया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, न्यूगिनी, फिलिपाइन्स, फारमोसा आदि न्यूजीलैण्ड की भाषाएँ आती हैं। इस खण्ड के भाषा-परिवार को **पालोनेशियाई-परिवार** भी कहते हैं।

(१) इस परिवार के अन्तर्गत आने वाली समस्त भाषाओं का मूल एक होने के कारण उनके पद-रचना और वाक्य रचना में पर्याप्त साम्य मिलता है।

प्रशान्त महासागर खण्ड

- मलयन
  - मलय
    - मलय (मलाया)
    - बत्तक (सुमात्रा)
      - बत्तक
      - आकीनीज
      - लपोंग
    - जावी (जावा)
      - क्रोमो
      - न्गोकी
    - सुन्दियन (जावा)
    - दयक (बुर्नियो)
    - बुघी (सेलेबस)
  - तगाल
    - तगाल (फिलीपाइन)
    - फारमोसी (फारमोसा)
    - लदोर्नी (लुद्रोर्न)
    - मलगासी या होग (मैडागास्कर)
- मलेनेशियाई
  - फिजियन (फिजी)
  - कैलीडोनी (कैलिडो)
  - लायल्टी (लायल्टी)
  - हेब्रिडा (हेब्रिडा)
  - सोलीमोनी (सोलोमन)
- पालीनेशियाई
  - माओरी (न्यूजीलैण्ड)
  - टोंगी (टोंगा)
  - समोई (समोआ)
  - हवाई (हवाई)
  - ताहिती (ताहिती)
  - मारक्वीसन (मारक्वीसाज)
- पापुआई
  - मफोर (न्यूगिनी)
- आस्ट्रेलियाई
  - आस्ट्रेलियन
    - क्वारी
    - कमिलरोई
  - टस्मानियन (टस्मानिया)

(२) इस परिवार की समस्त भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक प्रत्यय प्रधान हैं।

(३) धातुएँ प्रायशः दो अक्षरों की हैं, प्रथम अक्षर पर बलाघात होता है।

(४) संज्ञा में लिङ्गभेद नहीं मिलता है, उनके रूप भी परिवर्तित नहीं होते हैं।

(५) क्रियाओं में उपसर्ग, प्रत्यय, मध्य में संयुक्त होते हैं।

(६) आदि, मध्य और अन्त में शब्द संयुक्त कर पद निर्मित होते हैं।

(७) समस्त भाषाएँ क्रमशः संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर उन्मुख हैं।

इस परिवार के अन्तर्गत अनेक भाषाएँ व बोलियाँ हैं, किन्तु साहित्यिक भाषाएँ अल्प ही हैं। इस खण्ड की समग्र भाषाएँ पाँच परिवारों में विभक्त की जा सकती है :

(१) मलयन परिवार अथवा इण्डोनेशियाई परिवार

(२) मलेनेशियाई परिवार

(३) पालीनेशियाई परिवार

(४) पपुअन या पापुआई परिवार

(५) आस्ट्रेलियाई परिवार

(१) **मलयन परिवार**—मलय प्रायद्वीप, सुमात्रा, जावा, फिलिपाइन प्रायद्वीप के अन्तर्गत बोली जाने वाली मलय, जावी, सुन्दियन, तगाल, लदोर्नी, होवा अथवा मलगासी आदि भाषाएँ इस परिवार की मुख्य भाषाएँ हैं।

(१) इन भाषाओं को बोलने वालों की संख्या लगभग पाँच करोड़ है।

(२) इनमें कुछ भाषाएँ साहित्य-सम्पन्न भी हैं।

(३) आदि, मध्य और अन्त तीनों स्थानों पर उपसर्ग, परसर्ग जोड़कर पद-रचना की जाती है।

(४) शब्द और धातु में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

(५) एक ही शब्द संज्ञा, क्रिया, क्रिया-विशेषण सभी का कार्य कर सकता है।

(६) बहुवचन के लिए पुनरावृत्ति का सहारा लिया जाता है।

(७) इस भाषा-परिवार का क्षेत्र प्राचीनकाल में भारत का उपनिवेश था; फलतः संस्कृत के अनेक शब्द इन भाषाओं में मिल जाते हैं।

(२) **मलेनेशियाई परिवार**—इस परिवार की भाषाओं का क्षेत्र प्रशान्त-महासागर के फीजी आदि लघुकाय द्वीपों में व्याप्त है। इस परिवार की फीजी-भाषा मुख्य है।

(१) इस भाषा का स्वरूप मलय जैसा अधिक है। (२) फीजी भाषा पर्याप्त समृद्ध है, साथ ही साहित्य-सम्पन्न भी है। (३) इसके अन्तर्गत अनेक उपभाषाएँ भी

बोली जाती हैं। (४) इस वर्ग की भाषाओं में एकवचन और द्विवचन तथा बहुवचन भी पाया जाता है। (५) इस परिवार की भाषाएँ मलयन परिवार से अधिक विकसित हैं। (६) अधिकांश भाषागत विशेषताएँ मलयन परिवार से साम्य रखती हैं। (७) इस परिवार की भाषाओं का एक ही शब्द संज्ञा, क्रिया और क्रिया-विशेषण बन जाता है। (८) शब्द पर बल देने के लिए उसकी पुनरावृत्ति भी की जाती है। (९) इस भाषा-परिवार में प्रत्यय और उपसर्गों का प्राधान्य है।

मलेनेशियाई परिवार

- फिजियन
- कैलीडोनी
- लायल्टी
- हेव्रिडी
- सोलोमोनी

(३) **पालीनेशियाई परिवार**—ये भाषाएँ मलेनेशिया के पूर्व-दक्षिण में बोली जाती हैं। (१) यह भाषा-परिवार भाषाओं की दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध है। (२) भाषाएँ विकसित हैं। (३) व्यंजनों का प्रायः इसमें अभाव है। (४) संयुक्त-स्वर और संयुक्त-व्यंजनों की तो सत्ता ही नहीं है। (५) एक-वचन, द्विवचन और बहु-वचन का अस्तित्व है। अर्थ को प्रभावात्मक बनाने के लिए पुनरावृत्ति का सहारा लिया जाता है। क्रमकः इस परिवार की भाषाएँ वियोगात्मक की ओर बढ़ रही हैं।

पालीनेशियाई परिवार

- माओरी (न्यूजीलैंड)
- टोंगी (टोंगा)
- समोई (समोआ)
- हवाई या सैंद्विशी (हवाई)
- ताहिती (ताहिती)
- मराक्वीसन (मारक्वीसाज)

(४) **पापुआई परिवार**—इस परिवार की भाषाओं का क्षेत्र मलाया और पालीनेशिया के मध्य न्यूगिनी आदि स्वल्पकाय द्वीपों में है। (१) इस परिवार की भाषाएँ प्रायशः अश्लिष्ट योगात्मक हैं। (२) पद-रचना के लिए उपसर्ग और प्रत्यय की योजना होती है। (३) बहुवचन के लिए सीप्रत्यय का प्रयोग होता है। (४) इस परिवार की एकमात्र प्रसिद्ध एवं प्रधान 'मफोर' भाषा है। इसी का अध्ययन अभी तक हो सका है।

(५) **आस्ट्रेलियाई परिवार**—इस परिवार के अन्तर्गत आस्ट्रेलिया तथा टस्मानियाँ द्वीपों के निवासियों की भाषाओं का समावेश होता है। (१) ये भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक तथा अन्तःप्रत्यय-प्रधान हैं। (२) इस परिवार की प्रधान भाषा 'मैक्वारी' तथा 'कमिलरोई भाषाएँ हैं।

(४) यूरेशिया खण्ड

इस खण्ड की भाषाएँ विश्व की सम्पन्न भाषाओं के अन्तर्गत आती हैं। इन

भाषाओं में विश्व की विकास-प्राप्त जातियों की सभ्यता एवं संस्कृति का इतिहास लेखबद्ध प्राप्त होता है। इस खण्ड की भाषाएँ ही संसार के प्राचीनतम साहित्य-निधि की कुंजी हैं। इस खण्ड की भाषाओं का सविस्तार अध्ययन किया गया है। इस खण्ड में निम्नलिखित भाषा-परिवार आते हैं—

(१) सैमेटिक परिवार—सामी परिवार
(२) काकेशस परिवार
(३) यूराल-अल्टाई परिवार
(४) चीनी परिवार—एकाक्षर परिवार
(५) द्रविड़ परिवार
(६) आस्ट्रेलियाई परिवार—आग्नेय परिवार
(७) भारोपीय परिवार
(८) विविध भाषाओं का अनिश्चित परिवार।

(१) सैमेटिक परिवार—इस परिवार का संक्षिप्त विवेचन हम अफ्रीका खण्ड के अन्तर्गत कर चुके हैं। 'नौह' के पुत्र 'मैम' दक्षिणी-पश्चिमी एशिया के 'आदि पुरुष' के रूप में मान्यता प्राप्त हैं। अतः उन्हीं के नाम पर इस परिवार का नामकरण हुआ है। (१) इस परिवार का साहित्य प्राचीन है। (२) लिपि-परम्परा भी सम्भवतः प्राचीनतम है। (३) इस परिवार की भाषाएँ श्लिष्ट योगात्मक विभक्ति-प्रधान हैं। (४) धातुओं की रचना त्रिव्यंजनात्मक है। (५) विभक्तियाँ अन्त-र्मुखी हैं। (६) कर्ता, कर्म और सम्बन्ध तीन ही कारक इस परिवार की भाषाओं में मिलते हैं। (७) सर्वनाम क्रियाओं के अन्त में संयुक्त किये जाते हैं। (८) इस परिवार की भाषाएँ मोरक्को से स्वेज नहर तक बोली जाती हैं। प्रधान क्षेत्र एशिया ही है। (९) हिब्रू, आरमेनियन और अरबी इस परिवार की प्रधान भाषाएँ हैं। (१०) इस परिवार की भाषाओं में स्वर विकार ही भाषाओं के रूप में परिवर्तन करता है। (११) उसी के द्वारा मात्रा, संख्या, स्थान आदि का बोध होता है। (१२) इस परिवार की भाषाओं में लिङ्ग-भेद भी मिलता है। 'त्' या 'अत्' प्रत्यय स्त्रीलिङ्ग बोधक है; अरबी भाषा में इबन् (बेटा) और बिन्त् (बेटी), असीरी में मलक् (राजा) और मलकत् (रानी)।

इस परिवार की भाषाओं को उत्तर सैमेटिक और दक्षिण सैमेटिक इन दो भागों में भी बाँटकर अध्ययन किया जा सकता है।

(२) काकेशस परिवार—इस परिवार का क्षेत्र कृष्णसागर एवं कैस्पियन सागर के मध्य काकेशस पर्वत पर है। इस क्षेत्र में दो भाषा-समूह प्राप्त होते हैं। एक को उत्तरी शाखा और दूसरे को दक्षिणी शाखा कहते हैं। इन दोनों ही शाखाओं के भाषा-भाषियों की संख्याएँ क्रमशः पाँच लाख और पन्द्रह लाख के लगभग हैं। पर्वताच्छन्न इस भाग में अनेक बोलियाँ हैं जो कि परस्पर पर्याप्त भिन्न लगती हैं।

(१) इस परिवार की भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक प्रत्यय-प्रधान हैं। (२) प्रत्यय पूर्व और पर दोनों ही प्रकार के हैं। (३) उत्तरी काकेशी परिवार में स्वरों का अभाव तथा व्यंजनों का बाहुल्य है। (४) पद-रचना जटिल है। (५) 'अवर' बोली में ही संज्ञा की तीस विभक्तियाँ तथा 'चेचेन' भाषा में संज्ञा में छह लिङ्ग हैं। (६) क्रिया के रूप भी जटिल हैं। (७) फलतः मूल धातु का ज्ञान भी कभी-कभी कठिन हो जाता है। (८) इस परिवार की प्रमुख भाषा जार्जियन है जिसमें शताब्दियों का साहित्य उपलब्ध होता है। (९) इसकी अपनी लिपि है। किन्तु अन्य भाषाएँ साहित्य और लिपिशून्य हैं।

(३) **यूराल-अल्टाई परिवार**—इस परिवार की भाषाओं का क्षेत्र यूराल और अल्टाई पर्वतों के मध्य में है। इसलिए इसका यह नाम सार्थक है। सर्वप्रथम विद्वानों ने इस परिवार के नाम तूरानी, फिनोतातारिक, स्कीथियन आदि रखे थे। किन्तु अब तुर्की भाषा से अधिक सम्बन्ध रखने वाले इस परिवार का नाम यूराल-अल्टाई ही अधिक प्रसिद्ध है। इस भाषा-परिवार की भाषाएँ भारोपीय भाषा-परिवार के पश्चात् विस्तृत भू-खण्ड की भाषाएँ हैं जो "यूराल पर्वत के मध्य में टर्की, हंगरी और फिनलैण्ड से लेकर ओरबोत्सक सागर तक और भूमध्य-सागर से लेकर उत्तरी सागर तक फैली हुई हैं।" यह भाषा-परिवार पारस्परिक भाषा की समानता के कारण दो वर्गों में बाँट दिया गया है—एक यूराल परिवार और दूसरा अल्टाई परिवार। यूराल नामक उप-परिवार में फीनी-उग्री और समोयेदी तथा अल्टाई परिवार में तुर्की, मंगोली और तुगूजी नामक भाषा-समूहों की गणना की जाती है। इन दोनों ही उप-परिवारों में धातु, ध्वनि और शब्द-समूह की दृष्टि से स्वल्प भेद होने पर भी पर्याप्त साम्य मिलता है। (१) इस परिवार की भाषाएँ पर-प्रत्यय प्रधान अश्लिष्ट अन्त योगात्मक हैं। (२) दोनों ही उप-परिवारों की भाषाओं में स्वर की अनुरूपता भी मिलती है। (३) शब्दों में सम्बन्धवाचक प्रत्यय संयुक्त किया जाता है। (४) इस परिवार की समग्र धातुएँ अव्यय के समान हैं।

भाषाओं की अधिकता के कारण विद्वान् भाषा-परिवार कहने की अपेक्षा भाषा-समुदाय कहना अधिक उचित समझते हैं। इस परिवार की फिनिश भाषा प्राचीनतम साहित्य-सम्पन्न भाषा है। मेग्यर बारहवीं सदी से प्राप्त भाषा है। इस भाषा के बोलने वाले एक करोड़ के लगभग हैं। तुर्की भाषा भी काव्य तथा साहित्य-सम्पन्न भाषा है। तुर्की की लिपि अब अरबी के स्थान पर रोमन स्वीकार कर ली गयी है। तुर्की भाषा-भाषी व्यक्ति चार करोड़ के लगभग हैं। इसका साहित्य चौदहवीं सदी से प्राप्त होता है।

(४) **एकाक्षर चीनी परिवार**—एशिया के पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी भाग की और एक बड़े भू-खण्ड में एकाक्षर परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। इस परिवार की भाषाओं के बोलने वालों की संख्या केवल भारोपीय परिवार के व्यक्तियों से कम

है। इस परिवार की प्रधान भाषा चीनी है। यह भाषा-परिवार चीन, स्याम, तिब्बत और ब्रह्मा तक फैला हुआ है। इस परिवार की (१) भाषाएँ अयोगात्मक हैं जो चीनी, स्यामी, तिब्बती, ब्राह्मी आदि हैं। किन्तु भाषाएँ एकाक्षर हैं। (२) चीनी भाषा ही प्राचीनतम एवं साहित्य-सम्पन्न भाषा है। (३) स्थान-भेद से अर्थ-भेद इस भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है। (४) इस परिवार की भाषाओं में एक शब्द विभिन्न स्वरों से विभिन्न अर्थों की अभिव्यक्ति करता है। (५) चीनी भाषा में व्याकरण नामक तत्व का सर्वथा अभाव है। (६) अनुनासिक ध्वनियों का आधिक्य भी चीनी भाषा की अपनी विशिष्ट विशेषता है।

इस परिवार की चीनी पश्चात् मन्दारी, कैन्टूनी, पेकिंगी, हक्का, टोन्किनी, कोचीन-चीनी, कम्बोडियाई, स्यामी आदि प्रधान बोलियाँ हैं। 'मेईथेई' प्राचीन साहित्य-सम्पन्न भाषा है। इस भाषा में पन्द्रहवीं शताब्दी के साहित्यिक ग्रन्थ मिलते हैं। वर्मी में धार्मिक साहित्य की प्रचुरता है, तिब्बती और बर्मी क्रमशः अन्त:प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाएँ होती जा रही हैं।

(५) **द्रविड' परिवार**—यह भाषा-परिवार भारत में नर्मदा और गोदावरी नदियों से कुमारी अन्तरीप तक दक्षिण में फैला हुआ है। इसके अतिरिक्त उत्तरी लंका, बिलोचिस्तान, मध्यभारत, बिहार प्रदेश आदि में इन भाषाओं के बोलने वाले मिल जाते हैं। इस भाषा-परिवार को कभी-कभी तमिल परिवार भी कह दिया जाता है। यह भाषा-परिवार वाक्य तथा स्वर के कारण यूराल-अल्टाई परिवार के निकट पहुँच जाता है। इस परिवार की भाषाएँ (१) तुर्की आदि की भाँति अश्लिष्ट अन्तःयोगात्मक हैं। (२) मूल शब्द या धातु में प्रत्यय जुड़ते हैं। (३) प्रत्यय की सत्ता स्पष्ट रहती है। (४) प्रत्ययों के कारण प्रकृति में कोई विकार उत्पन्न नहीं है। (५) इस परिवार की भाषाओं मे निर्जीव शब्द नपुंसक लिङ्ग के माने जाते हैं तथा अन्य शब्दों में स्त्रीलिङ्ग और पुल्लिङ्ग सूचक शब्द संयुक्त कर दिये जाते हैं। (६) भाषाओं में दो ही वचन होते हैं। बहुवचन प्रत्यय के संयोग से बनता है। संज्ञा, सर्वनाम और क्रियाओं में बहुवचन प्रत्यय एक जैसे ही होते हैं। (७) वास्तविक क्रिया का अभाव है। (८) इन भाषाओं में कर्मवाक्य का अभाव होने के कारण कर्मवाच्य का बोध सहायक क्रिया द्वारा कराया जाता है। (९) विशेषण के विभक्ति रूप नहीं होते हैं। (१०) शब्द के अन्तिम व्यंजन के उच्चारण के लिए एक विशिष्ट ध्वनि का उच्चारण किया जाता है। (११) स्वर-अनुरूपता इस भाषा-परिवार की विशेषता है। स्वरों के अनुसार ही प्रत्ययों का रूप परिवर्तित हो जाता है। (१२) इस भाषा-परिवार में मूर्धन्य ध्वनियाँ, विशेषत: टवर्ग का प्राधान्य है। (१३) गिनती दस पर आधारित है।

इस भाषा-परिवार में प्रधानतः चौदह भाषाएँ हैं, जिनका चार उप-विभागों में विभाजन किया जाता है—(१) द्रविड़ वर्ग, (२) आन्ध्र वर्ग, (३) मध्यवर्ती वर्ग,

(४) ब्राहुई वर्ग । इस परिवार की भाषाएँ ये हैं—कन्नड़, तमिल, तुलू, कोडगु, टुडा, मलयालम; तेलुगु, ब्राहुई, गोंड, कोंड, कुई, कोलामी, कुरुख, माल्टो ।

(६) **आस्ट्रेलियाई परिवार : आग्नेय परिवार**—इस परिवार को श्मिट ने आस्ट्रिक परिवार कहा है । यह भाषा-परिवार प्रशान्त-महासागर के द्वीपों में फैला हुआ है । इसके अतिरिक्त स्याम और ब्रह्मा के वनप्रान्त, नीकोबार द्वीप, आसाम की कुछ पहाड़ियाँ, मध्यभारत के गोंड प्रदेश, मद्रास के गंजाम जिले में इस भाषा-परिवार की भाषाएँ बोली जाती है । इस परिवार की भाषाओं के सामान्य लक्षण ये हैं—(१) भाषाएँ प्रधानतः प्रत्यय-प्रधान अश्लिष्ट योगात्मक हैं । किन्तु वे क्रमशः वियोगात्मक हो रही हैं । (२) पद-रचना के लिए प्रत्यय आदि, मध्य और अन्त तीनों ही स्थानों पर जुड़ते हैं । (३) धातुएँ द्वय्क्षरी हैं ।

आग्नेय परिवार की मोन, ख्मेर भाषाएँ तथा प्लोग 'वा' नीकोवरी आदि बोलियाँ हैं । मोन साहित्य-सम्पन्न परिष्कृत भाषा है । इस परिवार की प्रमुख भाषा मुंडा है । पश्चिमी बंगाल से लेकर बिहार और मध्य प्रदेश, मध्य भारत, उड़ीसा और मद्रास प्रदेश के गंजाम जिले तक यह भाषा तथा इसकी बोलियाँ बोली जाती हैं । मुण्डा परिवार की भाषाएँ (१) सामान्यतः सरल और स्पष्ट हैं । (२) अश्लिष्ट योगात्मक हैं । (३) इस भाषा के अन्तिम व्यंजनों के पश्चात् श्रुति का अभाव है । (४) अर्द्धस्वरों और व्यंजनों के अतिरिक्त इस भाषा में विचित्र ध्वनि पायी जाती है, जिसे अर्द्धव्यंजना की संज्ञा विद्वानों ने दी है । (५) इनका उच्चारण क्लिक ध्वनियों की भाँति और कभी अनुनासिकता से युक्त होता है । (६) लिङ्ग पुलिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग ये दो हैं जो सजीव और निर्जीव तत्त्वों के आधार पर माने जाते हैं । कभी-कभी यह लिङ्ग हिन्दी की भाँति 'ई' और 'आ' से भी बन जाते हैं । (७) इस भाषा में वचन तीन हैं । द्विवचन तथा बहुवचन के लिए संज्ञाओं में प्रत्यय जोड़े जाते हैं । (८) मुण्डा भाषा की वाक्य-रचना आर्य-भाषाओं से भिन्न है । इसमें शब्द भेद की यथार्थ कल्पना कठिन है । (९) सम्बन्ध तत्त्व का बोध प्रायः अन्तयोग और मध्ययोग से होता है । (१०) उपसर्ग भी संयुक्त किये जाते हैं । (११) मूल शब्द द्वयक्षरात्मक हैं । (१२) चीनी भाषा की भाँति एक ही शब्द संज्ञा, क्रिया और विशेषण आदि का रूप ले लेता है । (१३) संख्याएँ दस तक तथा बीस भी हैं । इन्हीं के आधार पर सम्पूर्ण संख्याएँ बन जाती हैं । (१४) क्रिया के लिए अलग शब्द नहीं है । कभी वह क्रिया एक स्थान पर है तो दूसरे पर वही संज्ञा है । (१५) प्रभावात्मकता के लिए पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति है । (१६) क्रिया-रूपों के आधार पर काल-ज्ञान होता है । (१७) मुण्डा परिवार की भाषाओं के अव्यय स्वतन्त्र हैं ।

(७) **भारोपीय परिवार**--यह यूरेशिया ही नहीं विश्व का महान् भाषा-परिवार है, महत्त्वपूर्ण है, साहित्य-लिपि सम्पन्न है, प्राचीनतम है । अध्ययन की दृष्टि से भी इसका अध्ययन अधिकतम हुआ है । यह भाषा-परिवार सर्वाधिक

विकसित भी है। अस्तु, इस परिवार की भाषाएँ भारत, ईरान, आर्मीनिया, सम्पूर्ण यूरोप, अमरीका, दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि में बोली जाती हैं। इस परिवार के भाषा-भाषी सर्वाधिक हैं।

इस परिवार का नामकरण एक विवादास्पद विषय रहा है। किन्तु आज भारोपीय भाषा-परिवार नाम अधिक प्रसिद्धि-प्राप्त है। सर्वप्रथम इस परिवार का नाम इण्डोजर्मनिक रखा गया था, किन्तु इस परिवार में केल्टी शाखा की भाषाएँ भी थीं, जो जर्मन भाषा नहीं थी; अतः यह नाम उचित न होने के कारण इसका नाम इण्डोकेल्टिक रखा गया। इसके अनेक नामों में सांस्कृतिक, जैफाइट, काकेशियन आर्य, इन्डो-यूरोपियन आदि नाम भी रखे गये हैं। आज भारोपीय नाम ही अधिक उपयुक्त होने के कारण प्रचलित है।

भारोपीय भाषा-परिवार की दो प्रधान शाखाएँ हैं: (१) भारोपीय शाखा, (२) भारत ईरानी शाखा। इन दोनों के अतिरिक्त इसके अन्य वर्गीकरण भी किये जा सकते हैं:

(१) कैल्टिक शाखा
(२) जर्मन शाखा
(३) इटालिक शाखा
(४) ग्रीक शाखा
(५) तोखारी शाखा
(६) अल्बेनियन शाखा
(७) लैटोस्लाव्हिक शाखा
(८) आर्येनियन शाखा
(९) आर्य या हिन्दो-ईरानी शाखा

इस भाषा-परिवार की भाषाओं की सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) भाषाएँ श्लिष्ट योगात्मक बहिर्मुखी विभक्ति-प्रधान हैं। किन्तु आज ये भाषाएँ भी क्रमशः योगात्मकता की ओर उन्मुख हैं। (२) धातुएँ एकाक्षर हैं। (३) प्रत्यय कृदन्त एवं तद्धितान्त हैं, जिनके कारण अनेक रूप एवं शब्द बनते हैं। (४) इस परिवार में विभिन्न सम्बन्धों के द्योतन के लिए विभक्तियाँ अवश्य हैं। (५) समास इन भाषाओं का अद्भुत तत्त्व है। समास कर देने पर शब्दों की विभक्तियों का लोप हो जाता है। कभी-कभी समस्त शब्द का अर्थ भी परिवर्तित हो जाता है। (६) भारोपीय परिवार की भाषाएँ प्रत्यय-बहुल हैं, क्योंकि भाषाएँ विभिन्न स्थानों पर विकसित हुई हैं।

भारोपीय परिवार का विस्तृत विवेचन अगले पृष्ठों में किया गया है।

विविध परिवार

अनिश्चित वर्ग—इस परिवार में विश्व की उन भाषाओं का समावेश किया

गया है, जो निश्चित कारणों एवं विशेषताओं के अभाव में किसी विशिष्ट भाषा-परिवार में स्थान प्राप्त नहीं कर सकी हैं। इस प्रकार की भाषाओं में पूर्व इटली के मध्य तथा उत्तरी प्रदेश में बोली जाने वाली एट्रस्कन भाषा है। इसका किसी भाषा-परिवार से सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ है। सुमेरियन भाषा इस परिवार की प्रमुख भाषा है। मितानी, कोसी, वन्नी, एलमाइट और हिट्टाइट, कप्यदोसी आदि प्राचीन भाषाएँ हैं, तथा वर्तमान काल की भी अनेक भाषाएँ ऐसी हैं जिनका वर्गीकरण नहीं हो सका है; यथा—कोरियाई, एनू, बास्क, जापानी, हाइपरबोरी, अंडमानी, करेनी, बुरुशास्की और बानी।

विश्व की भाषाओं को एक बड़ा परिवार मानकर उनका विभिन्न परिवारों में विभाजन किया गया है। डा० धीरेन्द्र वर्मा विश्व की इन समग्र भाषाओं को बारह कुलों में विभक्त कर उनका अध्ययन करते हैं; जो निम्नलिखित हैं।

(१) भारोपीय कुल, (२) सैमेटिक कुल, (३) हैमेटिक कुल, (४) तिब्बत-चीनी कुल, (५) यूराल-अल्टाई कुल, (६) द्रविड़ कुल, (७) आग्नेय कुल, (८) काकेशस कुल, (९) अफ्रीका कुल, (१०) अमरीका कुल, (११) प्रशान्त महासागरीय कुल, (१२) अनिश्चित भाषा कुल।

(१) **भारोपीय कुल**—इसके अन्तर्गत उत्तर भारत, अफगानिस्तान, ईरान और सम्पूर्ण यूरोप में बोली जाने वाली भाषाएँ आती हैं। इन भाषाओं में प्रधानतः संस्कृत, ग्रीक लैटिन, इंग्लिश, फ्रांसीसी, जर्मन, पश्तो, हिन्दी, मराठी, बँगला आदि भाषाएँ आती हैं।

(२) **सैमेटिक कुल**—इस कुल में हिब्रू, अरबी और आरमेनिअन भाषाएँ आती हैं। हिब्रू ईसाइयों के धार्मिक साहित्य से सम्पन्न तथा अरबी इसलाम साहित्य से सम्पन्न भाषाएँ हैं।

(३) **हैमेटिक कुल**—इस कुल में मिस्री तथा लिबियन भाषाएँ आती हैं। अफ्रीका की अनेक भाषाओं पर इनका प्रभाव पड़ा है। उत्तरी अफ्रीका इसका क्षेत्र है।

(४) **तिब्बत-चीनी कुल**—इसमें तिब्बती, चीनी, बर्मी, स्यामी और अनामी भाषाएँ हैं। इनमें चीनी प्रधान है। इन भाषाओं का क्षेत्र चीन, तिब्बत, बर्मा, स्याम, हिमाचल प्रदेश हैं।

(५) **यूराल-अल्टाई कुल**—इस कुल की भाषाएँ मंगोलिया, मंचूरिया, साइबेरिया में बोली जाती हैं। ये भाषाएँ साहित्य-सम्पन्न नहीं हैं। इस कुल में मंगोलियन, तुर्की और तातारी भाषाएँ मुख्य हैं।

(६) **द्रविड़ कुल**—इस कुल की भाषाओं का क्षेत्र दक्षिण भारत है। इन भाषाओं में तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़ मुख्य हैं।

(७) **आग्नेय कुल**—इस कुल की भाषाओं का क्षेत्र ब्रह्मा देश के दक्षिण से

मलाया तक तथा नीकोबार, पश्चिमी बंगाल, बिहार और उड़ीसा के जंगल हैं। इस कुल की भाषाओं में मान, मलय और मुण्डा मुख्य भाषा हैं।

(८) **काकेशस कुल**—कृष्णसागर और कैस्पियन सागर के मध्य काकेशस पर्वत के समीप भाग में बोली जाने वाली बोलियाँ इस कुल में समाविष्ट होती हैं। इस कुल की भाषाओं में काकेशी और जार्जियन प्रमुख भाषाएँ हैं।

(९) **अफ्रीका कुल**—इस कुल की भाषाओं का क्षेत्र दक्षिण अफ्रीका है। इस कुल के दक्षिणी और मध्य दो कुल हैं। दक्षिणी वर्ग में बण्टू और बुशमैनों दो उपवर्ग हैं। मध्य अफ्रीका कुल में मध्य अफ्रीका की जंगली बोलियाँ बोली जाती हैं। इनमें सूडान वर्ग प्रमुख है।

(१०) **अमरीका कुल**—इस कुल में उत्तर एवं दक्षिण दोनों ही अमरीकाओं की भाषाएँ आती हैं। इस कुल में अनेक भाषाएँ हैं।

(११) **प्रशान्त महासागरीय कुल**—इस कुल में न्यूगिनी, फिलिपाइन्स, फारमोसा, न्यूजीलैण्ड और आस्ट्रेलिया की भाषाएँ आती हैं।

(१२) **अनिश्चित कुल**—इस कुल के अन्तर्गत जापानी, अंडमानी, एत्रुस्कन (इटली), जार्जियन, सुमेरिन (बेबीलोन), कोइयाई, वास्क (फ्रांस और स्पेन) आदि भाषाएँ आती हैं। इन भाषाओं का अभी कुल निश्चित नहीं हो सका है।

भारोपीय भाषा-परिवार

संस्कृत के भाषा-परिवारों में क्षेत्र अथवा भाषा तथा साहित्यिक विशेषताओं के कारण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण परिवार भारोपीय भाषा-परिवार है। यह परिवार भौगोलिक दृष्टि से यूरेशिया खण्ड का प्रमुखतम भाषा-परिवार है।

इस परिवार का नामकरण प्रारम्भ से ही विवादास्पद रहा है जो अद्यावधि प्रश्नवाचक-चिह्न से अंकित है। चूँकि इस परिवार की पूर्व में भारत तक तथा पश्चिम में जर्मनी तक बोली जाने वाली भाषाएँ—अंग्रेजी, डच, संस्कृत, हिन्दी, जर्मन आदि भाषाएँ विशेष रूप से भारत एवं जर्मनी से ही सम्बद्ध हैं, इसलिए सर्वप्रथम मैक्स-मूलर ने इस परिवार का नाम इंडोजर्मनिक रखा। किन्तु इनके भी पश्चिम में इसी परिवार की केल्टी शाखा की भाषाएँ जर्मन भाषाएँ न थीं, अतः इन्डोजर्मनिक नाम उचित न होने के कारण त्याग दिया गया। कुछ समय पश्चात् विद्वानों ने इस भाषा-परिवार का नाम इण्डोकैल्टिक रखा जो कि सार्थक न होने के कारण स्वतः बन्द हो गया। यद्यपि भौगोलिक दृष्टि से नाम सार्थक था, किन्तु केवल सीमाओं का ही सूचक होने के कारण यह प्रचलित न हो सका। इस परिवार की प्रमुख भाषा संस्कृत थी, अतः इसका नाम 'संस्कृत' भी पड़ा। किन्तु यह नाम भी एकांगी था, क्योंकि संस्कृत इस परिवार की समग्र भाषाओं की जननी न थी। हजरत के तृतीय पुत्र जैफ के नाम पर इंजील सम्प्रदाय वालों ने इसका नाम 'जैफाइट' भी सोचा था, किन्तु वह प्रचलित न हो सका, क्योंकि जैफेटिक लोग इस भाषा-परिवार के बाहर

की भाषाएँ भी बोलते थे, जिनका इस परिवार से किसी प्रकार का सम्बन्ध न था। एक नाम 'काकेशियन' भी रखा गया, किन्तु वह भी अस्वीकृत हो गया। इन नामों के अतिरिक्त 'आर्य' और 'इण्डोयूरोपियन' दो नाम और भी आये। आर्य नाम एक जाति-विशेष का सूचक था, अतः यह भ्रम हो सकता था कि इस परिवार के सभी व्यक्ति आर्य हैं। किन्तु ऐसा न था। दूसरे, आर्य नाम हिन्दू-इरानी परिवार के लिए विशेषतः प्रयुक्त था। पाश्चात्य विद्वानों ने 'इण्डोयूरोपियन' नाम ही अधिक उचित एवं सार्थक मानकर स्वीकार कर लिया है। इसी इण्डोयूरोपियन का रूपान्तर 'भारोपीय' है। 'भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार से आशय उन समस्त भाषाओं से है जो उस प्राचीन भारत-यूरोपीय मूल-भाषा से निकली हैं। भारत-यूरोपीय (या भारत-जर्मनीय) शब्द के प्रयोग से यही अभिप्राय है कि इस भाषा-परिवार के भारत से लेकर यूरोप तक के भौगोलिक विस्तार की ओर ध्यान दिलाया जा सके।"[1]

भारोपीय भाषा-परिवार का महत्त्व

भाषा वैज्ञानिक निर्विवाद रूप से इस परिवार को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हैं, क्योंकि भाषा-विज्ञान की नींव इसी परिवार के आधार पर रखी गयी है। अद्यावधि जितनी खोज इस परिवार की भाषाओं आदि के सम्बन्ध में हुई है, उतनी अन्य भाषा-परिवारों के सम्बन्ध में नहीं हो सकी है। वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन-अध्यापन के लिए इस परिवार में पर्याप्त स्पष्टता, निश्चयात्मकता और विस्तार तीनों ही गुण प्राप्त होते हैं। इस परिवार की अपने विकास की कहानी भी चिर-प्राचीन है। ऋग्वेद के रूप में जितना ऐतिहासिक साक्ष्य इस परिवार की भाषाओं का मिलता है उतना अन्य में नहीं। संसार का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साहित्य—संस्कृत, ग्रीक, लैटिन भाषाओं का—इसी परिवार के अन्तर्गत लिखा गया है। देश की दृष्टि से भी इसका विस्तार—क्षेत्रफल अधिक है। डा० मंगलदेव भी इस परिवार के महत्त्व पर विचार करते हुए लिखते है :

विभिन्न भाषा-परिवारों में भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार का महत्त्व सबसे अधिक है। भाषा-विज्ञानी की दृष्टि में तो निर्विवाद रूप से इसका स्थान और सबके स्थान से ऊँचा है।.......

(१) भाषा-विज्ञान की नींव इसी परिवार के आधार पर रखी गयी है।

(२) भाषा-विज्ञान में प्रवेश के लिए अब भी विद्यार्थियों को सबसे पहले इसी परिवार के विषय में ज्ञान प्राप्त करना होता है।

(३) विद्वानों ने जितना परिश्रम तथा छान-बीन इस परिवार के विषय में की है, उतनी अभी तक औरों के विषय में नहीं की गयी।

(४) वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन के लिए इस परिवार में पर्याप्त स्पष्टता, निश्चयात्मकता और विस्तार तीनों गुण पाये जाते हैं।

---

1. तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, पृ० २४५।

(क) इस परिवार की, भिन्न-भिन्न भाषाओं के इतिहास में भाषा-विषयक विचार प्राचीन समय से ही प्रारम्भ हुआ, जिससे उनके विकास के समझने में बड़ी सहायता मिल सकती है।

(ख) इस परिवार के विषय में ऋग्वेद आदि प्राचीन साहित्य के रूप में ऐतिहासिक साक्ष्य जितना पुष्कल और सुरक्षित मिल सकता है, उतना औरों के विषय में नहीं। प्राचीन जगत् के तीन अत्यन्त महत्त्व से युक्त साहित्य संस्कृत, ग्रीक और लैटिन, और मध्यकालीन तथा आधुनिक साहित्य का बड़ा भाग भी, इसी परिवार से सम्बन्ध रखते हैं।

(ग) देश-दृष्टि से भी इनका विस्तार अत्यधिक है। सभ्य जगत का बहुत बड़ा भाग; जैसे—लगभग सारा यूरोप, अमरीका का बड़ा भाग, ईरान और उत्तर भारत; इसी परिवार से सम्बन्ध रखने वाली भाषाओं को बोलता है।

(५) भाषा के विकास को दिखाने वाली जितनी विविध सामग्री इस परिवार में पायी जाती है, उतनी किसी दूसरे परिवार में नहीं। इस परिवार की कुछ भाषाओं में उच्चारण-सम्बन्धी महान् परिवर्तन हो चुका हैं। कुछ भाषाएँ परिवर्तित होते-होते शुद्ध संश्लेषणात्मक अवस्था से लगभग शुद्ध विश्लेषणात्मक अवस्था में आ गयी हैं। बहुत-सी अभी तक बीच की ही दशा में हैं। इन्हीं कारणों से इस परिवार में औरों की अपेक्षा, शब्दों के रूप और रचना के विविध नमूने कहीं अधिक पाये जाते हैं।"[1]

देवेन्द्र नाथ शर्मा ने भारोपीय परिवार की विशेषताओं और महत्त्व का उल्लेख इस प्रकार किया है—

(१) "जनसंख्या की दृष्टि से इस परिवार का स्थान प्रथम हैं, क्योंकि जितने लोग इस परिवार की भाषाएँ बोलते हैं, उतने किसी दूसरे परिवार की भाषाएँ नहीं।

(२) "भारत-यूरोपीय परिवार की भाषाएँ सारे संसार में फैली हुई हैं। कोई ऐसा भू-भाग नहीं, जहाँ इस परिवार की भाषाएँ न बोली जाती हों। अन्य भाषाएँ एक-एक स्थान में सीमित हैं, अतः उन्हें वह व्यापकता उपलब्ध नहीं है जो इस परिवार की भाषाओं को है।

(३) "साहित्यिक दृष्टि से भी इस परिवार की समृद्धि किसी दूसरी भाषा से अधिक है। जितना प्राचीन, जितना विविध और जितना उत्कृष्ट साहित्य भारत-यूरोपीय परिवार का है उतना और किसी भाषिक परिवार का नहीं।

(४) "सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से भी इस परिवार के भाषा-भाषी अन्य भाषा भाषियों से आगे हैं।

---

1. तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, पृ० २४५-४६।

(५) "इस परिवार की भाषाओं में विद्यमान वैज्ञानिक साहित्य भी अप्रतिम है। विगत कई शताब्दियों में विज्ञान के क्षेत्र में जो भी प्रगति हुई है, वह इसी परिवार की भाषाओं के द्वारा चाहे वह अंग्रेजी हो या जर्मन, फ्रांसीसी हो या रूसी।

(६) "भारत-यूरोपीय परिवार की भाषाओं के महत्त्व का अन्यतम कारण राजनीतिक प्रभाव भी है। यूरोप के देशों ने संसार के बहुत बड़े भाग में राजनीतिक सत्ता कायम की और बहुत सारे देशों को अपना उपनिवेश बनाया। स्वभावतः उपनिवेशों में शासकों की भाषाएँ अपनायी गयीं और उनके प्रसार का आशातीत अवसर मिला...।

(७) "भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इस परिवार के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होने के कारण यह भी है कि इस परिवार की भाषाओं का जितना अध्ययन हुआ है, उतना अन्य परिवार की भाषाओं का नहीं। वस्तुतः भाषाविज्ञान का आरम्भ ही इस परिवार के अध्ययन से हुआ।"

उपर्युक्त विभिन्न दृष्टियों से देखने पर पता चलता है कि यह-परिवार विश्व की भाषाओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

भारोपीय भाषा-परिवार की (१) भाषाएँ श्लिष्ट योगात्मक विभक्ति-प्रधान हैं। (२) विभक्तियाँ प्रायः बहिर्मुखी हैं, जो प्रकृति के अन्त में संयुक्त होती हैं। (३) परिवार की भाषाएँ संयोगावस्था (संहिति) से वियोगावस्था (व्यवहिति) की ओर उन्मुख हैं। (४) धातुएँ एकाक्षर हैं और धातुओं में कृत एवं तद्धित आदि प्रत्ययों के योग से अनेक पद-शब्द बनते हैं। (५) समास-रचना की विशेष शक्ति इस परिवार की भाषाओं में प्राप्त होती है। (६) इन भाषाओं में विभक्तियों का बाहुल्य है। (७) अक्षरावस्थान इस परिवार की अपनी विशेषता है। (८) स्वर-परिवर्तन से सम्बन्ध-तत्त्व सम्बन्धी परिवर्तन हो जाता है।

भारोपीय परिवार के सम्बन्ध में विद्वानों की यह कल्पना है कि प्रागैतिहासिक काल में भी इस परिवार की भाषाएँ दो विभाषाओं में विभक्त थीं। इसी कारण उन दो विभाषाओं से निकली हुई भाषाओं की ध्वनियों में भेद लक्षित होता है। ग्रीक, लैटिन आदि कुछ भाषाओं में प्राचीन मूल भाषा के चवर्ग ने कवर्ग का रूप ग्रहण कर लिया है तथा संस्कृत-ईरानी आदि भाषाओं में वही चवर्ग घर्षक ऊष्म (स, श, ष, ह) बन गया है; उदाहरण के लिए—लैटिन में कैन्टुम्, आक्टो, डिक्टो रूप प्राप्त होते हैं और संस्कृत में इन्हीं के लिए शतम् अष्टौ, दिष्टः आदि ऊष्म वर्ग मिलते हैं।

संस्कृत एवं ग्रीक के कुछ अन्य उदाहरण निम्न हैं :

संस्कृत	ग्रीक
शतम्	he-hatōn
शुनः	kūnos

श्वा (श्वन्)	kuon
दश	deka
श्रुतः	klutos
अश्मा (अश्मन्)	akmon
ददर्श	dedorka
वेशः=घर	ockos
शिरः	keros=सीध

इसी ध्वनि-विषयक साम्य-वैषम्य के आधार पर भारोपीय परिवार दो वर्गों में विभक्त किया गया है। फानब्रँडके इन दोनों वर्गों को इसी आधार पर **सतम् और कैण्टुम** वर्ग कहते हैं। सौ का वाचक शब्द सभी भारोपीय भाषाओं में पाया जाता है। अतः इसी के भेद को मान कर यह नामकरण किया गया है।

सतम वर्ग	**कैण्टुम वर्ग**
अवेस्ता—सतम्	लैटिन—कैन्टुम
फारसी—सद	ग्रीक—अक्तोम
संस्कृत—शतम्	इटैलियन—केण्टो
हिन्दी—सौ	फ्रैंच—केन्त
रूसी—स्तो	केल्टी—कैन्ट
बल्गेरियन—सुतो	गेलिक—व्युड
लिथुआनियम—स्जिम्तास	तोखारी—कन्ध
प्राकृत—सदं	गाथिक—खुंद

इस सतम् एवं केण्टुम वर्ग के सम्बन्ध में सर्वप्रथम कुछ संकेत अस्कोली ने दिये थे। इसके पश्चात् वानब्रेड ने यह वर्गीकरण किया है। इस नियम के अनुसार भारतीय, ईरानी, अर्मेनियम, वाल्टिक-स्लैवोनिक और अल्बानियन भाषाओं का सम्बन्ध सतम् वर्ग से है और ग्रीक, इटैलिक, केल्टिक, ट्यूटानिक टोखारिश तथा हिट्टाइट भाषाओं का समावेश केण्टुम वर्ग में होता है। इन वर्गों में प्रथम वर्ग पूर्वीय या एशिया की भाषाओं का है तथा दूसरा वर्ग पश्चिमी या यूरोप से सम्बन्ध रखता है। अतः कोइ-कोई विद्वान् इन्हें पूर्वी वर्ग और पश्चिमी वर्ग भी कहते हैं। इन दोनों वर्गों की एक विशेषता तथा विलक्षणता का संकेत डा० मंगलदेव ने किया है। उनके

अनुसार, "भारत-यूरोपीय मूल-भाषा के स्वरात्मक 'न' या 'म्' (n, m) के स्थान में साधारणतया केण्टुम वर्ग में एक अनुनासिक स्पर्श (न् आदि) तथा एक स्वर देखा जाता है; परन्तु सप्तम वर्ग की भाषाओं में अनुनासिक अंश का सामान्यतः लोप हो जाता है और केवल निरनुनासिक स्वर शेष रहता है; जैसे—

संस्कृत 'दर्श,' लैटिन decom गाथिक Taihum, भारत-यूरोपीय मूल-भाषा dekm.

संस्कृत 'सप्त', लैटिन Septum, भारत-यूरोपीय मूल-भाषा Septn, संस्कृत शतम्, लैटिन Centum, गाथिक hund, भारोपीय मूल-भाषा kmtom.[1]

केण्टुम वर्ग—इस वर्ग की भाषाएँ छह वर्गों में विभक्त हैं या दूसरे शब्दों में कहें तो इस वर्ग में छह भाषाएँ आती हैं—

(१) कैल्टिक या केल्टी
(२) ट्यूटानिक या जर्मन
(३) लैटिन या इटाली
(४) हैलेनिक या ग्रीक
(५) हिट्टाइट
(६) तोखारी

कैल्टिक शाखा—इस केल्टी भाषा के बोलने वाले यूरोशिया के पश्चिमी कोने में रहते हैं। इस शाखा का लैटिन शाखा से अधिक साम्य दृष्टिगत होता है। (i) दोनों भाषाओं में पुल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग ओकारान्त संज्ञाओं में सम्बन्ध कारक के लिए 'ई' प्रत्यय प्रयुक्त होता है। (ii) दोनों में क्रियार्थक संज्ञा का प्रत्यय शन् (tion) होता है। (iii) कर्मवाच्य की प्रक्रिया दोनों में समान है। (iv) केल्टिक में उच्चारण-भेद एक 'क' वर्गीय तथा दूसरा 'प' वर्गीय है। 'प' ब्रटानिक तथा 'क' गायलिक कहलाते हैं।

इस शाखा की भाषाओं में दो मुख्य हैं। एक का वर्तमान रूप आयरलैण्ड में मिलता है तथा दूसरी का स्काटलैण्ड के वेल्स तथा कार्नवाल प्रदेशों में पाया जाता है।

ट्यूटानिक शाखा—इस शाखा का दूसरा नाम जर्मनी शाखा है। भारोपीय परिवार की यह एक महत्त्वपूर्ण शाखा है। अंग्रेजी इसी शाखा की भाषा है, जो कि अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त है। (i) इस शाखा की भाषाएँ संहिति से व्यवहिति की ओर उन्मुख हो रही हैं। (ii) इसमें ध्वनि-परिवर्तन की प्रधानता है।

इस परिवार की भाषाओं में दो बार ध्वनि-परिवर्तन हो चुका है। प्रथम वर्ण-परिवर्तन प्रागैतिहासिक काल में हुआ था, द्वितीय वर्ण-परिवर्तन सप्तम शतक

---

1. तुलनात्मक भाषाविज्ञान, पृ० २९१।

में। प्रथम वर्ण-परिवर्तन के कारण जर्मन शाखा अन्य भारोपीय शाखाओं से पृथक् हुई थी, द्वितीय वर्ण-परिवर्तन पश्चिमी जर्मनी में हुआ था। फलतः जर्मन भाषा भी उच्च जर्मन तथा निम्न जर्मन नाम के दो भेदों में विभक्त हो गयी थी। इस परिवार में जर्मन, डच, गाथिक, नार्स, बवेनियन आदि भाषाएँ आती हैं।

इटैलिक—यह इटली शाखा की लैटिन प्रधान साहित्यिक भाषा है। अतएव इस शाखा को लैटिन शाखा भी कहा जाता है। (i) यह व्यवहिति-प्रधान भाषा है। (ii) उच्चारण के आधार पर इस शाखा को दो वर्गों—'क', 'प' मे विभक्त किया गया है। 'क' वर्ग में लैटिन, पपेरिअस, क्वास तथा 'प' वर्ग में ओस्कन, क्विक. पास तथा येपो आदि भाषाओं की गणना की जाती है।

लैटिन प्राचीन रोम साम्राज्य की भाषा थी। इसी भाषा में धर्म, संस्कृति, साहित्य आदि सुरक्षित हैं। यूरोप की वर्तमान भाषाओं पर लैटिन तथा ग्रीक भाषा के प्रभाव की आज भी खोज की जा सकती है। कैल्टिक और इटालिक भाषाओं में साम्य मिलता है।

हैलोनिक शाखा या ग्रीक—भारोपीय परिवार में यह शाखा प्राचीनतम है। प्राचीन काल में इस शाखा में अनेक बोलियाँ उपलब्ध थीं। ग्रीक भाषा के प्रसिद्ध कवि होमर के ईलियड तथा ऑडेसी महाकाव्य इसी शाखा की सम्पत्ति हैं। सुकरात तथा अरस्तू के मूल ग्रन्थ भी इसी शाखा के हैं। ग्रीक भाषा का वैदिक संस्कृत से अनेक बातों में साम्य मिलता है। (i) संगीतात्मक स्वराघात दोनों भाषाओं की विशेषता है। (ii) दोनों ही संहित भाषाएँ हैं। (iii) संस्कृत के परस्मैपद तथा आत्मनेपद के समान ही एक्टिव तथा मिडिल वाइस मिलता है। (iv) द्विवचन, निपात तथा समास-विषयक समताएँ हैं।[1] (v) किन्तु संस्कृत की अपेक्षा ग्रीक में स्वर अधिक हैं तथा व्यंजन अल्प हैं।

इस परिवार में लोकानियन, मेस्सेनियन, कारिथियन, मेगारन, क्रीटन, थैसालेनियन लाम्बअन, इओनिक तथा एटिक आदि भाषाएँ हैं।

हिट्टाइट शाखा—एशिया माइनर के बोगास्कोई की खुदाई में कुछ कीलाक्षर लेख मिले हैं जिनसे हिट्टाइट भाषा का पता चलता है। इस भाषा को भाषा-वैज्ञानिक अनिश्चित वर्ग की भाषा मानते हैं। किन्तु अध्यापक हान्जी के मतानुसार यह भारोपीय परिवार की भाषा है।[2] (i) इस भाषा की विभक्तियाँ एवं सर्वनाम, संस्कृत-लैटिन से अधिक साम्य रखते हैं। (ii) कारक रचनाएँ भी भारोपीय हैं। भारोपीय सात कारकों के स्थान पर हिट्टाइट में छह कारक हैं। संस्कृत में प्राप्त तत् (वह) हिट्टाइट में भी 'तत्' होता है तथा 'कः' (कौन) के लिए हिट्टाइट में 'कुइस' प्रयोग मिलता है।

---

1. Taraporewala, Elements of Science of Language, p. 140-41
2. Ibide, p. 146.

तोखारी शाखा—बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जर्मन विद्वानों ने एशिया के तुर्फान प्रदेश में इस भाषा का अनुसन्धान किया है। इसी खोज में भारतीय लिपि में लिखित कुछ ग्रन्थ भी मिले हैं। अध्ययन करने पर यह भाषा भारोपीय परिवार की केन्टुम शाखा की प्रतीत होती है। साथ ही यूराल-अल्टाई परिवार की भाषाओं के प्रभाव की भी इस पर खोज की जा सकती है। (i) इस भाषा में स्वरों की जटिलता कम है। (ii) सर्वनाम तथा संख्यावाचक शब्द पूर्णतः भारोपीय हैं। (iii) शब्द-समूह संस्कृत से बहुत कुछ साम्य रखता है। (iv) आठ विभक्तियाँ हैं। (v) क्रिया के रूप भी जटिल नहीं हैं। शब्द-साम्य के कुछ उदाहरण :

संस्कृत	तोखारी
पितृ	पाचर Pācar
मातृ	माचर Mācar
भ्रातृ	प्राचर Prācar
वीर	वीर Wir
श्वन्	कु Ku

सतम् वर्ग—सतम् वर्ग में निम्नलिखित प्रमुख शाखाओं की गणना की जाती है—

(१) अल्बेनियन या अल्बेनी या इलीरियन शाखा।
(२) बाल्टिक या लैटिन शाखा।
(३) स्लैवोनिक शाखा।
(४) अर्मेनियन शाखा।
(५) आर्य शाखा।

अल्बेनियन—यह भाषा-परिवार एड्रियाटिक सागर के तट पर कारिन्थियक की खाड़ी से इटली के दक्षिणी-पूर्वी भाग तक फैला हुआ है। किन्तु इस शाखा की भाषाओं का न तो कोई पुराना साहित्य ही है और न प्राचीन रूप के भाषा-भाषी। कुछ शिला-लेखों के आधार पर इस भाषा के प्राचीन रूप का ज्ञान होता है। इस शाखा में वेनेष्यिन, लिबर्नियन, मेस्सापियन, अल्बेनियन (घेघ, टोस्क) इलीरियन, एपिराट आदि भाषाएँ सम्मिलित हैं। किन्तु इन भाषाओं में अल्बेनियन प्रधान है। इस भाषा का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन होने पर इसके रूप और ध्वनि की अपनी विशेषताएँ स्पष्ट है। इस अल्बेनियन भाषा पर तुर्की, स्लावोनिक, लैटिन तथा ग्रीक आदि भाषाओं के शब्दों का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

बाल्टिक शाखा—इस शाखा को लैटिक भी कहते है। इस शाखा की प्रमुख भाषा प्रशियन है। इसका क्षेत्र बाल्टिक तट पर विश्चुला और नीमेन नदियों के मध्य प्रशियन नामक जर्मनी द्वीप तक फैला हुआ है। इस शाखा की द्वितीय भाषा लिथुआनियन है। यह भारोपीय भाषाओं में मूल भाषा के अधिक निकट है। भाषा-

वैज्ञानिकों की दृष्टि से लिथुआनियन एक महत्त्वपूर्ण भाषा है; क्योंकि इसके शब्दों में प्राचीनता के लक्षण प्राप्त होते हैं। ग्रीक भाषा के समान ही इसके शब्दों के उच्चारण में अब भी उदात्तादि स्वर विद्यमान हैं तथा द्विवचन के रूप भी प्राप्त होते हैं। लिथुआनियन भाषा में इसी प्राचीनता के दर्शन होने के कारण किसी-किसी विद्वान ने बाल्टिक समुद्र के तट के समीप की भूमि को ही भारोपीय आर्य-जातियों का मूल स्थान सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस शाखा की तीसरी भाषा लैटिक रूस के पश्चिम में लैटिव्या राज्य की भाषा है। यह भाषा लिथुआनियन की अपेक्षा अधिक विकसित है। इन तीनों ही भाषाओं का साहित्य १६वीं, १७वीं शताब्दी से पूर्व का प्राप्त नहीं होता है।

स्लैवोनिक शाखा—इस शाखा की भाषाएँ काले समुद्र के उत्तर में सम्पूर्ण रूस में फैली हुई हैं। रूस, पोलैण्ड, यूगोस्लाविया, आस्ट्रिया, बोहेमिया, सर्बिया में बोली जाने वाली भाषाएँ इसी शाखा के अन्तर्गत आती हैं। यह प्राचीन तथा समृद्ध भाषा-परिवार है। इस भाषा-परिवार में बल्गेरियन भाषा सर्वाधिक प्राचीन है। इसमें ईसा की नवीं सदी तक का साहित्य मिल जाता है। इस भाषा के बाइबिल का अनुवाद नवीं शताब्दी में किया था। यह भाषा पूर्णतः विश्लेषणात्मक हो गयी है। इस भाषा में तुर्की, ग्रीक, रूमानी, अल्बेनियन आदि भाषाओं के अनेक शब्द मिलते हैं। पश्चिमी शाखा की प्रधान भाषा जेक अथवा बोहेमियन है। इस भाषा का साहित्य बारहवीं शताब्दी तक का उपलब्ध है तथा उससे पूर्ववर्ती कुछ लेख अवश्य मिले हैं। इधर १५० वर्षों से इस भाषा का साहित्य विशेष रूप से विकसित हुआ है।

अर्मेनियन शाखा—इस शाखा की भाषाएँ अर्मीनिया में बोली जाती हैं। इस शाखा की भाषाओं में प्राचीन साहित्य उपलब्ध होता है। इस भाषा का शब्द भण्डार ईरानी भाषा के शब्दों से भरा हुआ है। यदा-कदा तुर्की और अरबी शब्द-भी मिल जाते हैं। यूरोप और एशिया के सीमाप्रान्त पर बोली जाने वाली फ्रीजियन भाषा इसी शाखा की भाषा है। अर्मेनियन प्राचीन और नवीन दो रूपों में मिलती है। एक का प्रयोग एशिया में तथा दूसरी का प्रयोग यूरोप में होता है। अर्मेनियन भाषा भारत-ईरानी भाषा-वर्ग और बाल्टिक-स्लैवोनिक भाषा-वर्ग के बीच की भाषा प्रतीत होती है। इसकी व्यंजन-माला यूरोपीय भाषाओं की अपेक्षा भारत-ईरानी भाषा-वर्ग के अधिक निकट है। उदाहरणतः दस को अर्मेनियन में Tasn लैटिन decem (c=क) और ग्रीक deka की अपेक्षा संस्कृत के दश (—न्) और फारसी के दह से अधिक निकट है। स्वरों की दृष्टि से आर्मिनियन भाषा यूरोपीय भाषाओं के निकट है।

भारत-ईरानी (आर्य)

आर्य-शाखा अथवा हिन्द-ईरानी शाखा—भारोपीय परिवार की यह शाखा

साहित्य और भाषा की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। आर्य-परिवार ही नहीं, विश्व के भाषा-परिवारों में इसका साहित्य प्राचीनतम है। ऋग्वेद (ई० पू० ३०००) के समान प्राचीनतम विशुद्ध साहित्य-ग्रन्थ किसी अन्य भाषा में उपलब्ध नहीं होता है। जेन्द-अवस्ता भी ई० पू० ७०० का ग्रन्थ माना जाता है। वह भी इसी भाषा-परिवार का ग्रन्थ है। इस शाखा की भाषाओं का गठन तथा उनका साहित्य भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भाषा-विज्ञान के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए भी इस परिवार ने अनुपम तथा अपरिमित सामग्री प्रदान की है।[1] इस शाखा के आर्य अन्य आर्यों का साथ छोड़ देने के पश्चात् जब आगे बढ़े तो कुछ आर्य ईरान में ही रुक गये और कुछ लोग भारत की ओर आकर बसे। इसी कारण इस शाखा की भारतीय तथा ईरानी दो शाखाएँ हो गयीं। परिणामस्वरूप, इसे 'भारत-ईरानी भाषा-कुल' भी कहते हैं।

संस्कृत एवं अवेस्ता का साम्य

भारत-ईरानी कुल परस्पर अधिक निकट हैं। दोनों शाखाओं की भाषाओं में स्वर, व्यंजन, शब्द आदि अनेक रूपों में साम्य मिलता है :

स्वरगत:	**भारोपीय**	नेभास	ओस्थ	याग
	संस्कृत	नभस	ओस्थ	यज
	अवेस्ता	नबह	अत्ति	यज्ञ

दोनों वर्गों की भाषाओं में तीन ह्रस्व मूलस्वर, 'अ', 'ए', 'ओ' तथा तीन दीर्घ स्वर 'आ', 'ए' 'ओ' के स्थान पर एक ह्रस्व मूलस्वर 'अ' और एक दीर्घ मूलस्वर 'आ' ही शेष रह गये हैं।

दोनों में भारोपीय के उदासीन स्वर के स्थान पर 'इ' स्वर मिलता है— 'अपते' का संस्कृत में 'पिता', अवस्था में 'पिता' मिलता है। इ, उ, र् और क् के बाद आने वाला स् इस शाखा में श, ष हो गया है—

भारोपीय	संस्कृत	अवेस्ता
स्थिस्थामि	तिष्ठामि	हिश्तौति
जिडस्टर	जोष्टृ	जओशो

दोनों भाषाओं में शब्द-साम्य भी दृष्टिगत होता है, केवल उच्चारण मात्र का ही भेद शेष है—

1. **तुलनात्मक भाषा-विज्ञान पृ० २६५ से उद्धृत :**
"As a Historical fact, the scientific study of human speech is founded upon the comparative philology of the Indo-European Languages, and this acknowledges the Sanskrit as its most valuable means and aid." *Whitney*, **Language and its Study.**

संस्कृत	अवेस्ता
असुर	अहुर
असि	अहि
ओजस्	ओज:
पुत्र	पुथ्र
वसिष्ठ	वहिश्त्व
विश्व	विष्थ
सप्त	हप्त

भारत-ईरानी-कुल में भेदक लक्षण

(१) ईरानी में भारतीय कुल की अपेक्षा स्वर अधिक हैं। ईरानी में आठ स्वर हैं जिनका भारतीय शाखा में 'अ' या 'आ' से कार्य लिया जाता है।

(२) अवेस्ता में आदि स्वरागम (सं० रिणक्ति, अवे० इरनरिक्त) और बाद के अक्षर के स्वर का पूर्व के अक्षर पर प्रभाव (सं० भरति, अवे० बरहति) अधिक दृष्टिगत होता है।

(३) संस्कृत ऋ का ईरानी में अर, र या अ हो जाता है।

(४) ईरानी में चवर्ग के दो व्यंजन (च् ज्) ही हैं। किन्तु भारतीय वर्ग में पाँच व्यंजन (च्, छ् ज् झ् ञ्) होते हैं।

(५) ईरानी में टवर्ग नहीं होता है।

(६) पाँचों वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ महाप्राणों का ईरानी में अभाव है।

(७) प्राचीन ईरानी में 'ल' के स्थान पर 'र' का प्रयोग होता है।

(८) ईरानी शब्दों में भारतीय शब्दों का प्रारम्भिक 'स' 'ह' हो गया है। सप्ताह का हफताह, सिन्धु का हिन्दु।

(९) अघोष अल्पप्राण क् त् ष् ईरानी में ख्, थ्, फ्, में रूपान्तरित हो जाते हैं। इसी प्रकार घोष महाप्राण घ् ध् भ् ईरानी में अल्पप्राण ग्, द्, ब् में परिवर्तित हो जाते हैं।

संस्कृत एवं अवेस्ता भाषाओं का साम्य-वैषम्य

अवेस्ता ईरानियों की भाषा है, संस्कृत की भाँति इसके भी दो रूप मिलते हैं। "अवेस्ता शब्द का अर्थ है, 'शास्त्र या ज्ञान की पुस्तक'। जिस प्रकार 'वेद', 'विद्', धातु से बना है, उसी प्रकार ईरानी धातु वित् (=जानना) से अवेस्ता शब्द का सम्बन्ध है। इस प्रकार 'वेद' और 'अवेस्ता' दोनों शब्दों का मूल एक है। पारसियों के वेद या धर्मग्रन्थ का नाम 'अवेस्ता' है। इसी आधार पर उसकी भाषा को भी अवेस्ता कहा गया है।"

अवेस्ता किस क्षेत्र की भाषा थी, यह विवादास्पद है; किन्तु अधिकांश लोग इसे पूर्वी क्षेत्र की भाषा मानते हैं। कुछ विद्वान इसे पश्चिमोत्तरी भाषा स्वीकार करते हैं। अस्तु,

निश्चय ही अवेस्ता भाषा प्राचीन फारसी से अधिक पुरानी है। अवेस्ता के प्राचीन भाग, अर्थात् 'गाथा' की रचना ७वीं सदी ई० पू० के लगभग की है। परवर्ती अंश तीसरी-चौथी सदी ई० पू० के हैं। इसी प्रकार वैदिक भाषा और वेदों का रचना काल ई० पू० २००० से १५०० ई० पू० तक माना जाता है। समय ही नहीं, भाषा की दृष्टि से भी अवेस्ता एवं वैदिक संस्कृत में पर्याप्त साम्य है। दोनों का नैकट्य सिद्ध है। अवेस्ता की भाषा की किसी एक गाथा में यदि यत्र-तत्र ध्वनि-परिवर्तन कर दें तो वह वैदिक संस्कृत में परिवर्तित दृष्टिगत होती है। प्रस्तुत उद्धरण द्रष्टव्य है—

अवेस्ता=तं अमवन्तं यजतम्। सूरम् दामोहुसविश्तम्।
मिथ्रं यजई ज़ओथ्रद्व्यो॥
वैदिक=तं अमवन्तं यजतम्। सूरम् धामसु सविष्ठम्।
मित्रं यजे होत्राभ्यः।

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि इन दोनों ही भाषाओं में पर्याप्त साम्य है। प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा ने इस प्रसंग में लिखा है—

'वेद का समय २००० ई० पू० से १५०० ई० पू० के बीच माना जाता है। अवेस्ता का समय भी ७०० ई० पू० के लगभग निर्धारित किया गया है। भारत-यूरोपीय परिवार में इन दोनों भाषाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान हैं। ऋग्वेद से अधिक प्राचीन साहित्य संसार की किसी भाषा में उपलब्ध नहीं है और संस्कृत का साहित्य कितना समृद्ध है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। अवेस्ता से ईरानी की प्राचीनता सिद्ध है और उसका उत्तरवर्ती साहित्य भी बहुत सम्पन्न और रमणीय है। इस प्रकार ये दोनों भाषाएँ साहित्यिक दृष्टि से ही नहीं, भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं।''

(१) संस्कृत एवं अवेस्ता के स्वरों की मात्राओं में अन्तर है, जैसे, संस्कृत का स्वर कहीं दीर्घ हो जाता है; जैसे—

ऋतुम् > रतुम्
अथ > अथा

(२) ऋ का प्रायः अर् हो जाता है; जैसे—मृत्यु > मरय्युस्, कृणोति > करनओति।

(३) स्वरों में अनेक प्रकार की भिन्नताएँ हैं; जैसे—

ए > अए—
एतत् > अएतत

ओ>अओ

होता>ज़ आता ।

ऐ>आइ—

देवै>दएवाइस्

औ>आउ

गौः>गाउश ।

(३) अवेस्ता में स्वरागम की प्रवृत्ति मिलती है, वह आदि और अन्त कहीं भी हो सकता है—

अग्रागम संस्कृत :—रिणक्ति, रिष्यति

↓ ↓

अवेस्ता>इरिनाख्ति; इरिष्येइति

मध्यागम—संस्कृत भवति, भरति

↓

अवेस्ता—बवइति, बरइति,

(५) व्यंजनों में प्रायः साम्य है, किन्तु संस्कृत के समान अवेस्ता समृद्ध नहीं है। अवेस्ता टवर्ग का पूर्णतः अभाव है, तालव्य में केवल च और ज़ हैं।

(६) दूसरे वर्णों के संयोग से संस्कृत की अघोष अल्पप्राण (क्, त्, प्,) ध्वनियाँ अवेस्ता में संघर्षी (ख़्, थ्, फ़्,) में परिवर्तित हो जाती हैं। उदाहरणतः—

ऋतुः>ख़्रतुशः

स्वप्नः>ख़्वप्नम्

यदा-कदा अघोष महाप्राण (ख, थ, फ,) भी संघर्ष वर्णों में परिवर्तित हो जाते हैं; जैसे—

सखा>हखा

गाथा>गाथ्;

(७) संस्कृत की सघोष महाप्राण (घ, ध् भ्) ध्वनियाँ अवेस्ता में संघोष अल्पप्राण (ग, द, उ,) के रूप में मिल जाती हैं; जैसे—

घ>ग—जंघा>जंगा

घर्म>गर्म

ध>द—धारयत्>दारयत्,

धेनु>दएनु ।

भ>ब—भूमि>बूमि

भवति>बवइति

भरति>बरइति ।

(८) आदि के 'स' के स्थान पर 'ह' मिलता है; जैसे—

संस्कृत सिन्धु का हिन्दु

संस्कृत—सप्त का हफ्त

सर्व का हर्व

(९) संस्कृत के अनुनासिकों—ङ्, ञ्, ण्, न्, म् के स्थान पर अवेस्ता में केवल ङ्, म्, न् ही मिलते हैं, शेष दो नहीं।

(१०) अवेस्ता में ल का सर्वथा अभाव है।

(११) अवेस्ता में बलाघात के कारण दीर्घ स्वरों का लोप हो जाता है।

(१२) शब्द रूप और कारकों में प्रायः समता है।

(१३) सर्वनामों में साम्य है।

(१४) क्रिया-रूपों में अधिकतर साम्य मिलता है।

उपर्युक्त साम्य-वैषम्य-निरूपण संस्कृत एवं अवेस्ता के नैकट्य का प्रमाण है। इस आर्य-शाखा के तीन उपकुल हैं :

(१) ईरानी

(२) दरद

(३) भारतीय

ईरानी—ईरानी शाखा में साहित्य-रचना बहुत प्राचीन काल से हो रही थी, किन्तु आज उसकी प्राचीन निधियों का पता नहीं है। सम्भवतः ग्रीक और अरब विजेताओं की तृष्णा ज्वाला में वह भस्म हो गया होगा। सम्प्रति पारसियों के धर्मग्रन्थ के रूप में अवेस्ता तथा षष्ठ शतक के राजाओं के कुछ लेखमात्र ही अवशिष्ट हैं। ईरानी शाखा की कुछ ध्वनियाँ ऐसी हैं जो उसकी सजातीय भाषाओं, संस्कृत आदि की ध्वनियों से भिन्न है; उदाहरणार्थ—भारोपीय कुल भाषा का 'स' 'स' संस्कृत में ज्यों-का-त्यों मिलता है, परन्तु ईरानी में वह विकृत होकर 'ह' में रूपान्तरित हो गया है। संस्कृत का सिन्धु ईरानी में हिन्दु के रूप में सुरक्षित है। इस शाखा की उपभाषाएँ फारसी तथा अवेस्ता आदि हैं।

दरद—इस भाषा का क्षेत्र पामीर और पश्चिमोत्तर पंजाब के मध्य में है। गठन की दृष्टि से पश्तो की भाँति ही दरद भी ईरानी और भारतीय के बीच की है। किन्तु यदि पश्तो' ईरानी की ओर अधिक उन्मुख है तो दरद भारतीय भाषाओं की ओर। इसलिए आज भी भारत के विभिन्न प्रान्तों में दरद भाषा-भाषी मिल जाते हैं। आज भी लहंदा, सिन्धी, पंजाबी और सुदूर कोंकणी 'मराठी' पर भी उसका प्रभाव परिलक्षित होता है। प्राचीन भारतीय पुराण साहित्य में 'दरद' जाति पिशाच के रूप में उल्लिखित है। पैशाची प्राकृत के विवरण भारतीय साहित्य में सदा ही उपलब्ध होते रहे हैं।

दरद शाखा की तीन भाषाएँ हैं—

(i) दरद

(ii) काफिर

(iii) खोवार-चित्राली

दरद की उपभाषाओं में शोना, कोहिस्तानी, कश्मीरी, गिलगिटी, ब्रोक्चा, मैंआ, तोखारी, गार्वी, कल्टवारी आदि हैं। इनमें काश्मीरी साहित्य-सम्पन्न एवं उन्नत भाषा है। इसकी लिपि भी शारदा है।

भारतीय उपशाखा के साहित्य को तीन भागों में विभक्त कर अध्ययन किया जा सकता है :

(१) प्राचीन भारतीय आर्यभाषाकाल (१५०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक)
(२) मध्यकालीन आर्यभाषाकाल (५०० ई० पू० से १००० ई० तक)
(३) आधुनिक आर्यभाषाकाल (१००० ई० से वर्तमान समय तक)

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा का साहित्य वैदिक साहित्य के रूप में सुरक्षित है। तदनन्तर सूत्र-साहित्य, रामायण, महाभारत तथा संस्कृत के अन्य कवियों के ग्रन्थ एवं शिलालेख आदि में भाषा सुरक्षित है। प्रारम्भ में निश्चय ही यह जन-समाज की भाषा रही होगी। किन्तु कुछ समय बाद मात्र यह साहित्यिक रूप में ही अवशिष्ट रह कर कृत्रिम रूप धारण कर गयी है। यह संस्कृत लगभग बारहवीं शताब्दी तक राजभाषा के रूप में मान्यता प्राप्त रही है।

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा का साहित्य पालि और विभिन्न प्राकृत भाषाओं में मिलता है। ये व्याकरण, उच्चारण आदि में प्राचीन भारतीय आर्य-भाषाओं से पर्याप्त भिन्न हैं। इन्हीं भाषाओं से आधुनिक भारतीय आर्यभाषा का विकास हुआ है। बौद्ध साहित्य पालि भाषा में, जैन साहित्य प्राकृत भाषाओं में, तथा अनेक प्राकृत के व्याकरण ग्रन्थ, काव्य, नाटक भी मिलते हैं। मध्यकालीन भाषा को—(१) प्राचीन प्राकृत (पालि) (२) मध्य प्राकृत तथा (३) अन्त्य प्राकृत (अपभ्रंश) नामक तीन भागों में बाँटा जा सकता है। इन भाषाओं से आधुनिक आर्य-भाषाओं के विकास की कहानी सहज ही विदित हो जाती है।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के प्रारम्भ का निश्चयात्मक काल विवादास्पद है। हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण जो बारहवीं शताब्दी की रचना है, अपभ्रंश में है। चन्दवरदाई का काव्य पश्चिमी हिन्दी में है। यह भी लगभग इसी काल की रचना है। अतः समय क्या है, कुछ निश्चय से नहीं कहा जा सकता, तथापि अधिकांश भाषावैज्ञानिक ई० १००० से आधुनिक काल का आरम्भ मानते हैं।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का विद्वानों ने वर्गीकरण किया है—

प्रथम ग्रियर्सन तथा द्वितीय सुनीतिकुमार चटर्जी। इस वर्गीकरण का धीरेन्द्र वर्मा ने अपने 'हिन्दी भाषा का इतिहास' की भूमिका में भी विवेचन किया है।

ग्रियर्सन से अनुसार इन भाषाओं का वर्गीकरण इस प्रकार है :

(क) बहिरङ्ग उपशाखा

(१) पश्चिमोत्तरी	(१) लहंदा
	(२) सिंधी
(२) दक्षिणी वर्ग	(३) मराठी
(३) पूर्वी वर्ग	(४) असमी
	(५) बँगला
	(६) उड़िया
	(७) बिहारी

(ख) मध्यवर्ती उपशाखा

(४) मध्यवर्ती वर्ग	(८) पूर्वी हिन्दी

(ग) अन्तरंग उपशाखा

(५) केन्द्र वर्ग	(९) पश्चिमी हिन्दी
	(१०) पंजाबी
	(११) गुजराती
	(१२) भीली
	(१३) खानदेशी
	(१४) राजस्थानी
(६) पहाड़ी समुदाय	(१५) पूर्वी पहाड़ी—नेपाली
	(१६) केन्द्रवर्ती पहाड़ी
	(१७) पश्चिमी पहाड़ी

डा० चटर्जी का वर्गीकरण अधिक मान्यता प्राप्त है। चटर्जी के वर्गीकरण को देख कर ग्रियर्सन ने भी अपने वर्गीकरण का पुनः संशोधन किया था। भारतीय भाषावैज्ञानिक—धीरेन्द्र वर्मा, राममूर्ति मेहरोत्रा आदि ने भी चटर्जी के वर्गीकरण को अधिक महत्त्व प्रदान किया है। वह वर्गीकरण इस प्रकार है :

(क) उदीच्य (उत्तरी) वर्ग

(१) सिंधी
(२) लहंदा
(३) पंजाबी

(ख) प्रतीच्य (पश्चिमी) वर्ग

(४) गुजराती
(५) राजस्थानी

(ग) मध्यदेशीय वर्ग

(६) पश्चिमी हिन्दी

(घ) प्राच्य (पूर्वी) वर्ग

(७) पूर्वी हिन्दी

(८) बिहारी

(९) उड़िया

(१०) बँगला

(११) असमी

(ङ) दक्षिणात्य (दक्षिणी) वर्ग

(१२) मराठी

इनके अतिरिक्त भारतीय आधुनिक आर्य-भाषाओं की अपनी स्थानीय अनेक उपभाषाएँ भी हैं।

आशय यह है कि भारोपीय भाषा-परिवार विश्व के भाषा-परिवारों में अधिक विकसित, अधिक सम्पन्न है एवं अधिक व्यापक क्षेत्र में फैला हुआ है।

प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा

भारतीय प्राचीन आर्य-भाषा काल का समय-आर्यों के भारत-प्रवेश से ५०० ई० पू० तक माना जाता है। इस युग की भाषा को सामान्यतः संस्कृत कहा जाता है। यह संस्कृत वैदिक एवं लौकिक (Classical) दो रूपों में है। वैदिक भाषा को छांदस भी कहा जाता है। सप्तसिन्धु प्रदेश की यह भाषा उदीच्य भाषा के रूप में ख्याति प्राप्त थी। यही परिनिष्ठित साहित्यक संस्कृत भाषा थी, इसे गौरव प्राप्त था :

तस्मादुदीच्यां प्रज्ञाततरा वागुद्यते, उदञ्च उ एवयन्ति वाचं शिक्षितुम् यो वा तत आगच्छति, तस्य वा शुश्रूषन्त इति।[1]

इस भाषा के अतिरिक्त आसुरी भाषा जो कि प्राच्य भाषा के रूप में भी प्रसिद्ध थी, उस युग में प्राप्त होती है। इस आसुरी भाषा में उस युग की बोलीगत विभिन्नता के भी दर्शन किये जा सकते हैं। यह विभिन्नता विशेषकर 'र' और 'ल' ध्वनि पर आधारित थी। भारत-ईरानी शाखा में 'र' और 'ल' ध्वनि का कार्य के लिए 'र' ध्वनि ही थी, इसे पश्चिमी बोली भी कहा जाता था। दूसरी बोली में 'र' और 'ल' दोनों ही थे। तृतीय बोली में 'र' का अस्तित्व न होकर केवल 'ल' ही शेष था। इस प्रकार की भाषा को पतंजलि ने एक उदाहरण देकर उसे असुरों की भाषा कहा है :

"ते असुराः हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः।"

इस उद्धृत अंश में 'रेऽरय' के स्थान पर 'हेऽलयः' का प्रयोग, इसे असुरों

---

१. कोशीतकि ब्राह्मण, ७/६

की भाषा बताता है और यह भी सिद्ध करता है कि प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा काल में बोलीगत विभिन्नताएँ थीं।

इतना सब होने पर भी वैदिक आर्य अपनी भाषा के प्रति विशेष सचेष्ट थे। वे उसे सर्वथा सुरक्षित रखना चाहते थे। उस युग में इन आर्यों की भाषा के भी दो रूप थे—एक शिक्षित लोगों की सुसंस्कृत भाषा, दूसरी सामान्य जनता की भाषा। सुसंस्कृत भाषा परिवर्तनों से सदा ही बचती रही; किन्तु सामान्य जनता की भाषा में अनेक परिवर्तन क्रमशः पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी आदि के रूप में होते रहे हैं।

वैदिक संस्कृत एवं पाणिनि के द्वारा सुसंस्कृत एवं नियमबद्ध भाषा में भी अन्तर मिलता है (इस अन्तर का विवेचन आगे के पृष्ठों में किया जायगा)। ऋग्वैदिक संस्कृत में भी अनेक ऋषियों एवं अनेक वर्षों में निष्पन्न-रचित मन्त्रों की सत्ता है; अतः उसमें भी भाषागत विभिन्नता के दर्शन किये जा सकते हैं। वैदिक मन्त्रों की भाषा के पश्चात् ब्राह्मण-ग्रन्थों की भाषा का विकास होता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों की भाषा का स्वरूप बहुत कुछ लौकिक संस्कृत के निकट है। इस भाषा की प्रवृत्ति सारल्य की ओर उन्मुख है। ब्राह्मण ग्रन्थों के पश्चात् उपनिषदों की संस्कृत का युग आता है। यद्यपि इन दोनों भाषाओं में विशेष अन्तर नहीं है, तथापि उपनिषदों की चिन्तनमयी भाषा में भावात्मकता के भी दर्शन होते हैं, उसमें प्रवाह भी है। भाषा की इस परिवर्तनशीलता के कारण अनेक ऋग्वैदिक शब्द दुर्बोध हो गये, फलतः इस भाषागत दुर्बोधता के निराकरण के लिए शब्दों का निघण्टुओं में संग्रह तथा निरुक्त नामक व्याख्यात्मक निरुक्ति (व्युत्पत्ति)-प्रधान ग्रन्थों की रचनाएँ हुईं। इन निरुक्त ग्रन्थों की भाषा लौकिक संस्कृत की अपेक्षा संस्कृत के अधिक निकट है। संस्कृत-साहित्य का सूत्रकाल अपनी शैली की सूत्रात्मकता के लिए प्रसिद्ध है। इस युग में पाणिनि ने अष्टाध्यायी नामक ग्रन्थ की रचना कर, उस युग की भाषा के वास्तविक स्वरूप का निरूपण किया है। वैदिक एवं लौकिक संस्कृत के स्वरूप की सीमारेखा का स्पष्ट अङ्कन पाणिनिकृत अष्टाध्यायी के सूत्रों से हो जाता है। पाणिनि के द्वारा संस्कृत भाषा नियमबद्ध हो गयी और उन्हीं नियमों के अनुसार उसका प्रयोग होने लगा। परिणामस्वरूप, उसमें स्थिरता के दर्शन होने लगे।

भारत में संस्कृत का सदा महत्त्व रहा है और आज भी वह महत्त्वपूर्ण है। समग्र भारतीय चिन्तनधारा इस साहित्य में संगृहीत है। इतना विपुल सर्वांगसम्पन्न साहित्य विश्व की किसी अन्य भाषा में नहीं है। सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य एवं भाषा दो रूपों में विभक्त है

(१) **वैदिक संस्कृत**—यह यास्क और पाणिनि से पूर्व की भाषा कही जा सकती है।

(२) **लौकिक संस्कृत**—यास्क और पाणिनि के अनन्तर काव्य, नाटक आदि की भाषा।

इसे लौकिक संस्कृत क्यों कहते हैं, इसका स्पष्टीकरण करते हुए विण्टर-निट्ज लिखते हैं कि पाणिनि के नियमों के बद्ध होने के कारण यह लौकिक संस्कृत है—

"What we call classical Sanskrit means Paninis Sanskrit, that is the Sanskrit which according to the rules of Paninis is alone correct."

वैदिक एवं लौकिक संस्कृत—वैदिक साहित्य के अनुसन्धानकर्ताओं ने वैदिक भाषा का अध्ययन करने के पश्चात् यह संकेत दिया है कि वैदिक साहित्य का सृजन एक साथ न होकर एक बहुत लम्बे समय में हुआ है। इसका हम ऊपर की पंक्तियों में उल्लेख कर चुके हैं। स्वयं ऋग्वैदिक संस्कृत में अन्तर मिलता है। प्राचीन ऋग्वेद के मूलों में रेफ का प्रचुर प्रयोग है। भाषातत्व-वेत्ताओं के अनुसार संस्कृत भाषा के विकास के साथ ही ऋचाओं में 'रेफ' के स्थान पर 'लकार' का प्रयोग बढ़ता गया है और लौकिक संस्कृत में तो उसका प्रयोग और भी अधिक हो गया है। उदाहरण के लिए, जल-वाचक 'सलिल' शब्द का रूप 'सरिर' था तथा ऋग्वेद के प्राचीन कुल मण्डलों (Family books) में 'सरिर' शब्द का ही प्रयोग हुआ है, किन्तु दशम मण्डल में लकार-युक्त शब्द का प्रयोग होने लगा। व्याकरण की दृष्टि से भी भाषा-भेद दृष्टिगत होता है। ऋग्वेद के प्राचीन सूक्तों में पुल्लिग अकारान्त शब्दों में प्रथमा द्विवचन का प्रत्यय अधिकांश में 'आ' आता है; उदाहरणार्थ—'**द्वासुपर्णा सयुजा सखाया**', किन्तु दशममण्डल में उस (आ) के स्थान पर '**औ**' का भी प्रचलन होने लगा है; जैसे—'**मा वामेतौ मा परेतो रिषामं**', '**सूर्याचन्द्रमसो धाता**'। प्राचीन सूक्तों में क्रियाओं में तवै, से, असे, अध्यै आदि अनेक प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं, परन्तु दसवें मण्डल में अधिकतर 'तुमुन्' प्रत्यय का ही प्रयोग मिलता है। प्राचीन कर्तवै, जीवसे, अवसे आदि पदों के स्थान पर अधिकतर कर्तुम्, जीवितुम्, अवितुम् आदि तुमुन् प्रत्ययान्त प्रयोगी का प्राचुर्य है। इस प्रकार वेदों के रचनाकाल में हीं वैदिक संस्कृत में यत्र-तत्र भेदक-लक्षण मिल जाते हैं, किन्तु वे सामान्य ही हैं। लौकिक तथा वैदिक संस्कृत में यह भेदक-प्रवृत्ति बहुत अधिक बढ़ गयी है। इस पारस्परिक अन्तर को हम इस प्रकार देख सकते हैं :

(१) वैदिक संस्कृत में कर्ता-कर्म में अकारान्त पुल्लिग शब्दों का प्रथमा बहुवचन रूप असस् और अस् दो प्रत्ययों को अन्तर्भूत किये रहता है; जैसे—देवासः, देवाः, ब्राह्मणासः, ब्राह्मणाः, मर्त्यासः मर्त्याः तथा लौकिक संस्कृत में अस् से निर्मित देवाः मर्त्याः ब्राह्मणाः रूप ही मिलते हैं।

(२) वैदिक संस्कृत में अकारान्त शब्दों को तृतीया एकवचन में भिस् एवं

ऐस् दो प्रत्ययों के जोड़ने पर देवेभिः देवैः, पूर्वेभिः, रूप मिलते हैं, किन्तु लौकिक संस्कृत में प्रायः पूर्वैः, देवैः एक रूप मिलता है

(३) वैदिक संस्कृत में अकारान्त शब्दों का प्रथमा द्विवचन आ प्रत्यय के योग से और इकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों का तृतीया एकवचन ई प्रत्यय के योग से बनता है; उदाहरणार्थ—अश्विना तथा सुष्टुती। किन्तु लौकिक संस्कृत में 'औ' तथा 'आ' प्रत्यय मिलता है;—अश्विनौ, सुष्टुत्या

(४) वैदिक संस्कृत में सप्तमी एकवचन अनेक स्थानों पर लुप्त हो जाता है; जैसे—परमेव्योमन्ः, किन्तु लौकिक संस्कृत में यह लुप्त नहीं होता है। वहाँ पर व्योम्नि या व्योमनि रूप सुरक्षित है।

(५) वैदिक संस्कृत में अकारान्त नपुंसक लिंग शब्दों का एकवचन आ तथा आनि दो प्रत्ययों से बनता है; जैसे—विश्वानि, अद्भुजा; किन्तु लौकिक में विश्वानि, अद्भुतानि होना आवश्यक है।

(६) वैदिक संस्कृत में क्रियाओं में मसि तथा मः प्रत्यय मिलते हैं; यथा—इमसि, इमः, स्मसि, स्मः. मिनीमसि, मिनीमः। किन्तु लौकिक संस्कृत में दूसरे रूप मिलते हैं तथा धि प्रत्यय के स्थान पर 'हि' प्रयत्य मिलता है; जैसे—एधि-एहि, जधि-जहि; कहीं-कहीं पर दो-दो रूप भी मिल जाते है। श्रुधि, श्रुणुधि, शृणु, शृणुधि इन चारों रूपों के स्थान पर लौकिक संस्कृत में शृणु ही मिलता है।

(७) वैदिक संस्कृत में लोट् लकार मध्यम पुरुष के बहुवचन में त, तन, थन, तात प्रत्यय लगते हैं; जैसे—शृणोत, सुनोतन, यतिष्ठन्, कृणुतात्; जबकि लौकिक संस्कृत में इस प्रकार के रूपों का सर्वथा अभाव है।

(८) लौकिक संस्कृत में 'लिए' के अर्थ में 'तुमुन्' प्रत्यय का प्रयोग होता है, जैसा कि हम ऊपर निर्देश कर चुके हैं! इसी प्रकार 'त्वा' के लिए भी अनेक प्रत्यय वैदिक संस्कृत में थे; जिनमें आजकल 'त्वा' मात्र ही अवशिष्ट है। यही नहीं, वैदिक प्रत्यय मसि, ध्वा, ए के स्थान पर क्रमशः मस्, ध्वम्, त का प्रयोग होता है।

(९) वैदिक भाषा का सर्वाधिक प्रयुक्त एवं प्रिय लेट् लकार का लौकिक संस्कृत में सर्वथा अभाव है। उदाहरण के लिए, लेट् लकार की तारिषत्, जोषिषत्, पताति भवाति, पताम, ईशै आदि क्रियाओं का लौकिक संस्कृत भाषा में सर्वथा अभाव है।

(१०) बहुत-से वैदिक शब्दों के मध्य या अन्त में प्रयुक्त त्य, ति, तु, अम आदि शब्दों का परवर्ती संस्कृत भाषा में अभाव-सा हो गया है।

(११) वैदिक साहित्य में 'र' का प्रचुर प्रयोग है तो लौकिक साहित्य में 'ल' का प्रयोग। उदाहरण के लिए, म्रुच्, रभ, रोम, रोहित, क्रमशः म्लुच् लभ, लोम, लोहित के रूप में मिलते हैं। इसी प्रकार वैदिक ग्रभ् धातु के स्थान में लौकिक संस्कृत में गृह हो गया है, जैसे हस्तग्राभ का हस्तगृह।

(१२) वैदिक एवं लौकिक संस्कृत की शब्दावली में भी पर्याप्त परिवर्तन हुआ है; जैसे—वैदिक संस्कृत में ईम, विचर्षणी, अवस्तु, उर्गिया रिक्वन्, सीमा, उक्‌थ, ऊति आदि शब्दों का आज की लौकिक संस्कृत में प्रयोग नही मिलता।

(१३) कुछ शब्द ऐसे भो हैं जो लौकिक संस्कृत में दूसरे अर्थों के बोधक हो गये हैं। उदाहरण के लिए, वैदिक 'अराति' शब्द शत्रुता, कृपणता आदि अर्थ देने के बाद आज केवल 'शत्रु' अर्थ का बोधक हो गया है। 'मृडीक' भी इसी प्रकार 'कृपा' अर्थ देने के बाद 'शिव' का वाचक बन गया है। 'अरि' ईश्वर, धार्मिक आदि अर्थ देकर आज 'शत्रु' का वाचक हो गया है। इसी प्रकार 'न' वैदिक साहित्य में 'इव' अर्थ में प्रयुक्त होता है; किन्तु लौकिक संस्कृत में 'नहीं' के अर्थ का द्योतक है।

(१४) शब्द-भेद के अतिरिक्त छन्द की दृष्टि से भी वैदिक एवं लौकिक संस्कृत में अन्तर हुआ है। वैदिक संस्कृत में जहाँ तीन-चार अलंकार थे, वहाँ लौकिक संस्कृत में अलंकारों की संख्या दो सौ के लगभग है।

(१५) वैदिक संस्कृत में उपसर्ग धातुओं से अलग हैं; लौकिक संस्कृत में धातु के साथ ही सम्बद्ध हैं।

(१६) वैदिक संस्कृत भाषा में उदात्तानुदात्त-स्वरित आदि का प्रचुर प्रयोग है; लौकिक संस्कृत में ऐसी बात नहीं है।

(१७) वैदिक संस्कृत भाषा में सन्धि-कार्य नियमानुकूल नहीं है, जबकि लौकिक संस्कृत में संधि के नियम जटिल एवं अनिवार्य हैं।

(१८) वैदिक भाषा में समास चार प्रकार के मिलते हैं—(१) तत्पुरुष, (२) कर्मधारय, (३) बहुव्रीहि, (४) द्वन्द्व। किन्तु लौकिक संस्कृत में इनके अतिरिक्त दो समास और भी हैं—(१) द्विगु और (२) अव्ययीभाव।

(१९) लौकिक संस्कृत में वैदिक संस्कृत की अपेक्षा 'स्वरों' की संख्या कम हुई है। 'लृ' स्वर का पूर्णतः लोप हो गया है।

(२०) स्वर भक्ति वैदिक संस्कृत की प्रमुख विशेषता है। इसी कारण वैदिक संस्कृत में दो प्रकार के रूप मिलते हैं—(१) स्वरभक्ति युक्त, (२) स्वरभक्ति रहित; जैसे—तनुवः, तन्वः, सुवः, स्वः, सुवर्गः, स्वर्गः आदि। किन्तु लौकिक संस्कृत में स्वर से रहित रूपों को अधिक अपनाया गया है।

इस प्रकार वैदिक एवं लौकिक संस्कृत भाषा में मूलतः एकात्म्य होने पर भी रचना-रूप-ध्वनि की दृष्टि से कुछ मौलिक अन्तर भी मिलता है।

वैदिक भाषा की ध्वनियाँ

वैदिक संस्कृत भाषा में मूल ध्वनियाँ ५२ हैं। उनका वर्गीकृत रूप अग्रांकित है :

(१) **मूल स्वर**—ह्रस्व—अ, इ, उ, ऋ, ऌ
दीर्घ—आ, ई, ऊ, ॠ

(२) **संयुक्त स्वर**—ए, ओ, ऐ, औ

(३) **स्पर्श व्यंजन**—कण्ठ्य—क्, ख्, ग्, घ् ङ्
तालव्य—च्, छ्, ज्, झ् ञ्
मूर्धन्य—ट्, ठ्, ड्, ळ, ढ्, ळह, ण
दन्त्य—त्, थ्, द्, ध्, न् ।
ओष्ठ्य—प्, फ्, ब्, भ्, म् ।

(४) **अन्तस्थ** —य्, र्, ल्, व्,

(५) **ऊष्म** —श्, (तालव्य), ष् (मूर्धन्य), स् (दन्त्य)

(६) **महाप्राण** —ह,

(७) **शुद्धनासिक्य** —ं अनुस्वार

(८) **अघोष संघर्षी** —ः विसर्ग या विसर्जनीय,
—ᳵ जिह्वामूलीय
—ᳶ उपध्मानीय

उपर्युक्त वैदिक संस्कृत की ध्वनियों का विकास मूल भारोपीय भाषा से हुआ है, अतः मूल भारोपीय भाषा की ध्वनियों का परिचय भी यहाँ अपेक्षित है। मूल भारोपीय भाषा की ध्वनियाँ निम्न हैं :—

स्वर—मूलस्वर—ह्रस्व—अ, एँ, ओ
दीर्घ—आ, ए, ओ
अन्तस्थ ह्रस्व—इ, उ, ऋ, ऌ, न, म
मिश्र ह्रस्व—अइ, अऋ,, अऌ, अउ, अन, अम,
ऍइ, ऍऋ, ऍऌ, एँउ, एँन, एँम,
आइ, ओऋ, ओऌ, ओउ, ओन, ओम,
मिश्र दीर्घ—आइ, आऋ, आऌ, आउ, आन, आम,
एइ, एऋ, एल्, एउ, एन, एम,
ओइ, ओऋ, ओल्, ओउ ओन, ओम,
उदासीन स्वर—अ (यह ह्रस्व स्वर से भी अल्प उच्चरित होता है। इसका उच्चारण अस्पष्ट होता है।)

व्यंजन— अन्तस्थ व्यंजन—१. कवर्ग—क्, ख्, ग् घ् (उच्चारण निश्चित नहीं)
२. क्, ख्, ग् घ् (उच्चारण कण्ठ्य)
३. के, खे, गे, घे, (उच्चारण ओठों की सहायता से; अतः व् ध्वनि भी उच्चारित होती होगी)

तवर्ग—त्, थ्, द, ध्
पवर्ग—प्, फ्, ब्, भ्
ऊष्म—स् (दो स्वरों के मध्य में आने पर इसका उच्चारण ज हो जाता था)

अन्तस्थ व्यंजन—न्, म्, सभी वर्गों के साथ संयुक्त होकर अनुनासिक व्यंजन का कार्य करते थे। किन्तु उच्चारण इनका स्थायी न् न होकर ञ् और ङ् न और म् भी हो जाता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारोपीय भाषा में ह्रस्व 'अ ध्वनि का अस्तित्व था। वैदिक संस्कृत में भी यह सत्ता प्राप्त होती है। भारोपीय भाषा में न म्, अन्तस्थ ध्वनियाँ थीं। वैदिक संस्कृत में इनका लोप हो गया है। कहीं-कहीं ये ध्वनियाँ व्यंजन के रूप में भी प्राप्त हैं और कहीं 'अ' ध्वनि के रूप में भी; उदाहरणार्थ—'सन्तम्' और 'अंगमत्' में न् और म् मूल अन्तस्थ ध्वनि के व्यंजन के रूप में हैं, किन्तु 'सता' और 'गतः' 'अ' के रूप में। इन दोनों ध्वनियों के अतिरिक्त भारोपीय ह्रस्व 'ए' और ओ' के स्थान पर भी वैदिक ध्वनियों में ह्रस्व 'अ' ही शेष है।

भारोपीय भाषा में आ, ऐ, औ, दीर्घ ध्वनियाँ थीं। किन्तु वैदिक संस्कृत में केवल 'आ' दीर्घ ध्वनि शेष है। वैदिक संस्कृत में प्राप्त ह्रस्व 'इ' और दीर्घ ध्वनियाँ 'ई' भारोपीय भाषा की मूल 'इ' और 'ई' ध्वनियाँ ही हैं। कहीं-कहीं ये ध्वनियाँ 'य' और 'या' के स्थान पर भी दृष्टिगत हो जाती हैं। इसी प्रकार 'उ' और 'ऊ' ध्वनियाँ भी मूल 'उ' और 'ऊ' के समान ही हैं। भारोपीय भाषा की ऋ और ऌ ध्वनियाँ वैदिक संस्कृत में ऋ, ॠ और ऌ के रूप में प्राप्त हैं। आज इन्हीं का उच्चारण रि, री या र्लिर के रूप में होता है। ऋक् प्रातिशाख्य में 'ऋ' ध्वनि का उच्चारण वर्त्स्य माना गया है; साथ ही इसे मूर्धन्य भी कहा है। ऌ ध्वनि का प्रयोग अल्प हो गया है। ॠ भी केवल अर अन्त वाले शब्दों के कर्म और सम्बन्ध से बहुवचन के रूपों में व्यवहृत होती है।

संयुक्त स्वर—आज की भाषा में 'ए' और 'ओ' का उच्चारण मूल स्वरों के समान होता है, किन्तु वैदिक संस्कृत में इनका उच्चारण संयुक्त स्वरों के रूप में होता था। इनका विकास भारोपीय भाषा के अइ और अउ से हुआ है। अतः इनका उच्चारण भी उसी प्रकार किया जाता था। ऐ और औ का विकास भारोपीय संयुक्त स्वर आइ और आउ से हुआ है। अतः इनका वैदिक संस्कृत में उच्चारण भी आइ और आउ ही है।

स्पर्श व्यंजन—भारोपीय कण्ठ्य ध्वनियाँ ही वैदिक संस्कृत में सुरक्षित हैं। आज इनका उच्चारण कोमल तालव्य (Velar) हो गया है, किन्तु प्राचीन काल में ऐसा न था। चवर्ग आज तालव्य-स्पर्श-संघर्षी है, किन्तु वैदिक संस्कृत में तालव्य स्पर्श ध्वनियाँ थीं। मूर्धन्य ध्वनियों का विकास भारत में द्रविणों के प्रभाव से हुआ है।

ऋग्वेद में भी इनका प्रयोग अल्प ही है। वस्तुस्थिति तो यह है कि ऋ, र्, ष् के अनन्तर आने वाली तवर्ग (दन्त्य) ध्वनियाँ ही मूर्धन्य ध्वनियों में रूपान्तरित हुई हैं। दो स्वरों के मध्य आने वाली ड् और ढ् ध्वनियाँ वैदिक भाषा में क्रमशः ढ् और लह के रूप में मिलती हैं; उदाहरणतः ईळे, यई, मिढ्ढुषे, मिढ्वान्। वैदिक संस्कृत में प्राप्त दन्त्य ध्वनियाँ मूल भारोपीय ध्वनियों के ही समान हैं कहीं-कहीं स् और म् से पूर्व आने वाले स् के स्थान पर भी त् और द् हो जाते हैं। प्रातिशाख्यों में तवर्ग ध्वनियों को वर्स्त्य कहा गया है। ओष्ठ्य ध्वनियाँ भारोपीय ओष्ठ्य ध्वनियों के समान ही हैं।

वैदिक संस्कृत में पाँच अनुनासिक स्पर्श-ध्वनियाँ भी हैं। इन पाँच में 'न्' और 'म्' स्वतन्त्र ध्वनियाँ हैं। इनका प्रयोग आदि, मध्य और अन्त कहीं भी हो सकता है। ये दोनों ध्वनियाँ मूल भारोपीय ध्वनि 'न्' और 'म्' के समान ही हैं। शेष तीन अनुनासिक स्पर्श ध्वनियाँ ङ, ञ, 'ण्' अपनी समीपवर्ती ध्वनि पर आश्रित रहती हैं। इन तीनों ध्वनियों का प्रयोग शब्द के आदि में नहीं होता है। ङ्, कण्ठ्य ध्वनियों से पूर्व, ञ् तालव्य ध्वनियों से पूर्व और 'ण्' मूर्धन्य ध्वनियों से पहले प्रयुक्त होती है।

अन्तस्थ—मूल भारोपीय भाषा में अन्तस्थ ध्वनियाँ छह थीं, किन्तु उनमें से न् और म् का लोप होकर य्, र्, ल्, व् मात्र शेष रह गयी हैं।

ऊष्म—वैदिक संस्कृत की तीनों ऊष्म ध्वनियाँ अघोष संघर्षी हैं। मूर्धन्य 'ष्' का विकास भारतीय है, किन्तु तालव्य 'श्' का विकास भारत-ईरानी शाखा की देन है। दन्त्य 'स' मूल भारोपीय भाषा की ध्वनि है। वैदिक संस्कृत में अनेकशः दन्त्य स् के स्थान पर तालव्य और मूर्धन्य श्, ष् देखे जाते हैं।

महाप्राण—मूल भारोपीय भाषा में महाप्राण 'ह्' ध्वनि की सत्ता थी या नहीं, यह विवादास्पद है। जिन विद्वानों के मत से यह ध्वनि मूल भारोपीय नहीं है, उनके अनुसार इस महाप्राण ध्वनि का विकास कण्ठ्य या तालव्य महाप्राण ध्वनियों से हुआ है। कहीं-कहीं इस ध्वनि का दन्त्य 'ध्' और ओष्ठ्य 'भ्' में देखा जाता है। उदाहरणार्थ, हन् धातु के 'हन्ति' और 'घ्नन्ति' रूपों मे 'ह' के स्थान पर 'घ्' हो गया है।

अनुस्वार—अनुस्वार विशुद्ध नासिक्य ध्वनि है। इस ध्वनि की स्थिति सदा स्वर के पश्चात् रहती है। इसीलिए इसे अनुस्वार (अनु=पीछे, स्वर) कहा जाता है।

अघोष संघर्षी—इन ध्वनियों का विकास 'स्' या 'र्' ध्वनि से हुआ था। विसर्ग या विसर्जनीय सामान्य ध्वनि के रूप में थे। क वर्ग ध्वनियों से पूर्व आने वाली विसर्ग ध्वनि जिह्वामूलीय थी और पवर्ग ध्वनियों से पूर्व प्रयुक्त विसर्ग ध्वनि का उच्चारण उपध्मानीय था।

लौकिक संस्कृत की ध्वनियाँ—वैदिक संस्कृत की सम्पूर्ण ध्वनियाँ लौकिक संस्कृत में सुरक्षित हैं। केवल ळ, ळह जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय ध्वनियाँ लुप्त हो गयी हैं। इस प्रकार इन चार ध्वनियों को छोड़कर वैदिक संस्कृत की अड़तालिस ध्वनियाँ संस्कृत में विद्यमान हैं। उच्चारण की दृष्टि से कुछ अन्तर अवश्य ही आ गया है। 'ए' और 'ओ' का उच्चारण संयुक्त स्वरों के रूप में न होकर मूलस्वरों के रूप में होता है। 'ऐ, और 'औ' के उच्चारण में भो परिवर्तन होकर 'अइ, 'अउ' जैसा उच्चारण होता है। अनुस्वार का उच्चारण प्रायशः अनुनासिक के समान होने लगा है।

वैदिक भाषा में स्वराघात का विशिष्ट महत्त्व था। स्वर तीन (१) उदात्त, (२) अनुदात्त, और (३) स्वरित नामक थे। इनके परिवर्तन से अर्थ-परिवर्तन भी हो जाता था, जैसे यदि उदात्त स्वर ब्रह्मन् के आदि में हो तो ब्रह्मन् का अर्थ होगा —प्रार्थना। यह नपुंसक लिंग का रूप होगा। उदात्त स्वर अन्त में होने पर ब्रह्मन् का अर्थ 'स्तोता' होगा। अन्तोदात्त ब्रह्मन् शब्द पुंल्लिग होगा। स्वर की अशुद्धता पर अनर्थ भी हो जाता था। पाणिनीय शिक्षा में लिखा है—

मन्त्रोहीनः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥

वैदिक भाषा का अपश्रुति तत्त्व लौकिक संस्कृत में गुण, वृद्धि और सम्प्रसारण के रूप में सुरक्षित है।

रूप-रचना—मूल भारोपीय भाषा, वैदिक एवं लौकिक संस्कृत में पदविभाग संज्ञा और क्रिया की दृष्टि से किया गया है। संज्ञा शब्द दो प्रकार के हैं। एक अजन्त—वे शब्द जिन के अन्त में स्वर है। दूसरे, हलन्त—वे शब्द जिनके अन्त में व्यंजन है। लिंग भी पुंल्लिग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग नामक तीन हैं। तीन ही वचन—एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन नामक हैं। कारक आठ हैं—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण तथा सम्बोधन। संज्ञा के रूप इन प्राचीन भाषाओं में जटिल थे। संज्ञा के साथ सम्बद्ध होने वाले प्रत्यय सुबन्त कहलाते थे। विशेषण तथा संख्यावाची शब्दों के रूप प्रायशः संज्ञा शब्दों के समान थे। विशेषण-विशेष के अनुरूप वचन, लिंग और विभक्तियाँ (कारक) परिवर्तित होते हैं। सर्वनाम शब्दों में विभक्तियाँ सात ही हैं। इनमें सम्बोधन की सत्ता नहीं होती।

संस्कृत भाषा में क्रिया-रूप भी जटिल हैं। संस्कृत वैयाकरणों ने (१) कर्तृवाच्य, (२) कर्मवाच्य, (३) भाववाच्य, (४) प्रेरणार्थक णिजन्त, (५) परस्मैपद, (६) आत्मनेपद नामक छह भेदों का संकेत किया है। लकार दस हैं—लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लङ्, लिङ्-लुङ् और लृङ्। लिङ् लकार के भी आशीर्लिङ्ग एवं विधिलिंग नामक दो भेद होते हैं। तीन वचन तथा तीन पुरुष—उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष, प्रथम पुरुष या अन्य पुरुष—भी होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक संस्कृत

क्रिया के १० (प्रयोग) × १० (लकार) × ३ (वचन) × ३ (पुरुष) = ५४० रूप बनते हैं। धातु-रूपों के विभिन्नता के कारण उन्हें गणों में विभक्त किया गया है। गण भी दस प्रकार के हैं—(१)—भ्वादि गण, (२) अदादि गण, (३) जुहोत्यादि गण, (४) दिवादि गण, (५) स्वादि गण, (६) तुदादि गण, (७) रुधादि गण, (८) तनादि गण, (९) क्र्यादिगण, (१०) चुरादि गण। सकर्मक और अकर्मक नामक दो क्रियाओं के भेद भी किये जाते हैं। क्रियाओं में द्वित्व (Reduplication) से भी कार्य लिया जाता है। संस्कृत में सन्नत, यङन्त, नाम धातु आदि अनेक क्रिया के रूप मिलते हैं।

वैदिक भाषा में चार काल—वर्तमान या लट्, असम्पन्न या लङ्, सामान्य या लुङ्, एवं सम्पन्न या लिट् थे। पाँच भाव थे—निदेश, अनुज्ञा, सम्भावक, अभिप्राय एवं निर्बन्ध। लौकिक संस्कृत में तीन काल—वर्तमान, भूत और भविष्य मिलते हैं। भूतकाल के तीन रूप—परोक्ष, सामान्य और अनद्यतन थे। भावों की दृष्टि से लौकिक संस्कृत में अभिप्राय (लेट् लकार) तथा निर्बन्ध का अभाव हो गया है।

संस्कृत में कृदन्त (Participle), तुमुन्नत (Infinitive) और तद्धित रूप भी मिलते हैं। संस्कृत योगात्मक भाषा है। उनमें विभक्तियों की प्रधानता के साथ ही साथ समास की सत्ता भी सुरक्षित है। अव्यय और उपसर्गों के द्वारा भी शब्द रचना होती है और अर्थान्तर भी हो जाता है। वाक्य-रचना के लिए विशिष्ट नियम नहीं हैं। मोटे तौर पर कर्ता, कर्म और क्रिया का क्रम रहता है। कभी-कभी संज्ञा के बाद क्रिया अथवा क्रिया बाद संज्ञा दोनों ही प्रयोग मिल जाते हैं।

क्या संस्कृत जन-सामान्य की भाषा थी—वैदिक संस्कृत में वक्ता को भाषण की स्वतन्त्रता थी, वह व्याकरण के नियमों से जकड़ा हुआ न था; लौकिक संस्कृत जन-सामान्य की भाषा थी। इस बात को पाश्चात्य आलोचक वेबर, हार्नली, ग्रियर्सन आदि स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार संस्कृत जन-सामान्य की भाषा के अनुकूल नहीं है। पालि एवं प्राकृत की रूप-रचना को देखने पर ज्ञात होता है कि तात्कालिक समाज की जन-भाषा संस्कृत से भिन्न कोई भाषा रही होगी। प्राकृत स्वाभाविक भाषा है, किन्तु संस्कृत स्वाभाविक भाषा नहीं है। प्राकृत एवं संस्कृत शब्द भी इसी आशय के सूचक हैं। किन्तु भाषा-वैज्ञानिकों के अनुसार भाषा-रचना सम्भव नहीं है। भाषा की उत्पत्ति की दृष्टि से भी विचार करने पर हम कह सकते हैं कि संस्कृत भाषा एक निर्माण की हुई भाषा नहीं है।

(१) अनेक प्राचीन प्रमाणों के आधार पर भी यह सिद्ध किया जा सकता है कि प्राचीन आर्यभाषाकाल में संस्कृत सर्वसाधारण के व्यवहार की भाषा थी। विद्वानों का यह कथन भी महत्व नहीं रखता कि संस्कृत नाटकों की रचना पहले प्राकृत भाषा में हुई थी, बाद में उनका संस्कृत में रूपान्तर हुआ है। इस प्रसङ्ग में डा० कीथ ने लिखा है कि नाटकों की मूल कथा ही संस्कृत में है, फिर संस्कृत की

कथा लेकर प्राकृत में नाटक रचने की बात कुछ समझ में नहीं आती है। विद्वानों ने पर्याप्त विचार करने के पश्चात् यह स्वीकार कर लिया है कि भास के नाटक संस्कृत में ही लिखे गये थे।

(२) पाणिनि से पूर्व संस्कृत व्यवहार की भाषा थी।

(३) चरककालीन वाद-विवादों की भाषा भी संस्कृत ही थी।

(४) वात्स्यायन के कामशास्त्र में सभ्य पुरुष को संस्कृत का ज्ञान आवश्यक बताया गया है!

(५) ह्वेनसांग के यात्रा-विवरणों के संकेतों के आधार पर भी यह सिद्ध हो जाता है कि उस काल में वाद-विवादों की भाषा का माध्यम संस्कृत ही था। बौद्ध लोग भी संस्कृत में ही विचार किया करते थे। बौद्धों का संस्कृत के प्रति विद्रोह इस बात का प्रमाण है कि संस्कृत उस काल की व्यावहारिक भाषा थी।

(६) जैन सिद्धर्षि (९०६ ई०) ने संस्कृत भाषा को सरलतम भाषा कहकर यह भी प्रमाणित करना चाहा है कि संस्कृत उस काल में व्यवहार की भाषा थी।

(७) प्राचीन ग्रन्थों के देखने पर ज्ञात होता है कि संस्कृत जादू-टोना आदि के कार्यों में भी प्रयुक्त होने वाली भाषा थी। जो भाषा जन-सामान्य में चलने वाले जादू-टोनों की भाषा हो सकती है, उसके उस काल की व्यावहारिक भाषा होने में क्या सन्देह रह जाता है?

(८) प्राचीन आर्यभाषाकाल में धनुर्विद्या, गानविद्या, शिल्प-कला, राजनीति, आदि की शिक्षा भी संस्कृत के माध्यम से ही दी जाती थी।

(९) पाणिनि ने भी संस्कृत के लिए **भाषा** शब्द का प्रयोग किया है— **'भाषणाद्धि भाषा'**। अतः संस्कृत निश्चित ही व्यावहारिक भाषा थी। पाणिनि के **'भाषायाम्'**, **'छन्दसिबहुलम्'** सूत्र भी अधिक प्रयोग के कारण संस्कृत को व्यवहार-भाषा सिद्ध कर देते हैं।

(१०) निरुक्तकार यास्क ने अपनी भाषा को वैदिक से भिन्न माना है तथा उदीच्य एवं प्राच्य के विभिन्न प्रयोगों की ओर संकेत किया है—**'दातिलवनार्थे प्राच्येषु'**, **'दात्रं उदीच्येषु'**। अतः यह प्रान्तीयता का भेद भी यास्क के निरुक्त में मिल जाता है। इस प्रान्तीय भेद के आधार पर भी हम कह सकते हैं कि संस्कृत बोल-चाल की भाषा अवश्य रही थी।

(११) कात्यायन तथा पतंजलि के ग्रन्थों से भी यह बात प्रमाणित होती है। पाणिनि के एक सूत्र—**'नान्दिया क्रोशे पुत्रस्य'** में पुत्र के रेफ को द्वित्व का विधान है। आदिनि-शाक्रोश होने पर यह द्वित्व नहीं होता है, अर्थात् लौकिक भाषा में ऐसा नहीं होता है। इसी प्रकार उस काल के अभिवादन आदि को देखकर भी संस्कृत बोलचाल की भाषा थी, यह सिद्ध हो जाता है। उदाहरण के लिए—

'प्रत्यभिवादे-शूद्रे' **'अहं त्वामभिवादये'** यह शूद्र के कहने पर **'स्वस्तिमान भव देवदत्तः'** आदि के प्रयोग भी इस बात के सूचक हैं कि उस काल में शूद्र जन भी संस्कृत समझ लेते थे। इसी प्रकार पाणिनि के अन्य सूत्र के विश्लेषण करने पर भी यही सिद्ध होता है कि संस्कृत उस काल की जनता की भाषा थी। **'दूराद्धूते च'** सूत्र के अनुसार दूर से आवाज देकर बुलाने पर अन्तिम शब्द की प्लुत् संज्ञा का निर्देश है। **'आगच्छ देवदत्त अत्र गौश्चरति'** उदाहृत वाक्य भी इस बात का सूचक है कि चरवाहे तक संस्कृत समझ सकते थे। जब समान्य जन की भाषा संस्कृत हो सकती है तो फिर इसके तपोवन, आश्रम, गुरुकुल, राज्याश्रओं की भाषा होने में किसी बात की आशंका नहीं रहती है।

(१२) पतंजलि ने लिखा है कि व्याकरण भाषा का निर्माण नहीं करता है, अपितु व्यवहार में आने वाले शब्दों का ठीक-ठीक उच्चारण करना सिखाता है।

(१३) महाकवि विल्हण (१०६० ई०) ने लिखा है कि कश्मीर में पुरुष ही क्या स्त्रियाँ भी संस्कृत तथा प्राकृत दोनों का ही ठीक-ठीक प्रयोग एवं ज्ञान रखती थीं। उसे मातृभाषा को तरह मानती थीं।

(१४) पंचतन्त्र से भी इस बात की पुष्टि होती है कि संस्कृत सर्वसुलभ एवं शिक्षा का माध्यम थी। इसी भाषा के माध्यम से जड़ बुद्धि बालक भी विद्वान् बन गये थे। उस काल में संस्कृत भाषा का ही अधिकतर प्रयोग होता था।

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संस्कृत प्राचीन आर्यभाषाकाल में व्यावहारिक भाषा थी।

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा

वैदिक काल में ही साहित्यिक भाषा के अतिरिक्त अनेक वैभाषिक प्रवृत्तियाँ विद्यमान थीं। इसीलिए पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में 'विभाषा' और 'अन्यतरस्याम्' जैसे शब्दों से तत्कालीन वैभाषिक प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है। संस्कृत व्याकरणबद्ध हो जाने पर एक सीमित सुशिक्षित वर्ग तक ही सीमित हो गयी थी, किन्तु सामान्य जनता में एक जनभाषा अवश्य ही प्रचलित थी। इन दोनों 'सुशिक्षित वर्ग की भाषा एवं जन-सामान्य की भाषा' में व्याकरण के कारण ५०० ई० पू० विशेष अन्तर हो गया था।

भगवान् बुद्ध एवं महावीर स्वामी के काल तक संस्कृत का मान विशेष रूप से था, किन्तु ब्राह्मण वर्ग को नीचा दिखाने के लिए इन दोनों ही महापुरुषों ने जनता की भाषा में, जनता के लिए उपदेश दिये। महापुरुषों द्वारा एक सामान्य जनता की भाषा का अपनाया जाना, उसके प्रचार का कारण बनता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान् बुद्ध के समय (५०० ई० पू०) से मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं का काल ऐतिहासिकों तथा भाषा-वैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है। यद्यपि इससे भी पूर्व मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं की

सत्ता थी, किन्तु उनका वास्तविक मूल्यांकन एवं महत्त्व उसी काल में स्वीकार किया गया है। मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं को सुविधा की दृष्टि से तीन कालों में बाँटकर अध्ययन किया जाता है :

(१) आदि काल, ५०० ई० पू० से ईसवी के आरम्भ तक।

(२) मध्य काल, ईसवी के प्रारम्भ से ५०० ई० तक।

(३) उत्तर काल, ५०० ई० से १००० ई० तक।

मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं का आदिकाल ५०० ई० पू० से प्रारम्भ होता है। इस काल की भाषा को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) पालि, (२) अशोकी प्राकृत।

पालि—पालि भाषा का उल्लेख धार्मिक प्राकृत के अन्तर्गत किया जाता है। भगवान् बुद्ध ने जिस भाषा में उपदेश दिया तथा उनके उपदेशों को जिस भाषा ने सुरक्षित रखा, उनका पालन-पोषण किया, उसी भाषा को पालि माना जाता है।

पालि शब्द की निष्पत्ति, उसका अर्थ, उसका क्षेत्र, उसका प्रारम्भ आदि विषय विवादास्पद हैं; यथासम्भव आगे के पृष्ठों में इन नियमों का समाधान किया जायगा।

भाषा-विशेष के अर्थ में पालि शब्द का प्रयोग पुरातन नहीं है, संस्कृत साहित्य के अध्ययन करने पर हम कह सकते हैं कि कम-से-कम ईसा की तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दि से पूर्व पालि शब्द का इस अर्थ में प्रयोग नहीं मिलता है। प्राचीन ग्रंथों में पालि शब्द का प्रयोग 'पंक्ति' अर्थ में यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। अभिधानप्पदीपिका में पालि शब्द पंक्तिवाचक है :

"पंक्ति वीथ्यावलिस्सेनि पालिरेखा च राजि च"

संस्कृत में पंक्ति शब्द मूलग्रन्थ का वाचक है, इसी प्रकार पालि शब्द भी बौद्ध ग्रन्थों में मूलग्रंथ का वाचक बन गया है। अभिधानप्पदीपिका में पंक्ति के समानार्थवाचक पालि शब्द की व्युत्पत्ति **पालरक्षणे** धातु से की गयी है—

"पा पाल्येति रक्खीतीति पालि"

अर्थात् जो बुद्ध के वचनों का पालन व रक्षण करती है वह पालि है। किन्तु पालि शब्द मूल पाठवाचक था, वह भाषा के अर्थ में कैसे प्रयुक्त होने लगा—इस विषय में यही अनुमान किया जा सकता है कि कालक्रम से जब बुद्ध-वचन विस्मृत होने लगे तब बौद्ध भिक्षुओं ने उनकी रक्षा के लिए जिस भाषा में संगृहीत किया, वह भाषा ही पालि कहलायी।

'पालि' शब्द सबसे प्राचीन आचार्य बुद्धघोष की 'अट्ठ कथाओं' और उनके 'विशुद्धिमग्ग' में मिलता है। आचार्य बुद्धघोष ने भी इस शब्द का दो अर्थों में प्रयोग किया है :

(१) बुद्ध-वचन या मूल त्रिपिटक अर्थ में।

(२) पाठ या मूल त्रिपिटक के पाठ के अर्थ में।

इन दोनों ही अर्थों में पालि का सम्बन्ध बुद्ध के उपदेशों या उनकी वाण से है—"पालिमत्तं इधानीतं न तु अट्ठकथा इध" अर्थात् सिहल में पालि त्र (बुद्ध-वचन) ही लिया गया न कि अर्थकथा (बुद्ध-वचन पर भाष्य)। अर्थ था से भेद-प्रदर्शन के लिए मूल पाठ के अर्थ में ही पालि शब्द का प्रयोग बु घोष ने अनेकशः किया है—

'ईमानि ताव पलियं अट्ठकथायं पन........

ये तो पालि में है किन्तु अर्थकथा में...। इसी प्रकार "नेव प यं न अट्ठकथा दिस्सति" न तो पालि में है और न अर्थकथा में ही। पाठ का निर्देश करते समय भी पालि मूल त्रिपिटक के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'इति पि पालि'। आचाय बुद्धघोष से पूर्ववर्ती चतुर्थ शतक के एक ग्रंथ 'दीपवंश में भी पालि शब्द का प्रयोग बुद्ध-वचन में किया गया है। आचार्य धम्मपाल (५००–६०० ई०) ने भी 'परमत्थ-दीपनी' में पालि शब्द का प्रयोग मूल त्रिपिटक के पाठ अर्थ में किया है—"अथाचितो ततागच्छतीति आगतोति पि पालि।" १३०० ई० के ग्रंथ चूलवंश में भी पालि शब्द उपर्युक्त दोनों ही अर्थों का सूचक है। आशय यह है कि प्राचीन ग्रंथों में पालि शब्द बुद्ध-वचन तथा त्रिपिटिक अर्थ के में प्रयुक्त मिलता है।

पालि शब्द की निष्पत्ति भी इन्हीं अर्थों के आधार पर की गयी है। भिक्षु जगदीश काश्यप पालि शब्द को 'परियाय' से निकला हुआ मानते हैं। यह 'परियाय' शब्द त्रिपिटक में अनेकशः प्रयुक्त हुआ है—

ब्रह्मजाल—सुत्त—'को नामो अयं भन्ते धम्म परियायोति।'

सामञ्जफल सुत्त—'भगवता अनेन परियायेन धम्मो पकासितो।'

इन दोनों ही स्थलों पर परियाय शब्द का आशय बुद्ध के उपदेश से है। बाद में यही परियाय शब्द 'पालियाय' रूप में मिलता है। अशोक के भाब्रू शिलालेख में बुद्ध के वचनों के स्वाध्याय के लिए प्रेरणा देते हुए प्रियदर्शी धर्मराजा कहते हैं—

"इमानि भन्ते! धम्म पालियायानि..........एतानि भन्ते! धम्म पालियायानि इच्छामि किंति बहुके भिखुपाये भिकुनिए चा अभिखिनं सुनयु च उपधलयेयु च।" इस प्रकार 'पालियाय' का ही संक्षिप्त रूप 'पालि' है जो कि बुद्ध-वचन या त्रिपिटक के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

भिक्षुसिद्धार्थ 'पालि भाषा का उद्गम और विकास विशेषतः संस्कृत व्याकरण के आधार पर' निबन्ध में पालि शब्द की रचना पर विचार करते हुए लिखते हैं कि पालि ('पाळि') शब्द का मूल संस्कृत का 'पाठ' शब्द है। उनके अनुसार ब्राह्मण वेदपाठ करते थे। वेद पवित्र थे, उसी प्रकार बुद्ध-वचन भी पवित्र हैं। पाठ पवित्र वचनों के लिए उपयुक्त शब्द है। मिथ्या-सादृश्य के कारण 'पाठ' ही

पाल तथा पाल्ल>पाल>पालि शब्द बन गया है। किन्तु भिक्षु सिद्धार्थ का यह मत मान्यता-प्राप्त नहीं है।

तृतीय मत विधुशेखर भट्टाचार्य का है। उनके अनुसार पालि शब्द की रचना 'पंक्ति' से हुई है। उनके अनुसार 'अभिधानप्पदीपिका' में बुद्ध-वचन के साथ-साथ पंक्ति शब्द भी दिया है—तन्ति बुद्धवचनं पन्ति पालि।' पंक्ति को पालि भी कहते हैं। पालि साहित्य भी दन्तपालि, अम्बपालि शब्द भी पंक्ति अर्थ के सूचक हैं। भट्टाचार्य पंक्ति से पालि तक शब्द का परिवर्तन क्रम इस प्रकार सूचित करते हैं—पंक्ति>पन्ति>पत्ति>पट्टि>पल्लि>पालि। भिक्षु जगदीश काश्यप ने इस मत में अनेक दोषों का संकेत कर इसे निरस्त कर दिया है। वस्तुतः प्राचीन बुद्ध साहित्य में कहीं भी इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है। श्रीमती रीजडेविड्स भी विधुशेखर भट्टाचार्य के मत की ही समर्थक है।

डा० मैक्स वैलेसर के अनुसार पालि शब्द का सम्बन्ध पाटलिपुत्र से है। पाटलि—'पटलि' का संक्षिप्त रूप ही पालि है। उनके अनुसार ग्रीक भाषा में पाटलि पुत्र के लिए पालिब्रोथ शब्द मिलता है। किन्तु पालि शब्द का भाषा-विशेष के लिए प्राचीन ग्रन्थों में प्रयोग नहीं है। अतः पाटलिपुत्र की भाषा के अर्थ में पालि शब्द का प्रयोग मान्यता प्राप्त नहीं है। पाटलि के स्थान पर पादलि तो सम्भव है किन्तु पालि सम्भव नहीं है। अतः यह मत युक्तिसंगत नहीं है। कुछ विद्वान् 'पल्लि' (गाँव) शब्द से भी पालि भाषा की उत्पत्ति तथा शब्द की व्युत्पत्ति करना चाहते हैं। राजावाड ज्ञानेश्वरी गीता की भूमिका प्रकट>प्राअड>पालि शब्द की क्रमिक रचना को स्वीकार करती है। श्री जहाँगीरदार पालि शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'प्रालेय' या 'प्रालेयक' से करते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार मगध का नाम 'पलाश' था, इसी पलाश शब्द से पालि शब्द बना है। इसमे भी ऊँची कल्पना उन विद्वानों की है जो पैलेस्टाइन अथवा पलेटिन प्रदेश की भाषा पालि मानते हैं। उपर्युक्त समस्त कल्पनाएँ कष्ट-कल्पना मात्र हैं। पालिशब्द के लिए Encyclopaedia Britanika में लिखा है:

"Pali was applied to the text of the Hinyan Budhist Scriptures preserved in Cylon used now for the language in which those texts were written." इसी प्रकार H. P, Budhdut Thara का मत है—"Pali is the language in which the oldest Budhist texts were composed. It originated in the ancient country of Magadha, which was the Kingdom of Emperor Ashok and centre of Budhist learning during many centuries." आशय यह है कि पालि उस समय की जनभाषा थी, जिसमें भगवान् बुद्ध ने उपदेश दिये। भगवान् बुद्ध के उपदेश जिस जनभाषा में संगृहीत हुए उसी जनभाषा का नाम पालि है।

अब प्रश्न यह है कि पालि किस प्रदेश की भाषा है, उसका मूल स्थान

क्या है। सिंहलवासी बौद्ध कुछ सुनिश्चित कारणों से पालि को मागधी मानने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं, क्योंकि पालि मागधी से अनेक दृष्टियों से भिन्न है। मागधी भाषा के दो रूप हैं—(१) प्रारम्भिक, और (२) उत्तरकालीन। उत्तरकालीन मागधी साहित्यिक है। यह प्राकृतकालीन नाटकों में प्रयुक्त होने वाली भाषा है। इसी का वैयाकरणों ने उल्लेख किया है। मागधी में प्राच्य भाषा की विशेषताएँ दृष्टिगत होती हैं। उदाहरण के लिए, संस्कृत की श्, ष्, स्, ध्वनियों में केवल 'श्' ध्वनि ही मागधी में शेष है। यही श्—श, ष, स, तीनों के लिए प्रयुक्त होता है। मागधी में 'र्' ध्वनि नहीं है। 'र्' एवं ल् ध्वनि का कार्य 'ल्' ध्वनि से ही लिया जाता है। पालि में श् ष् स् के स्थान पर 'स्' ध्वनि ही है। इसके अतिरिक्त पालि में र् और ल् दोनों ही ध्वनियाँ विद्यमान हैं। "इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अति प्राचीन वैदिक काल की उदीच्य भाषा में केवल 'र्' था, प्राच्य विभाषा में केवल 'ल्' था और मध्यदेशीय विभाषा में 'र्' और 'ल्' दोनों ध्वनियाँ विद्यमान थीं। इस प्रकार पालि का सम्बन्ध मध्यदेशीय विभाषा के साथ है और मागधी का सम्बन्ध प्राच्य विभाषा के साथ। रूप-रचना की दृष्टि से भी दोनों में भिन्नता देखने को मिलती है, जैसे पुल्लिङ्ग व नपुंसकलिङ्ग अकारान्त शब्दों के कर्ता एकवचन में पालि भाषा में 'ओ' प्रत्यय लगता है और मागधी में 'ए'; पालि—धम्मो, मागधी धम्मे। इस प्रकार ध्वनि-तत्त्व और रूप-रचना—दोनों दृष्टियों से पालि और मागधी में मौलिक अन्तर है।"[1]

पालि भाषा अनेक विभाषाओं की विशेषताओं से सम्पन्न है। पालि एवं मागधी में वैषम्य होने पर भी दोनों में अनेक बातों में साम्य भी है। मागधी और अर्ध-मागधी दोनों की अनेक विशेषताओं से सम्बन्ध होने के कारण अनेक विद्वानों ने पालि का विभिन्न भाषाओं से सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया है। विन्डिश (Windisch), गायगर (Geiger) और रीज डैविड्स (Rhys Davids) आदि ने पालि को मागधी का ही एक रूप स्वीकार किया है। रीज डैविड्स के अनुसार पालि कोशल की भाषा थी, बुद्ध कोसल के क्षत्रिय थे, और भगवान् बुद्ध ने इसी में अपने उपदेश किये हैं। ल्यूडर्स (Luders) पालि को अर्धमागधी-जन्य स्वीकार करते है। ल्यूडर्स के अनुसार तो पालि त्रिपिटिक अपने मौलिक रूप में प्राचीन अर्धमागधी भाषा में था, और बाद में उसका अनुवाद पालि भाषा में हुआ है। ओल्डनबर्ग (Oldenberg) के मत में पालि कलिङ्ग की भाषा है। खारवेल के खण्डगिरि शिला-लेख से इस भाषा का पर्याप्त साम्य है। वेस्टरगार्ड (Westergard) तथा ई० कुट्टन (E. Kuttan) के मत से पालि उज्जयिनी प्रदेश की बोली थी। इसका गिरनार के शिलालेख से पर्याप्त साम्य है। आर० ओ० फ्रैंक (R. O. Franke) के मत में पालि विन्ध्यप्रदेश की भाषा थी। इसका सर्वाधिक साम्य मध्यप्रदेश की भाषा से

---

१. हिन्दी का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन, पृ० २९९-३००।

है। स्टेनकोनो (Stein Kono) भी पालि को विन्ध्यप्रदेश की भाषा मानते हैं। उनके मत में पालि का पैशाची प्राकृत से पर्याप्त साम्य है। पैशाची का मूल स्थान विन्ध्यप्रदेश है। किन्तु पैशाची के सम्बन्ध में स्टेनकोनो की यह धारणा सर्वथा भ्रान्त है कि पैशाची विन्ध्यप्रदेश की भाषा है, क्योंकि पैशाची का प्रदेश उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त है। ग्रियर्सन के मतानुसार पैशाची प्राकृत कैकय और पूर्वी गान्धार की बोली थी। ग्रियर्सन महोदय पालि में मागधी और पैशाची की विशेषताओं के दर्शन करते हैं। मैक्सवैलेसर पालि में पाटलिपुत्र की भाषा मानते हैं। आर० सी० चाइल्डर्स ने तो अन्तःसाक्ष्य के आधार पर यह सिद्ध किया है कि पालि ही उस काल की लोकभाषा थी। संस्कृत से तुलना करने पर जो परिवर्तन पालि में दीखते हैं, वे प्रायः कोश-सम्बन्धी हैं। पालि की वर्णमाला में स्वरों की न्यूनता है, द्विवचन का सर्वथा अभाव है, कुछ धातुएँ नई हैं, अनेक स्वर विलीन हो गये हैं, विसर्ग लुप्त हो गया है, अथवा 'ओ' में परिवर्तित हो गया है। पालि में द्रविड़ संज्ञाओं के अतिरिक्त कोई विदेशी तत्त्व नहीं है। पालि की रूपात्मक स्थिति सर्वथा संस्कृत के समान ही है। शब्दकोश, व्याकरण और वाक्य विन्यास पर भी संस्कृत की छाया अथवा समता प्रतीत होती है। चाइल्डर्स पालि को मगध की भाषा मानते हैं।

उपर्युक्त अनेक मतों से यह स्पष्ट हो जाता है कि पालि में अनेक भाषाओं-विभाषाओं के तत्त्वों का समन्वय है। इसी कारण कभी-कभी इसे खिचड़ी-मिश्रित भाषा (Kuntsprache) भी कह दिया जाता है। उपर्युक्त मतों में सर्वाधिक सम्मत एवं उचित मत पालि को मागधी स्वीकार करने वालों का है। जेम्स एल्विस के अनुमार बुद्धकालीन भारतीय प्रादेशिक बोलियों में से मागधी में ही बुद्ध ने उपदेश किये थे। चाइल्डर्स, विडिश आदि भी इसी मत को स्वीकार करते हैं। डा० विन्टर निट्ज का कहना है कि पालि एक साहित्यिक भाषा थी, जिसका विकास अनेक प्रादेशिक बोलियों के मिश्रण से हुआ था। इन भाषाओं में मागधी प्राचीन एवं प्रधान थी। जर्मन विद्वान् गायगर का भी मत उपर्युक्त प्रसङ्ग में महत्त्वपूर्ण माना जाता है। उनके अनुसार पालि विशुद्ध मागधी तो नहीं थी, किन्तु उस पर आश्रित एक लोक-भाषा थी, जिसमें भगवान बुद्ध के उपदेश निहित हैं।

संस्कृत एवं पालि का ध्वनि-समूह

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा-युग की भाषा का आदर्श ऋग्वेद की भाषा में मिलता है। उसमें तत्कालीन अनेक विभाषाओं (Dilects) का सम्मिश्रण मिलता है। ऋग्वेद की भाषा का विकास अन्य वेदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों और सूत्र-ग्रन्थों में हुआ है। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा-युग में एक ओर वेद की भाषा की विविधता को नियमित किया गया, उसे एकरूपता प्रदान की गयी, जिसके परिणामस्वरूप एक राष्ट्रीय, अन्तःप्रान्तीय साहित्यिक भाषा का 'संस्कृत' के नाम से विकास हुआ और दूसरी ओर उसी के समकालिक ऋग्वेद की विविधतामयी भाषा अनेक प्रान्तीय

बोलियों के रूप में विकसित हुई, इन्हीं विकसित बोलियों में से पालि एक भाषा है। जिसमें अनेक बोलियों, प्रान्तीय भाषाओं और उप-भाषाओं का सम्मिश्रण मिलता है। इन्हीं अनेक भाषाओं से मिश्रित भाषा का नाम पालि है। इस प्रकार संस्कृत एवं पालि का विकास समकालिक है।

ऋग्वेद की रचना अनेक युगों में अनेक ऋषियों द्वारा हुई है; अतः उसमें अनेक प्रादेशिक बोलियों का मिश्रण मिलता है। ब्राह्मण-ग्रन्थ एवं सूत्र-ग्रन्थों की भी यही भाषा है। इसे वैदिक संस्कृत के नाम से अभिहित किया जाता है। इस संस्कृत में अनेकरूपता के दर्शन होते हैं। उस अनेकरूपता को पाणिनि ने नियन्त्रित किया, यही नियन्त्रित सुसंस्कृत भाषा संस्कृत कहलायी। प्राचीन वैदिक भाषा से इसका अन्तर बताने के लिए इसे संस्कृत कहा गया। वेद की भाषा को वैदिक संस्कृत अथवा छन्दस् कहा गया। उसी काल में आर्यों की बोलचाल की भाषा विकसित होकर नया स्वरूप प्राप्त कर रही थी। मगध के प्रान्तों में उसने जो स्वरूप धारण किया, उसी के दर्शन आज पालि के रूप में हमें प्राप्त हैं।

संस्कृत एवं पालि दोनों ही समकालीन भाषाएँ हैं। इनकी उपजीव्य भाषा वैदिक संस्कृत ही है। पन्द्रहवीं शताब्दी में कबीर ने लोकभाषा हिन्दी को संस्कृत की तुलना में 'कूप जल' तथा हिन्दी को 'बहता नीर' कहा था। यही बात पालि के विषय में भी कही जा सकती है। संस्कृत बद्धसरोवर के समान थी, जिसमें से समस्त भारतीय ज्ञान-विज्ञान की उपकुल्याएँ प्रवाहित होती थीं। एक की गति सतत प्रवहमान थी, और दूसरे की अवरुद्ध। संस्कृत यदि 'पुराण युवती' है तो पालि कुमारी युवती' जो कि अपना स्वरूप आगे चलकर भारतीय भाषाओं को समर्पित कर देती है। दोनों ही सहोदरा हैं—एक का रूप निखरा हुआ, दूसरी का कुछ कम। दोनों के स्वर एवं शब्दों के समान होते हुए भी एक परिष्कृत है, दूसरी कम परिष्कृत; दोनों में ध्वनि वैभिन्य होने पर भी रूप-विधान में पर्याप्त साम्य है।

ध्वनि-समूह—पालि के ध्वनि-समूह का परिचय प्राप्त करने से पूर्व उसके स्रोत-स्वरूप वैदिक ध्वनि-समूह का ज्ञान भी तुलनात्मक रूप में अवश्य ही अपेक्षित है। ध्वनि-समूह में ५२ ध्वनियाँ हैं जिनमें १३ स्वर और ३९ व्यंजन हैं। इनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :

स्वर—(i) नौ मूलस्वर—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ।
(ii) चार संयुक्त स्वर—ए, ऐ, ओ, औ।

व्यंजन—(i) सत्ताईस स्पर्श व्यंजन—
कण्ठ्य—क्, ख्, ग्, घ्, ङ्
तालव्य—च्, छ्, ज्, झ्, ञ।
मूर्धन्य—ट्, ठ्, ड्, ळ ढ्, ण् (ळह)
दन्त्य—त थ्, द्, ध न्,

ओष्ठ्य—प्, फ्, ब्, भ्, म्

(ii) चार अन्तस्थ—य्, र्, ल्, व्

(iii) तीन ऊष्म—श् (तालव्य), ष् (मूर्धन्य), स् (दन्त्य)

(iv) एक महाप्राण—ह्

(v) शुद्ध अनुनासिक—अनुस्वार

(iv) तीन अघोषसंघर्षी— : विसर्जनीय या विसर्ग

≍जिह्वामूलीय

≍उपध्मानीय

संस्कृत ध्वनि-समूह—वैदिक ध्वनियाँ ही संस्कृत की ध्वनियाँ हैं। किन्तु कुछ स्थलों पर परिवर्तन भी मिलता है। उदाहरण के लिए—(1) 'ल' 'लह' जिह्वामूलीय उपध्मानीय ध्वनियों का प्रयोग संस्कृत में प्रायः नहीं मिलता है, (ii) कुछ स्वरों और व्यंजनों के उच्चारण में भी परिवर्तन मिलता है; अन्यथा सम्पूर्ण वर्ण वही हैं जो वैदिक संस्कृत में हैं।

पालि ध्वनि-समूह—वैदिक संस्कृत की अनेक ध्वनियाँ पालि में लुप्त हो गयी हैं। (i) लौकिक संस्कृत की ही भाँति पालि में जिह्वामूलीय और उपध्मानियाँ ध्वनियाँ नहीं है। (ii) इनके अतिरिक्त ऋ, ॠ, लृ, ऐ और औ ध्वनियों का भी लोप हो गया है। (iii) पालि भाषा में दो नये स्वर ह्रस्व ऍ और 'ऑ' मिलते हैं, जो संस्कृत के 'ए' और 'ओ' ही हैं। (iv) पालि में विसर्ग नहीं मिलता है। (v) पालि में 'श्', 'ष् व्यंजन भी नहीं हैं। (vi) वैदिक संस्कृत की 'ळ' और 'ळह' ध्वनियाँ पालि में अधिक प्रयोग में आती हैं। दो स्वरों के मध्य में आने वाला 'ड' और 'ढ' का स्थान पालि में 'ळ' 'ळह' ने लिया है। (vii) स्वतन्त्र स्थिति में 'ह्' प्राण ध्वनि व्यंजन है। य् र् ल् व् या अनुनासिक से संयुक्त होने पर उसका उच्चारण एक विशेष प्रकार से होता है, जिसे पालि में वैयाकरणों ने 'ओरस' या हृदय से उत्पन्न कहा है।

स्वर—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऍ, ऑ

व्यंजन—क्, ख्, ग्, घ्, ङ्

तालव्य—च्, छ्, ज्, झ्, ञ्

मूर्धन्य—ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, ल, लह

दन्त्य—त्, थ्, द, ध्, न्

ओष्ठ्य—प्, फ्, ब्, भ्, म्

अन्तस्थ—य्, र, ल्, व्

ऊष्म—स्

प्राणध्वनि—ह्

एक बात यहाँ विशेष ध्यान देने की यह है कि पालि में लौकिक संस्कत से

पूर्ववर्ती अनेक प्राचीन रूप सुरक्षित हैं। इसीलिए पालि का विकास लौकिक संस्कृत से न मानकर प्राचीन वैदिक कालीन बोलियों से माना जाता है।

रूप एवं ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से पालि और संस्कृति की तुलना—ऋग्वेद की रचना अनेक युगों और अनेक ऋषियों के चिरन्तन चिन्तन की सामूहिक सृष्टि है। इसीलिए उसमें भाषागत अनेकरूपता के दर्शन होते हैं। वैदिक भाषा यास्क एवं पाणनि के काल से ही सुसंस्कृत एवं नियमबद्ध होकर आर्यों के ज्ञान-विज्ञान एवं धर्म की भाषा बन रही थी। मगध या कोसल अथवा मध्यदेश के प्रान्तों में उसने जो स्वरूप प्राप्त किया, उसी के दर्शन हमें पालि के रूप में होते हैं। वैदिक भाषा की सबसे बड़ी विशेषता उसकी अनेकरूपता है। यह अनेकरूपता संस्कृत की अपेक्षा पालि को उत्तराधिकार में अधिक प्राप्त हुई है। उदाहरण के लिए, अकारान्त शब्दों के तृतीया एकवचन में वैदिक भाषा में देवेभिः कर्णेभिः जैसे रूप मिलते हैं, किन्तु संस्कृत ने इन रूपों को छोड़ दिया है। संस्कृत में 'भिस्' प्रत्यय को 'ऐश्' आदेश होकर देवैः, रामैः रूप बनते हैं। लेकिन पालि में वैदिक रूप देवेभि, देवेहि, कण्णेहि के रूप में सुरक्षित हैं।

वैदिक भाषा में विश्वन्, च्यवन् जैसे नपुंसकलिंग शब्दों के प्रथमा और सम्बोधन के बहुवचन के रूप विश्वा; च्यवना जैसे आकारान्त होते हैं। पालि में यह प्रवृत्ति छित्ता, रूप जैसे प्रयोगों में दृष्टिगोचर होती है। किन्तु संस्कृत में यह प्रवृत्ति नहीं पायी जाती है।

उत्तम पुरुष बहुवचन का वैदिक प्रत्यय 'मसि' पालि में 'मसे' (वयमेत्थ यमामसे) के रूप में सुरक्षित है। इसी प्रकार प्रथमा बहुवचन में वैदिक भाषा में 'रे' प्रत्यय लगता है। संस्कृत में यह प्रत्यय नहीं मिलता, किन्तु पालि में यह पच्चरे, भासुरे जैसे प्रयोगों में सुरक्षित है। वेद में निमित्तार्थक 'तवे' प्रत्यय का बहुत प्रयोग होता है। पालि में भी कातवे, गन्तवे जैसे रूपों में यह सुरक्षित है। किन्तु संस्कृत ने 'तवे' प्रत्यय त्याग दिया है।

इसी प्रकार अन्य अनेक शब्दों में यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। संस्कृत 'आम्र' शब्द का वैदिक रूप 'आम्ब्र' है। पालि में यह अम्ब के रूप में शेष है। पालि ने 'ब' को रख लिया है। वैदिक अकारान्त पुंल्लिग शब्दों के प्रथमा बहुवचन के रूप में 'असुक्' प्रत्यय लगाकर देवासः जैसे रूप बनते हैं। पालि में भी यह 'देवासे', 'धम्मासे', 'बुद्धासे' जैसे रूपों में सुरक्षित है। संस्कृत ने इन रूपों को ग्रहण नहीं किया है। इसी तरह संस्कृत के आत्मनेपद और परस्मैपद का नियम भी वैदिक संस्कृत और पालि दोनों में ही शिथिल है। सूत्र रूप में हम रूप-रचना के सम्बन्ध में कह सकते हैं कि—

पालि में पद के अन्त में आने वाले व्यंजन का प्रायः लोप हो गया था अथवा उसके साथ 'अ' जुड गया था। परिणामस्वरूप, संस्कृत का अजन्त और

हलन्त का जो संज्ञा विभाग था, वह पालि में नहीं है, क्योंकि पालि में सभी शब्द प्रायः स्वरान्त हो गये हैं। इनके रूप भी स्वरान्त ही हैं। स्वरान्त रूपों में भी उपमान के कारण समानता आने लग गयी थी। विशेष रूप से इकारान्त और उकारान्त में सम्प्रदान-सम्बन्ध से अकारान्त संज्ञा शब्दों के समान मिलते हैं—जैसे रामस्य के साम्य पर अग्गिस्स वायुस्स। सम्प्रदान और सम्बन्ध कारक के रूप एक समान हो गये हैं। नपुंसकलिंग के रूप भी पुल्लिग के समान हो गये हैं। द्विवचन का लोप हो गया है। सर्वनाम, विशेषण एवं संख्यावाचो शब्दों के रूप पालि में संस्कृत के ही समान हैं। क्रिया रूपों की दृष्टि से भी वैदिक संस्कृत के अनेक रूप पालि में विद्यमान हैं। पालि में गण भेद विद्यमान हैं। किन्तु क्रियाओं के गणों में परिवर्तन हो गया है। कई समान गणों को पालि में एक ही गण के अन्तर्गत मान लिया गया है। भ्वादिगण का प्राधान्य है। पालि में केवल आठ लकार (लुट् एवं लेट् को छोड़कर) ही शेष हैं। पालि में सन्नत, यङन्त, णिजन्त, नामधातु, कृदन्त आदि के रूप संस्कृत के समान नहीं दिखाई पड़ते हैं। निष्कर्ष रूप में पालि में सरलता की प्रवृत्ति अधिक है।

पाली और संस्कृत—ये दोनों हो भाषाएँ मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाएँ हैं, दोनों ही समान स्रोत वैदिक भाषा से उद्भूत है। संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से सीमित हो गयी है, किन्तु पालि स्वतन्त्र रही है। संस्कृत विद्वानों की भाषा और पालि जन-सामान्य की भाषा थी। संस्कृत से भले ही भारतीय भाषाओं ने जीवन ग्रहण किया हो, किन्तु किसी विशिष्ट भाषा का उससे जन्म नहीं हुआ। दूसरी ओर पालि से प्राकृत, प्राकृत से अपभ्रंश तथा अपभ्रंश से आधुनिक भाषाओं का विकास हुआ है। किन्तु संस्कृत का रूप आज तक यथापूर्व ही बना हुआ है।

पालि एवं प्राकृत—पालि, प्राकृत भाषाओं से पूर्व की भाषा है। अशोक के समय में पालि या तत्कालीन लोक-सामान्य भाषा के कम-से-कम तीन रूप प्रचलित थे :

(i) पूर्वी
(ii) पश्चिमी
(iii) पश्चिमोत्तरी।

इन्हीं बोलियों का विकास बाद में प्राकृतों के रूप में हुआ—मागधी और अर्धमागधी अशोककालीन पूर्वी बोली के विकसित रूप हैं। शौरसेनी पश्चिमी बोली की सन्तान स्वीकार की जा सकती है, पैशाची पश्चिमोत्तरी बोली की।

भरतमुनि ने सात प्राकृत भाषाओं का उल्लेख किया है :

(i) मागधी प्राकृत
(ii) अवन्ती प्राकृत
(iii) प्राच्या

(iv) शौरसेनी
(v) अर्धमागध।
(vi) वाल्हीक
(vii) दक्षिणात्य।

हेमचन्द्र के अनुसार पैशाची और लाटी दो प्राकृतें और भी हैं।

साहित्य की दृष्टि से चार प्राकृत प्रमुख हैं :

(i) मागधी
(ii) अर्धमागधी
(iii) शौरसेनी
(iv) महाराष्ट्री :

पाली और प्राकृतों का साम्य—भाषा-वैज्ञानिकों की दृष्टि से पालि और प्राकृत में पर्याप्त साम्य है :

(१) पालि और प्राकृत भाषाओं का ध्वनि-समूह प्रायः समान है, क्योंकि पाली और प्राकृत में संस्कृत की ऋ, ॠ, लृ, ॡ, ऐ, औ का लोप हो गया है। (२) पालि प्राकृतों में ऋ ध्वनि अ, इ, उ स्वरों में से किसी एक में परिवर्तित हो जाती है, और कभी-कभी 'र्' में परिवर्तन भी मिलता है। ह्रस्व ऍ और ह्रस्व 'ओॅ' का प्रयोग पालि और प्राकृत दोनों में ही मिलता है। (३) विसर्ग का प्रयोग पालि और प्राकृत दोनों में नहीं मिलता। (४) 'श्' 'ष्' की जगह मागधी को छोड़कर शेष प्राकृतों और पालि में 'स' ही होता है। मूर्धण्य ध्वनि 'ळ' पालि और प्राकृत दोनों में पायी जाती है।

विशेष रूप से पालि से प्राकृत की समानता है अथवा उसके जिस रूप में प्राकृत तत्त्व मिलते हैं वह पालि का प्राचीन रूप न होकर उसका विकसित रूप है। उदाहरण के लिए—(१) शब्द के मध्य में स्थित अघोषस्पर्श के स्थान पर 'य' अथवा 'व' का आगम होता है। (२) शब्द के मध्य स्थित घोष महाप्राण के स्थान पर 'ह' का उद्‌भव होता है। (३) शब्द के मध्य स्थित अघोष स्पर्शों का घोष हो जाना भी पालि में मिलता है। (४) महाप्राण ध्वनि हकार का आगम या लोप भी इसकी प्रवृत्ति है। (५) आकस्मिक वर्ण-व्यत्यय तो पालि और प्राकृत की सहज विशेषता है। किन्तु एक बात यहाँ उल्लेखनीय यह है कि ये विशेषताएँ पालि में पूर्णतः नियमबद्ध नहीं हैं, लेकिन प्राकृतों में उपर्युक्त परिवर्तन सदा नियमतः होते हैं।

पाली और मागधी—(१) पालि और मागधी में पर्याप्त मौलिक अन्तर मिलता है; उदाहरणार्थ—श्, ष्, स् तीनों ही ऊष्मों में से पालि में केवल 'स्', को स्वीकार किया गया है, जबकि मागधी ने 'श्' को अपनी सम्पत्ति माना है।

(२) मागधी में 'र्' ध्वनि नहीं है, केवल 'ल्' का प्रयोग ही वहाँ होता है। पालि में 'र्' और 'ल्' दोनों ही ध्वनियाँ पायी जाती हैं।

(३) मागधी में पुल्लिग और नपुंसक लिंग शब्दों के कर्ता कारक एकवचन में 'ए' प्रत्यय प्रयुक्त होता है; जैसे—'धम्मे', जबकि पालि में क्रमशः ओकारान्त और अनुस्वारान्त रूप बनते हैं, यथा धम्मो, रूपं।

पालि और अर्धमागधी—लूडर्स आदि विद्वानों ने अर्धमागधी के प्राचीन स्वरूप को पालि का आधार माना है और उसके लिए कुछ समानताओं का निर्देश किया है। किन्तु इन समानताओं की एक मर्यादा है। कुछ स्थलों को जोड़कर पालि में ये प्रवृत्तियाँ नियमतः दृष्टिगत नहीं होती हैं; उदाहरणार्थ—अस् प्रत्यय की जगह 'ए' हो जाना, 'र'-की जगह 'ल' हो जाना आदि प्रवृत्तियाँ जो अर्धमागधी की अनिवार्य विशेषताएँ हैं—वे पालि में यत्र-तत्र ही प्राप्त होती हैं।

(१) संस्कृत 'अस्' और 'अर' के स्थान पर पालि और अर्धमागधी में 'स्' मिलता है। पालि के पुरे (पुरः) सुवे (श्वः) भिक्खवे (भिक्षवः) आदि स्थलों में अर्धमागधी का प्रभाव परिलक्षित होता है।

(२) संस्कृत 'तद्' के स्थान पर दोनों ही भाषाओं में 'से' मिलता है। यह प्रवृत्ति 'सेय' 'यथा' तद्यथा' जैसे शब्दों में मिलती है।

(३) इसी प्रकार संस्कृत 'यद्' के स्थान पर 'ये' हो जाता है।

(४) 'र्' का 'ल्' हो जाना अर्धमागधी की एक विशेषता है। यह विशेषता पालि में भी मिलती है।

(५) स्वरों और अनुनासिक स्वरों के वाद आने पर 'एवं' का 'येव' प्रयोग मिलता है। इस प्रकार के प्रयोग पालि में भी मिल जाते हैं।

(६) वर्ण-परिवर्तन भी पालि और अर्धमागधी में समान ही मिलता है; उदाहरण के लिए—

संस्कृत	पालि	अर्ध मागधी
ळागलं [हल]	नगल	नगल
वेणु [बाँस]	वेण्णु	वेलु
त्सर [मूठ-तलवार]	थरु	थरु

पालि और शौरसेनी—शौरसेनी प्राकृत शूरसेन देश, अर्थात् ब्रजमण्डल-मध्य देश की भाषा थी। पालि भी मध्यदेश की भाषा थी। अतः उसका प्रभाव शौरसेनी प्राकृत पर आवश्यक रूप से पड़ा है। जिन विद्वानों ने पालि का आधार कोई पूर्वी बोली (मागधी-अर्धमागधी) न मानकर किसी पश्चिमी बोली को माना है, उन्होंने शौरसेनी प्राकृत के साथ उसका अधिक-से-अधिक साम्य दिखलाने का प्रयत्न किया है। परन्तु इन समानताओं में से अनेक समानताएँ केवल पालि और शौरसेनी में ही नहीं मिलतीं; अपितु अन्य प्राकृतों में भी मिलती हैं। महाराष्ट्री

प्राकृत का विकास शौरसेनी से हुआ है; अतः ये समानताएँ महाराष्ट्री प्राकृत की भी हैं

(१) शौरसेनी प्राकृत के प्राचीन रूप में शब्द के मध्य में स्थित व्यंजन का लोप नहीं होता और अघोष स्पर्शों का घोष स्पर्शों में परिवर्तन भी बहुत कम दिखाई पड़ता है।

(२) पालि में मध्यस्थित 'न' में भी परिवर्तन नहीं होता है।

(३) शब्द के आदि में स्थित 'य्' की जगह 'ज' नहीं होता—जैसा कि उत्तरकालीन प्राकृतों में हो जाता है।

(४) दानि और 'इदानि' शब्द दोनों में ही समान रूप से प्रयुक्त होते हैं।

(५) इसी प्रकार गमिस्सति, सक्कति, जैसे रूपों में भी समानता है।

पालि और पैशाची में साम्य—पालि एवं शौरसेनी के समान ही पालि एवं पैशाची प्राकृत का सम्बन्ध है। इनकी समानताएँ निम्न हैं :

(१) घोष स्पर्शों [ग्, द्, ब] के स्थान पर अघोष स्पर्श क्, त्, प होता है।

(२) शब्द के मध्य में स्थित व्यंजन सुरक्षित रहता है।

(३) भारिया, सिनान, कसट जैसे शब्दों में संयुक्त वर्णों का विश्लेषण मिलता है।

(४) ज्ञ्, ण्य, और न्य् का 'न' में परिवर्तन होता है।

(५) अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के प्रथमा एकवचन में ओकारान्त हो जाता है।

(६) 'य्' ज् में परिवर्तित न होकर सुरक्षित रहता है।

(७) धातु-रूपों में साम्य मिलता है।

(८) 'र्' का ल् में परिवर्तन न होकर वह सुरक्षित रहता है।

किन्तु इन कुछ समानताओं के आधार पर पालि एवं प्राकृत भाषाओं को एक नहीं माना जा सकता है। इन सभी की अपने-अपने युग की प्रवृत्तियों के अनुसार अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं।

प्राकृत

प्राकृत-शब्द के विविध अर्थ—प्राकृत शब्द के प्राचीन विद्वानों ने अनेक अर्थ एवं अनेक व्युत्पत्तियाँ की हैं। संस्कृत की गौरव गरिमा प्राचीन भारत में सदा ही रही है। परिणामस्वरूप विद्वानों का एक मत यह रहा है कि प्राकृत संस्कृत से प्रादुर्भूत है। अधिकांश विद्वानों ने इस मत को स्वीकार कर प्राकृत की अनेक व्युत्पत्तियाँ की हैं; जैसे—

प्रकृतेः संस्कृतात् आगतं प्राकृतम् ।[1]
प्राकृतस्य तु सर्वमेव संस्कृतं योनिः ।[2]
संस्कृतरुपायाः प्रकृतेः उत्पन्नत्वात् प्राकृतम् ।[3]
प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं तत आगतंवा प्राकृतम् ।[4]
प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं प्राकृतमुच्यते ।[5]
प्रकृतेरागतं प्राकृतं, प्रकृतिः संस्कृतम् ।[6]
प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम् ।[7]
प्राकृतस्य सर्वमेव संस्कतं योनि ।[8]

किन्तु दूसरी ओर इस मत के मानने वाले विद्वान् भी है, जो प्राकृत को संस्कृत से पूर्ववर्ती मानते हैं। इसलिए वे प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति प्राक्कृत करते हैं—

प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम् अथवा प्रकृतीनां साधारण जनानामिदं प्राकृतम् ।[9] इसी अर्थ को स्वीकार करने वालों के अनुसार इस शब्द का यथार्थ अर्थ "प्रकृत से निकला हुआ या प्रकृत से सम्बन्ध रखने वाला, अर्थात् मूल से उत्पन्न किया जाता है। कुछ भी सही हम इस मत को अवश्य ही स्वीकार करते हैं, कि प्राकृत सामान्य जनता की भाषा थी—प्राकृतेति। **सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिनाहतसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः—तत्रभवः सैव वा प्राकृतम् ।**[10]

मध्यकालीन आर्य-भाषाओं में अशोकी प्राकृत अधिक महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि प्राचीन मध्यकालीन प्राकृतों में इसका स्थान सुनिश्चित है। सम्राट् अशोक ने अपने समय में अनेक शिलालेख उत्कीर्ण कराये थे। इन शिलालेखों में अशोक ने समय का उल्लेख भी कराया है। सम्राट् अशोक का राज्यकाल ईसा पूव तृतीय शताब्दी के मध्य है। अतः अशोक के ये शिलालेख २६२-२५० ई० पूर्व के हैं। इनमें लिखित प्राकृत अशोकी प्राकृत के नाम व्यवहृत होती है। कभी-कभी विद्वान् इसी अशोकी प्राकृत को अर्थमागधी भी कहते हैं। वररुचि-कृत 'प्राकृत प्रकाश' प्राकृत व्याकरण का उल्लेखनीय ग्रन्थ (प्रथम शतक) है।

अशोक द्वारा उत्कीर्ण ये लेख उसके राज्य के प्रत्येक भाग में हैं, जिनमें

---

1 सिंहदेवमणि, वाग्भट्टालंकार टीका :
2 प्राकृत संजीवनी
3 प्रेमचन्द तर्कवागीश काव्यादर्शटीका:
4 हेमचन्द १—१
5 प्राकृत सर्वस्व : मार्कण्डेय पृ० १
6 धनिक : दशरूपक २।६०
7 प्राकृत चन्द्रिका :
8 कर्पूरमंजरी टीका : वासुदेव
9 हरगोविन्ददास विक्रमचन्द्र सेठ
10 काव्यालंकार टीका, नमिसाधु

धर्म-प्रचार के लिए शिक्षाएँ निहित हैं। अतः यह अशोक की प्राकृत एक सुव्यवस्थित साहित्यिक भाषा होने की अपेक्षा स्थानीय बोलियों की समूह मात्र है।

अशोकी प्राकृत को भाषा की दृष्टि से अध्ययन करने पर उसे तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) उत्तर-पश्चिमी
(२) दक्षिणी-पश्चिमी
(३) प्राच्य।

उत्तर पश्चिमी प्राकृत का स्वरूप शाहबाजगढ़ी, मानसेरा (पश्चिमी पाकिस्तान) आदि के शिलालेखों में उपलब्ध है, ये शिलालेख खरोष्टी लिपि में उत्कीर्ण हैं। दक्षिण-पश्चिमी भाषा का स्वरूप गिरनार (गुजरात) आदि के शिला-लेखों में उपलब्ध है। प्राच्य प्राकृत भाषा का स्वरूप धौली, जौगड़ (उड़ीसा) आदि के लेखों में उपलब्ध है।

ध्वनि और रूप की दृष्टि से इन अभिलेखों का वैज्ञानिक अध्ययन करने पर इनकी विशेषताएँ स्वतः स्पष्ट हो जाती हैं। शाहबाजगढ़ी के शिलालेख में 'र्' ध्वनि तथा श्, ष्, स् तीनों ऊष्म व्यंजनों की सत्ता है। ण्, और ञ् भी मिलते हैं। पश्चिमोत्तरी भाषा में दन्त्य व्यंजन ध्वनियों के स्थान पर मूर्धन्य रूप अधिक दृष्टिगत होता है। गिरनार शिलालेख में उपयुक्त व्यंजन ध्वनियों के स्थान पर मूर्धन्य रूप अधिक दृष्टिगत होता है। गिरनार सिलालेख में उपर्युक्त व्यंजनों में से 'श्' और 'ष्' का अभाव है। इसी प्रकार कालसी और जौगड़ की भाषा में 'र्' ध्वनि का या तो अभाव है, या फिर 'ल्' ध्वनि प्राप्त होती है; उदाहरणार्थ—'देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजा' संस्कृत के इस कथन के स्थान पर कालसी पर जौगड़ की भाषा में—'देवानं पिये प्रियदसि लाजा' का रूप मिलता है। कालसी और जौगड़ की भाषा में 'स्' ध्वनि है' 'श्, ष्, नहीं हैं। ण् और ञ् भी नहीं हैं; अतः जो विद्वान मध्यपूर्वी भाषा को प्राच्य वर्ग से भिन्न मानना चाहते हैं, उनका कथन निराधार ही है।

रूप-रचना की दृष्टि से अशोकी प्राकृत सरल है। प्राचीन भारतीय भाषाएँ रूप-गठन की दृष्टि से जटिल थीं। उन भाषाओं की दृष्टि से पालि सरल थी, और उससे भी अधिक सरल प्राकृत है।

प्राकृत उस युग की जनभाषा थी, किन्तु क्रमशः अशोक के द्वारा अपनाये जाने तथा शिलालेख आदि के माध्यम से वह साहित्यिक भाषा बन गयी। साहित्यिक भाषा बन जाने पर उसके व्याकरण की ओर भी ध्यान दिया जाने लगा। अन्ततः यह भी संस्कृत की भाँति व्याकरण से बाँध दी गई। प्राकृत के प्रथम वैयाकरण आचार्य वररुचि हैं। वररुचिकृत 'प्राकृत प्रकाश' प्रथम प्राकृत का व्याकरण ग्रन्थ है। वररुचि ने इसमें प्राकृत के आगे लिखे चार भेदों का उल्लेख किया है—

(१) महाराष्ट्री
(२) पैशाची
(३) मागधी
(४) शौरसेनी

प्राकृत के अनेक व्याकरण-ग्रन्थ लिखे गये। इन व्याकरण-ग्रन्थों में द्वादशशतक का जैन आचार्य हेमचन्द्र-कृत 'प्राकृत व्याकरण' महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। हेमचन्द्र ने प्राकृत के उपर्युक्त चार भेदों के अतिरिक्त तीन भेद और भी स्वीकार किये हैं—

(१) आर्षप्राकृत
(२) चूलिका
(३) पैशाची

दण्डि ने प्राकृतों का उल्लेख करते समय (१) महाराष्ट्री; (२) शौरसेनी (३) गौड़ी; (४) लाटी; (५) मागधी; नामक पाँच प्राकृतें स्वीकार की हैं। दण्डि के काल तक इन प्राकृतों में साहित्य मिलने लगा था। इन प्राकृतों के अतिरिक्त संस्कृत के विभिन्न नाटकों में शकारी, ढक्की, चाण्डाली, आभीरिका, अवन्ती आदि का भी उल्लेख मिलता है।

प्राकृतों का युग पालि तथा आधुनिक बोलियों के मध्य का है। वैयाकरणों के अनुसार प्राकृत का यह रूप संस्कृत का ही विकृत रूप है। सर्वसाधारण जिस भाषा को बोलता था वही प्राकृत है। किन्तु भाषा-वैज्ञानिक इस मत से सहमत नहीं हैं। वस्तुतः प्राचीन लेखों के अनुसार प्राकृत का विकास पालि तथा वैदिक संस्कृत से हुआ है, लौकिक संस्कृत से नहीं।

यदि प्राकृत में संस्कृत तत्सम शब्द मिलते हैं तो वे वैदिक संस्कृत तथा पालि के प्रभाव के कारण हैं। इस तथ्य की पुष्टि अनेक उदाहरणों से की जा सकती है। गिरनार के अभिलेख में लिखा है—**लिखा वयसम्=लिखावैश्यम् महानसम्हि-सयणि जयस्मि**, इन उदाहरणों से स्वरूप-साम्य की पुष्टि होती है, अर्थ-साम्य की नहीं।

वैदिक भाषा के प्रभावस्वरूप प्राकृत में सन्धि शिथिल है। स्वरभक्ति के अनेक उदाहरणों से वैदिक प्रभाव की पुष्टि होती है—

संस्कृत	प्राकृत
भार्या	भारिया
स्नान	सनान्
कष्ट	कसट

प्राकृत का ध्वनिशास्त्र वैदिक परिवर्तनों के अनुरूप है—

वैदिक शब्द ईळ, मूळ का प्रभाव गुल, सोलस, सोला तथा वैदिक स्कम्भ, लौकिक संस्कृत में स्तम्भ, किन्तु प्राकृत में खम्भ मिलता है। खम्भ पर वैदिक प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

विभक्तियों के रूप पर भी वैदिक प्रभाव द्रष्टव्य है—

वैदिक संस्कृत	लौकिक संस्कृत	प्राकत
देवासः	देवाः	पुत्राहो
जायायैः	जायाभिः	मालाए
कृणोति	करोति	कुणदि
वत्सवै	वस्तु	वत्थये

कुछ शब्द ऐसे भी हैं जो संस्कृत में नहीं मिलते हैं किन्तु वैदिक संस्कृत के प्रभाव से प्राकृत में मिलते हैं—

वैदिक संस्कृत	प्राकृत
यश	यासा
जातः	जाः
तात	ताः
इत्था	एत्थ
ध्रंस	ध्रिसु

उपर्युक्त विवेचन एवं उदाहरणों से सिद्ध है कि प्राकृत का विकास लौकिक संस्कृत की उपेक्षा वैदिक संस्कृत एवं पालि की परम्परा से हुआ है। यह भी कथन भ्रान्त व असङ्गत है कि प्राकृत से लौकिक संस्कृत का विकास हुआ है, अपितु दोनों ही भाषाओं का उद्भव तथा विकास वैदिक संस्कृत से हुआ है।

साहित्यिक प्राकृतों में शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी, अर्धमागधी और पैशाची हैं। इनका संक्षिप्त परिचय तथा विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

शौरसेनी—शौरसेनी प्राकृत का सम्बन्ध मुख्य रूप में शूरसेन—आधुनिक मथुरा प्रान्त से है। इसी प्रान्त की भाषा वैदिक काल में उदीच्य और प्राच्य के मध्यस्थ का कार्य करती रही है। शौरसेनी प्राकृत अपने युग में महत्त्वपूर्ण भाषा रही है। संस्कृत नाटकों में स्त्री तथा मध्यम पात्र, गद्य में इसी शौरसेनी में भाषण करते हैं। संस्कृत के साथ इसका निकट सम्बन्ध होने के कारण इस पर संस्कृत का अधिक प्रभाव है। शौरसेनी प्राकत का क्षेत्र अन्य प्राकतों की अपेक्षा अधिक व्यापक है।

शौरसेनी प्राकृत की मुख्य विशेषताएँ निम्न हैं—

(१) दो स्वरों के मध्य में आनेवाली त् और थ् ध्वनियाँ क्रमशः द् और ध् में परिवर्तित हो जाती हैं। किन्तु दो स्वरों के मध्य आने वाली मूल द् और ध् ध्वनियों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है; उदाहरणतः—

संस्कृत	शौरसेनी
गच्छति	गच्छदि
कथय	कधेहि

किन्तु	जलद	ज़लदो
	क्रोधः	क्रोधो

कहीं-कहीं 'त्' के स्थान पर 'ड्' भी हो जाता है; जैसे—व्यापृत का वावृडो। संस्कृत 'क्ष्' के स्थान पर शौरसेनी में 'क्ख' होता है, उदाहरणार्थ—

संस्कृत	शौरसेनी
कुक्षि	कुक्खि
इक्षु	इक्खु

रूपगठन की दृष्टि से क्रिया-रूपों में शौरसेनी में परस्मैपद के ही रूप मिलते हैं, आत्मनेपद के नहीं। इसी प्रकार कर्मवाक्य में परस्मैपद के लिङ प्रत्ययों का ही प्रयोग किया जाता है--

संस्कृत	शौरसेनी
क्रियते	करीअदि
गम्यते	गमीआदि।

महाराष्ट्री—प्राकृत वैयाकरणों के अनुसार महाराष्ट्री प्राकृत ही प्रमुख है—**महाराष्ट्र्यां भाषा प्राकृष्टं प्राकृतं विदुः** (काव्यादर्श १/३४)। वररुचि एवं हेमचन्द ने भी इसे मसत्त्व प्रदान किया है। संस्कृत नाटकों में महाराष्ट्री प्राकृत का प्रचुर प्रयोग हुआ है। गीतिकाव्य, काव्य, नाटक, हाल की गाहासत्तसई (गाथा सप्तसती) रावणवहो, राजशेखर-कृत कर्पूरमंजरी आदि रचनाएँ महाराष्ट्री प्राकृत में ही हैं।

ध्वनितत्त्व की दृष्टि से संस्कृत के दो स्वरों के मध्य अल्पप्राण स्पर्श व्यंजन का प्रयोग होता है, तो महाराष्ट्री में उसका लोप हो जाता है, और यदि अल्पप्राण स्पर्श व्यंजन आता है, तो उसके स्थान पर केवल 'ह्' रहता है। उदाहरणार्थ—

संस्कृत	महाराष्ट्रीय प्रकृत
कृति	कइ
कवि	कइ
कथा	कहा
वधः	वहो
मुख	मुह

महाराष्ट्री एवं शौरसेनी प्राकृत का यही प्रमुख भेदक लक्षण है, अन्यथा दोनों में साम्य हैं। डा० मनमोहन घोष के अनुसार महाराष्ट्री का विकास शौरसेनी से हुआ है तथा मराठी का महाराष्ट्री से। डा० ज्यूल ब्लाख भी इसी मत का प्रतिपादन करते हैं।

महाराष्ट्री के अन्य प्रमुख लक्षण—दो स्वरों के में आने वाले ऊष्म व्यंजन के स्थान पर 'ह्' होता है। उदाहरणार्थ :—

संस्कृत	महाराष्ट्री
पाषाण	पाहाण
अनुदिवसम्	अणुदिअहं ।

रूप-गठन की दृष्टि से अपादान एकवचन में प्रायः 'अहि' प्रत्यय का प्रयोग होता है। उदाहरणतः संस्कृत 'दूरात्' का महाराष्ट्री में 'दूराहि' मिलता है। अधिकरण एकवचन का रूप 'म्मि' अथवा 'ए' प्रत्यय से बनता है। जैसे संस्कृत 'लोके'—महाराष्ट्री 'लोए', संस्कृत 'लोकेस्मिन्', महाराष्ट्री 'लोअम्मि'। क्रियापदों में कर्मवाच्य के 'य' के स्थान पर 'इज्ज' प्रत्यय का प्रयोग होता है। पृच्छ्यते महाराष्ट्री पुच्छिज्जइ, संस्कृत गम्यते महाराष्ट्री गमिज्जइ। पूर्वकालिक उदाहरण के लिए, क्रिया के लिए, 'ऊण', प्रत्यय का प्रयोग मिलता है। जैसे संस्कृत पृष्ट्वा, महाराष्ट्रीय पुच्छिऊण।

महाराष्ट्री प्रायशः पद्य या काव्य की भाषा रही है, किन्तु कुछ जैनश्वेताम्बरी सम्प्रदाय के गद्य-ग्रन्थ भी महाराष्ट्रीय प्राकृत में मिलते हैं।

मागधी—मगध देश की भाषा होने के कारण इसे मागधी कहते हैं बौद्धों के अनुसार यही आदि भाषा है। इसी मागधी का सम्बन्ध वैदिक काल की प्राच्य-विभाषा से है। यह मागधी संस्कृत नाटकों में नीच वर्ग की भाषा रही है। इसका विशिष्ट साहित्य नहीं हैं। यह मात्र नाटकों तक ही सीमित रही है।

मागधी में 'र्' ध्वनि का अभाव है, अतः 'र' के स्थान पर सर्वत्र 'ल्' हो जाता है; जैसे संस्कृत राजा; मागधी लाजा। दन्त्य 'स' को 'श' में रूपान्तरित कर दिया गया है—संस्कृत समर, मागधी शमल। 'ज्' के स्थान पर 'य'; और, 'झ' के स्थान पर 'य्ह' मिलता है। उदाहरणतः—

संस्कृत	मागधी
जानाति	याणदि
झटिति	य्हति

इसी प्रकार संयुक्त व्यंजन द्य, र्य और 'र्ज' के स्थान पर य्य् हो जाता है; उदाहरणतः संस्कृत अद्य, मागधी अय्य; संस्कृत कार्य, मागधी कय्य; संस्कृत दुर्जन मागधी दुय्यण। कभी-कभी 'र्ज' के स्थान पर 'ञ्ज' भी हो जाता है। जैसे—संस्कृत वर्जति, मागधी वञ्जदि। शौरसेनी के समान ही दो स्वरों के मध्य में आया हुआ 'द' भले ही वह मूल ध्वनि हो, सुरक्षित रहता है।

रूपगठन की दृष्टि से मागधी में कर्ताकारक एकवचन में 'अः' के स्थान पर 'ए' हो जाता है, अन्य प्राकृतों के समान 'ओ' नहीं होता है। सं० देवः मागधी देवे। मागधी के सर्वनाम अस्मद् के प्रथमा एकवचन के रूप हैं—हगे, हके, अहके।

शकारी, चाण्डाली, ढक्की आदि प्राकृतें मागधी के समान ही हैं। ये मागधी की ही विभाषाएँ हैं, साहित्य रहित हैं।

अर्धमागधी—यह कोसल प्रदेश की भाषा थी। जैन सम्प्रदाय (श्वेताम्बर) के ग्यारह अंश और बारह उपाङ्गों की रचना इसी में हुई है। महावीर स्वामी इसे 'आर्षी' कहते हैं। यह कुछ अंशों में मागधी तथा कुछ अंशों में शौरसेनी से साम्य रखती है। यह आंशिक रूप में मागधी ही है। धार्मिक रूप में यह जैन प्राकृत है। साहित्यिक रूप में अश्वघोष ने इसका प्रयोग किया था।

ध्वनि की दृष्टि से इसमें 'ष्' तथा 'श्' के स्थान पर केवल 'स्' ही मिलता है। दन्त्य व्यंजन के स्थान पर मूर्धन्य हो जाने की प्रवृत्ति सभी प्राकृतों की है, किन्तु अर्धमागधी में यह प्रवृत्ति अपेक्षाकृत अधिक है। अर्धमागधी की एक विशेषता यह भी है कि जहाँ स्वरों के मध्य आने वाला व्यंजन अन्य प्राकृतों में लुप्त हो जाता है, वहाँ अर्धमागधी में यह 'य' ध्वनि में परिवर्तित हो जाता है—उदाहरण के लिए संस्कृत सागर > साअर > अर्धमागधी सायर। अर्धमागधी में 'र्' और 'ल्' दोनों ही ध्वनियाँ विद्यमान हैं।

रूपगठन की दृष्टि से प्रथमा एकवचन में मागधी के समान अर्धमागधी में एकारान्त तथा शौरसेनी के समान 'ओकारान्त' दोनों ही रूप मिलते हैं।

पैशाची—पैशाची भाषा का कोई साहित्य नहीं मिलता है। गुणाढ्य ने 'वड्डकहा' अवश्य लिखी थी, किन्तु वह मूल रूप में आज उपलब्ध नहीं है। उसके दो संस्कृत रूपान्तर अवश्य मिलते हैं।

यद्यपि पैशाची का कोई स्वरूप ग्रन्थरूप में उपलब्ध नहीं है, किन्तु वैयाकरणों द्वारा निर्दिष्ट विशेषताओं के आधार पर पैशाची की तीन उपभाषाएँ भी हैं—

(१) कैकय
(२) शौरसेन
(३) पांचाल

पैशाची में सघोष स्पर्श व्यंजन (ग, घ, ज, झ, ड, ढ, द, ध, ब और भ) अघोष क्रमशः (क, ख, च, छ, ट, ठ, त, थ, प और फ) हो जाते हैं। म के स्थान पर न हो जाता है; उदाहरणार्थ—

संस्कृत	**पैशाची**
गगनं	गकनं
मेघ	मेखो
राजा	राचा
नगर	नकर
तरुणी	तलुनी

मूल 'ल्' ध्वनि के स्थान पर 'ळ' हो जाता है। उदाहरणतः सलिल के स्थान पर हलिळ। पैशाची में ष् और श् के स्थान पर भी 'स्' ही मिलता है; उदाहरणतः संस्कृत शोभित के स्थान पर सोभित, विषम के स्थान पर विसमो। पैशाची में दो स्वरों के मध्य में आने वाले स्पर्श व्यंजनों का लोप नहीं होता है। इसके अतिरिक्त पैशाची प्राकृत में आत्मनेपद तथा परस्मैपद दोनों के प्रत्यय प्रथम पुरुष एकवचन में मिलते हैं।

सामान्यतः विचार करने पर हम देखते हैं कि पालि और प्राकृत में ध्वनि तत्त्व की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं है। किन्तु विशिष्ट प्राकृतों की दृष्टि से उनमें पारस्परिक अन्तर मिल जाता है। सामान्यतः संयुक्त व्यंजन अल्प ही रह गये हैं। रूपरचना की दृष्टि से द्विवचन का लोप हो गया है। कारकों की संख्या कम हो गयी है। अनेक सर्वनामों की विभक्तियाँ संज्ञा-रूपों के साथ सम्बद्ध होने लगी हैं। रूपरचना की दुरूहता कम हो गयी है। प्राकृत में स्वरान्त शब्द ही शेष रह गये हैं। प्राकृत में संस्कृत के समान तीनों लिंग मिलते हैं। विभक्तियों में चतुर्थी और षष्ठी समान हैं। विभक्ति-चिह्नों की अनेकरूपता लुप्त हो गयी है। क्रिया के रूप भी सरल हो गये हैं, धातुएँ स्वरान्त हैं। दस गणों का वर्गीकरण भी नहीं रहा। आत्मनेपदीलकार भी अल्प ही रह गयी हैं।

शब्दों की दृष्टि से प्राकृतों में अधिकांश शब्द संस्कृत के तद्भव शब्द हैं। संस्कृत के तत्सम शब्दों को स्वीकार नहीं किया है। अनेक प्राकृत शब्दों की संस्कृतानुसारिणी व्युत्पत्ति सम्भव नहीं है। भाषाएँ वियोगात्मक हैं।

अपभ्रंश

मध्य भारतीय आर्यभाषा काल में सामान्य जनता के विचार-विनिमय की साधक बोलियाँ भीं क्रमशः साहित्यिक रूप धारण करने लगी थीं। परिणामस्वरूप इन्हें व्याकरणानुकूल भी किया जाने लगा और अन्त में ये बोलियाँ भी साहित्यिक प्राकृत का रूप ग्रहण करती हैं। किन्तु लोक-सामान्य बोलियाँ अपने नैसर्गिक रूप में अपना विकास करती हैं। उनके विकास में किसी प्रकार का व्याघात उपस्थित करना सम्भव नहीं है। प्रारम्भ में व्याकरणान्तर्गत न आने वाले प्रयोगों को अनादर की दृष्टि से देखा गया तथा उन्हें अपभ्रंश नाम प्रदान किया गया। अपभ्रंश से विद्वानों का आशय भाषा के विकृत और अशुद्ध रूप से ही था। क्रमश; जब ये अशुद्ध रूप भी सर्वसामान्य हो गये और उनका प्रयोग निरन्तर होता रहा तो एक नई भाषा के रूप में ही अपभ्रंश का उदय हो गया।

अपभ्रंश शब्द का प्रयोग ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में पतंजलि मुनि ने किया था, किन्तु उस प्रसङ्ग को देखने पर ज्ञात होता है कि पतंजलि ने अपभ्रंश शब्द का प्रयोग भाषा-विशेष के लिए नहीं किया था। उनके अनुसार 'गौ' जैसे शब्द शब्द हैं और लोक भाषा में इस शब्द के लिए गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका

आदि विविध रूपान्तर एवं प्रयोग मिलते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि पतंजलि ने अपभ्रंश शब्द का प्रयोग केवल अपाणिनीय शब्दों के लिए ही किया है। इस प्रकार के असाधु, भ्रष्ट शब्दों के लिए 'अपभ्रंश' संज्ञा भरत[1], दण्डी[2] और भर्त्तृहरि ने भी प्रदान की है।

भाषा के अर्थ में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम भामह ने अपने काव्यालंकार [६/६६] में संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश इस क्रम से किया है। षष्ठ शतक के ही प्राकृत वैयाकरण चण्ड ने 'प्राकृत लक्षणम्' में 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग भाषा के अर्थ में किया है। बल्लभी के राजा धरसेन द्वितीय ने अपने एक ताम्रपत्र में अपने पिता गुहसेन को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की प्रबन्ध-रचना में पटु कहा है।[3] धरसेन द्वितीय का काल भी षष्ठ शतक के आस-पास ही है। आशय यह है कि षष्ठ शतक के लगभग अपभ्रंश शब्द का भाषा के अर्थ में प्रयोग होने लगा था।[4] नवम शतक में आचार्य रुद्रट ने संस्कृत तथा प्राकृत के साथ अपभ्रंश का प्रयोग किया है। एकादश शतक में प्राकृत वैयाकरण पुरुषोत्तम ने इसे शिष्ट वर्ग की भाषा स्वीकार किया है। द्वादश शतक में हेमचन्द्र ने इस भाषा का व्याकरण (शब्दानुशासन) भी लिखा है। रचनाओं की दृष्टि से प्राकृत की कृतियों में अपभ्रंश के सूत्र मिलते हैं। कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक के चतुर्थ अङ्क के कुछ श्लोकों पर अपभ्रंश का प्रभाव है।

इसके अतिरिक्त उन्होंने अपभ्रंश का भी प्रयोग किया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अष्टम शतक तक अपभ्रंश में काव्य-रचना होने लगी थी।

अपभ्रंश किस प्रदेश की भाषा थी, यह एक विवादास्पद विषय है। "अपभ्रंश की प्रारम्भिक विशेषताएँ भारत के पश्चिमोत्तर में ही सर्वप्रथम प्रकट हुईं। क्रमशः इसका आधिपत्य सम्पूर्ण उत्तर-भारत पर हो गया।" राजशेखर के अनुसार मरुभूमि, टक्क और माया देशों तक के निवासी अपभ्रंश भाषाभाषी थे।[5] अपभ्रंश के विकास

1. एकस्यैव शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः। म० भा० १।१।१
2. त्रिविधं तच्च विज्ञेयं नाट्ययोग समासतः।
   समान शब्दं विभ्रष्टं देशीगतमथापि च॥ नाट्यशास्त्र० १८।३,
3. संस्कृत-प्राकृतपभ्रंश भाषात्रयप्रति बद्ध प्रबन्ध रचना निपुणान्तःकरणः।
4. काव्यादर्श १/३६ आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इतिस्मृताः।
5. काव्य मीमांसा, अध्याय १०, पृ० १२४,
   सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च।
   वही अ० ७ पृ० ८३।

सुराष्ट्रत्रवणाद्या ये पठन्त्यर्पित सौष्ठवम्।
अपभ्रंशावदंशानि ते संस्कृतवचांस्यपि॥

के मूल में राजाओं का सहयोग तथा प्रधानतः जैन धर्म के द्वारा इसको अपनाया जाना ही है।

प्राचीन ग्रन्थों में अपभ्रंश भाषा के अनेक भेदों का उल्लेख मिलता है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३१३) अनन्त भेदों को मानता है। नमिसाधु उपनागर आभीर और ग्राम्य तीन भेद मानता है।[1] प्राकृतसर्वस्व में नागर, उपनागर और व्राचड़ नामक भेद किये गए हैं। आधुनिक काल में अपभ्रंश के क्षेत्रीय आधार पर भेदोप-भेदों का उल्लेख किया गया है। याकोबी के अनुसार अपभ्रंश के पूर्वी-पश्चिमी, उत्तरी-दक्षिणी—चार भेद हैं; किन्तु डा० तगारे ने इस मत की आलोचना कर केवल तीन भेद—दक्षिणी, पश्चिमी और पूर्वी ही माने हैं।[2] नामवरसिंह केवल पूर्वी पश्चिमी—दो ही भेद मानते हैं।

अपभ्रंश की विशेषताएँ

पदरचना-सम्बन्धी विशेषताएँ—(१) प्रातिपादिकों की विविधता समाप्त होकर सभी पदरूप अकारान्त पुल्लिङ्ग से प्रभावित होकर बनते हैं।

(२) व्याकरण का लिङ्ग-भेद समाप्त हो गया है। नपुंसक लिङ्ग का प्रायः लोप हो गया है।

(३) कारक-विभक्ति रूपों को तीन वर्गों में देखा जा सकता है। एक वर्ग में प्रथमा, द्वितीया और सम्बोधन; दूसरे वर्ग में तृतीया और सप्तमी; तीसरे वर्ग में चतुर्थी, पंचमी और षष्ठी विभक्ति समाविष्ट होती हैं। बाद में तो यह भेद भी समाप्त-सा होने लगा है और केवल कारक, सामान्य कारक तथा विकारी कारक ही शेष रह गये हैं।

(४) प्रथमा एवं द्वितीया विभक्ति में निर्विभक्तिक शब्दों का प्रयोग होने लगा है। कहीं-कहीं 'उ' के प्रयोग की प्रवृत्ति दृष्टिगत होने लगी है।

(५) तृतीया और सप्तमी के एकवचन में एँ, ए, इँ, इ, अहि, एँहि, एहि, इण, एण का प्रयोग मिलता है। इन रूपों में भी एँ और इँ का अधिक प्रयोग होता है। बहुवचन में 'हि' हिँ का प्रयोग होता है।

(६) चतुर्थी, पंचमी और षष्ठी वर्ग एकवचन में ह, हे, हु, हो और बहु-वचन में हँ, हुँ, हु, हं का प्रयोग होता है।

(७) निर्विभक्तिक पदों और सविभक्तक लुप्त पदों के भेद के लिए कुछ स्वतन्त्र शब्द परसर्ग के रूप में प्रयुक्त होने लगे हैं; जैसे—

तृतीया—	सहु, तण
चतुर्थी—	केहि, केसि

1. काव्यालंकार टीका २।१२
2. Dr. G. V. Tagare, Historical Grammar of Apabhramsa. p. 68.

पंचमी—	होन्तऊ, हीन्त, थिउ
षष्ठी—	केरअ, केर, कर, का, की
सप्तमी—	मज्झ, मँह

(८) धातुओं के तिङन्त रूप प्राधान्येन लट्, लोट् और लृट लकारों में ही शेष हैं।

(९) प्राकृत में लट् के रूप संस्कृत के समान ही हैं, किन्तु अपभ्रंश में ये समाप्त हो गये हैं।

(१०) लोट् लकार में अकारान्त, इकारान्त और उकारान्त रूप मिलते हैं।

(११) लृट् में स और ह दोनों के योग से निष्पन्न शब्द मिलते हैं, किन्तु ह का प्राधान्य है; जैसे—करिसइ>करिहइ।

(१२) लङ् लकार में 'ज्ज' का प्रचुर प्रयोग होता है; यथा—करिज्जइ आदि।

(१३) भूतकाल की पदरचना में 'क्त' प्रत्यय का प्रयोग होने लगा है और संयुक्त क्रियाओं का उपयोग आरम्भ हो गया है।

(१४) क्रियार्थक संज्ञा के लिए 'अण' का प्रयोग होने लगा है।

(१५) पूर्वकालिक क्रिया के लिए ई, इउ, हवि, अवि, 'एप्पि', एप्पिणू, एवि आदि प्रयोग मिलते हैं, किन्तु परवर्ती काल में 'इ' का प्राधान्ध हो गया है।

ध्वनि सम्बन्धी विशेषताएँ—(१) दीर्घ अन्त्य स्वर कहीं ह्रस्व और कहीं लुप्त हो गया है; जैसे—प्रिया, पिय, संन्ध्या--संझ।

(२) उपधा [अन्त्यक्षर से पूर्व अक्षर] की सुरक्षा, गोरोचन>गोरोअण, पूस्कर>पोक्वर। कहीं मात्रा-भेद>गम्भीर—गुहिर और कहीं कहीं व्यंजन ध्वनि के लोप के कारण उपान्त्यस्वर का संकोच हो गया है; जैसे इन्द्रिय>इंदिय, पोट्टलिका>पोट्टलि, परकीया>पराई।

(३) संस्कृत और प्राकृत की भाषाओं से प्राप्त अन्तिम स्वर का ह्रास हो गया है।

(४) अन्तिम स्वर से पूर्व स्वर की मात्रा यथापूर्व रहती है।

(५) द्वित्व व्यंजनों का अभाव तथा प्रथम अक्षर को दीर्घ कर दिया जाता है; जैसे कृष्ण>कान्ह।

(६) स्वरभक्ति, अपिनिहित का प्रयोग सुरक्षित है।

(७) सानुनासिकता की सत्ता सुरक्षित है। कभी-कभी किसी क्षति की पूर्ति भी उनसे की जाती है।

(८) आदि स्पर्श व्यंजनों का महाप्राण में परिवर्तन हो जाता है; जैसे—कीलका>खिल्लियइँ।

(६) आदि 'य' का 'ज' में रूपान्तर—याति > जाति ।

(१०) ऋ और र से समीपवर्ती दन्त्य व्यंजन मूर्धन्य हो जाते हैं ।

(११) ऊष्म व्यंजनों में 'स' ही सुरक्षित है ।

(१२) प्राकृतों के समान ही अपभ्रंश से ड, द, न, र के स्थान पर 'ल' का प्रयोग मिलता है; जैसे—प्रदीप्त—पलित्त, नवनीत—लोण ।

(१३) 'र' के आगम की प्रकृति जैसे पश्यति—प्रस्सदि

(१४) क्ष—क्ख,ख में परिवर्तित; जैसे—पक्षी—पाखी—पच्छी—पंछी

(१५) व्यंजन-विपर्यय भी मिलता है; जैसे—दीर्घ—दीहर

प्रश्नावली

१. भाषाओं का किस आधार पर वर्गीकरण हो सकता है, उदाहरण सहित विवेचन कीजिए ।

२. भाषाओं के आकृतिमूलक या पारिवारिक वर्गीकरण से क्या तात्पर्य है । दोनों की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए स्पष्ट कीजिए, कौन अधिक विश्वसनीय एवं उपादेय है ।

३. रूप-रचना की दृष्टि से भाषाओं का वर्गीकरण कीजिए । इस वर्गीकरण की वैज्ञानिक उपयोगिता पर अपने विचार लिखिए ।

४. भारत-यूरोपीय परिवार की भाषाओं का संक्षिप्त वर्णन कीजिए ।

५. भारतीय आर्यभाषाओं का काल-निर्धारण करते हुए, मध्य युग की भाषाओं का विकास विस्तार से दिखलाइये ।

6. What do you understand by the term classification of language ? Discuss with special reference to the Indo-Aryan group. (A. U. 1962)

7. Write a note on the morphological classification of language and discuss its importance from the point of view of linguists. (A. U. 56, 60, 63, 65)

8. What are the Indian groups of languages ? Relate the basic principles of their classification. (A. U. 58, 63)

9. Estimate the relative importance of the different methods of classification of language. (A. U. 1956)

10. Enumerate the different groups included in the Indo-European languages and state basic point regarding those groups. (A. U. 1960)

11. What are the basic principles of the division of the languages into so-called families. (A. U. 1955)

12. Attempt a note on the alphabet of the mother Indo-European language and compare it with that of Sanskrit. (A. U. 1959)
13. Compare the alphabet of the mother Indo-European language with that of sanskrit, adding brief explanatory notes. (A. U. 1961)
14. Point out, if possible with illustrations. Why of all European languages Russion form the oldest Indian language. (A. U. 1961)
15. Why is postulation of the mother-Indo-European languages. (A. U. 1961)
16. State the reasons which led scholar's to formulate the theory of the hypothitical mother-Indo-European language. (A. U. 1960)
17. Give an account of the original and Common Source of Indo-European language and distinguish between language and and dialect. (1958)
18. Show preferably by a diagram, the devlopment of modern Indian language form the oldest Indian language. (1961)
19. Discuss whether Sanskrit was the linguafranca of India or not. (A. U. 1960)
20. Almost any sanskrit word may be changed at once into its Avestan equivalent or vice versa, mearly by applying certain phonetic laws. (A. U. 1960)
21. State the special features of difference between Vedic-Sansksit and classical Sanskrit. (A. U. 1955, 57, 66)
22. Attempt short explanatory notes—
    1. Satam and centum. (A. U. 1959, 64)
    2. The meaninig the term Prakrit. (A U. 1959)
    3. Agglutinative language. (A. U. 57, 59)
    4. Inffectional language. (A. U. 57, 60)
23. What are the Main characterstics of the Prakrit languages as opposed Sanskirit. (A. U. 1963, 56)
24. Compare and contrast Sanskrit and Avestan language. (A. U. 1563)
25. Are the modern Indo-Aryan languages derived from Sanskrit ? Indicate the process of their development from the oldest Idian language. (A. U. 1959)

26. Summarize the arguments to support the view than Sanskrit is the origin of all the Prakritas and Apabhransas. (A. U. 1958)

२७. आर्य-जर्मनी भाषा-परिवार पर एक निबन्ध लिखिए।
(आ० वि० १९६८)

२८. भाषाओं के आकृतिमूलक वर्गीकरण पर समीक्षात्मक टिप्पणी लिखिए और उसका भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से आपेक्षिक महत्त्व निरूपित कीजिए।

२९. आप पारिवारिक वर्गीकरण से क्या समझते हैं? भारोपीय भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

३०. लौकिक संस्कृत का प्रादुर्भाव किस प्रकार हुआ, विशेष रूप से धातु-निर्माण और क्रिया के सन्दर्भ में बताइए। (आ० वि० वि० १९६७)

३१. संस्कृत और अवेस्ता भाषाओं में साम्य और वैषम्य का निरूपण कीजिए।

३२. टिप्पणी लिखिए—
अयोगात्मक भाषाएँ (६९), वैदिक संस्कृत (६९), भारोपीय वर्ग (६९), आर्य ईरानी वर्ग (६८), वैदिक संस्कृत (६७), योगात्मक भाषाएँ (६६)।

पंचम अध्याय

वाक्य एवं पद-विज्ञान

- वाक्य-विज्ञान
- रूप-विचार
- रूप-विकास
- रूप-परिवर्तन के कारण
- व्युत्पत्ति-विचार

वाक्य एवं पद-विज्ञान

वाक्य-विज्ञान (Syntax)

ध्वनियों से शब्द और पदों की रचना होती है। पद वाक्य-निर्माण के आधार-तत्त्व हैं। पदों से निर्मित वाक्य का भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण वाक्य-विज्ञान (Syntax) कहलाता है। रूपविज्ञान एवं वाक्यविज्ञान में स्वल्प अन्तर है। रूपविज्ञान में पदों की इकाई का महत्त्व है, और एकाकी रूप से प्राप्त पदों का विश्लेषण रूप-विज्ञान का कार्य है, जबकि वाक्यविज्ञान में पदों के सामूहिक रूप का महत्त्व है और इसी सामूहिक दृष्टि से उनका विवेचन किया जाता है।

भाषा का चरम अवयव वाक्य है अथवा शब्द, यह प्रश्न अत्यन्त विवाद का रहा है। आज यह सुनिश्चित हो गया है कि वाक्य ही भाषा के चरम अवयव हैं। यदि हम राम, घर, अपना, भोजन, खाना आदि शब्दों का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग करें तो इन शब्दों का कोई विशेष महत्व नहीं है, किन्तु यदि हम इन्हें वाक्यान्तर्गत प्रयोग में लायें—तो ये अपना अभीष्ट अर्थ व्यक्त करते हैं और इनसे हमारा अभिप्राय—राम अपने घर में भोजन खाता है, व्यक्त होता है। आशय यह है कि शब्दों एवं पदों के अपने-अपने स्वतन्त्र अर्थ होने पर भी उनका यथार्थ आशय विशिष्ट वाक्य में प्रयुक्त होने पर ही स्पष्ट होता है। संस्कृत के प्राचीन आचार्यों ने 'भाषा की न्यूनतम पूर्ण व सार्थक इकाई' वाक्य को ही माना है। भर्तृहरि का कहना है कि "जिस प्रकार वर्णों में अवयव नहीं होते, उसी प्रकार पदों में वर्ण या वाक्य में पद नहीं होते—

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन।

—वाक्यदीप ब्रह्मकाण्ड ७३

निष्कर्ष यह है कि वाक्य की सत्ता ही वास्तविक है।

प्रारम्भ में भाषा का चरम अवयव वाक्य ही था। बच्चे के कार्यों, उसके बोलने-चालने को देखकर हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँचते हैं कि बालक की भाषा वाक्यात्मक है। जैस्पर्सन ने बच्चों की भाषा का विश्लेषण करते हुए कहा था

कि बच्चे की भाषा के शब्द—एक वाक्य का भाव ही व्यक्त करते हैं।[1] उदाहरण के लिए जब एक बच्चा 'पा' या पानी' कहता है तो उसका आशय यह होता है कि मुझे प्यास लगी है, पानी की आवश्यकता है। 'माँ' शब्द के उच्चारण में भी भूख, प्यास आदि के भावों का बोध होता है। किन्तु जैस्पर्सन भाषा को वाक्यात्मक मानते हुए भी बच्चे के इन शब्दों को वाक्य स्वीकार नहीं करते हैं! उनका कहना है कि वाक्य में व्याकरण के आधार पर रूप-रचना आवश्यक है। वह व्याकरणात्मक रचना बच्चे की भाषा में नहीं होती है।[2] किन्तु बच्चे द्वारा प्रयुक्त एक शब्द भी वाक्य के भाव का सूचक है। इसी प्रकार 'जी', 'हाँ', 'नहीं' आदि शब्द भी वाक्य के भाव को ही स्पष्ट करते हैं। उदाहरण के लिए एक अध्यापक ने कक्षा में एक व्याख्यान देने के पश्चात् छात्रों से पूछा– इस बात को तुम समझ गये ? छात्रों ने उत्तर दिया—'जी' अथवा 'नहीं'। इन दोनों ही शब्दों से क्रमशः यह आशय निकलता है कि व्याख्यान समझ में आ गया अथवा नहीं आया। इसलिए हमारा आशय यह है कि वाक्य के लिए शब्दों की संख्या का प्रश्न नहीं। एक वाक्य एक शब्द का भी हो सकता है और अनेक शब्दों का भी। किन्तु भाव की दृष्टि से—अर्थ की दृष्टि से वाक्य का ही भाषा में महत्त्व है। इस प्रश्न पर विचार करते हुए डा० गौतम ने लिखा है—"आदिम युग में भी मनुष्य की भाषा—अभिप्राय अथवा अर्थ की दृष्टि से वाक्यमूलक ही रही होगी, शब्दमूलक नहीं। उस समय के वाक्य निश्चित रूप से ही सम्पूर्ण विचारों के वाचक रहे होंगे, आकार तथा रूप की दृष्टि से चाहे लघु, अविभाज्य तथा अविभक्त ही रहे हों। शब्दों का वाक्य के अवयवों के रूप में विभाजन तो कृत्रिम है, वस्तुतः वाक्य अपने सम्पूर्ण रूप में अविभाज्य ही हैं। भारतवर्ष के वैयाकरणों ने भी वाक्य-स्फोट[3]

---

1. Language Its Nature Development and Origin. P. 133.
2. Ibid—P. 134 "When we say that such a word means what we should express by a whole sentence, this does not amount to saying that the child's up" is a sentence or a sence word, as many of those who have written about these questions have said. We might just as well assert that clapping our hands is sentence because it exepresses the same idea for the same frame of mind that is otherwise expressed by the whole sentence. "This is splendid." The word 'Sentence' presupposes a certain grammatical structure, which is wanting in the childs utterance.
3. भारतीय व्याकरण-दर्शन के अनुसार सच्चा अर्थ स्फोट (अव्यक्त शब्द) में रहता है, वर्णों में व्यक्त-ध्वनि बाद में सामने आती है। इन व्यक्त ध्वनियों का रूप शब्दों और पदों में दीख पड़ता है पर अन्त में पूरे वाक्य में ही सच्चे अर्थ की कल्पना होती है। इस प्रकार व्यवहार की दृष्टि से केवल वाक्य सार्थक होता है, वर्ण अथवा शब्द नहीं। इसी से वाक्य-स्फोट ही प्रधान माना जाता है। —वैयाकरण-भूषण

को अखण्ड माना है। ग्रीक विद्वान् व्याकरण का निर्माण करना अथवा विद्यार्थियों को व्याकरण सिखाना अस्वाभाविक मानते थे। उनका मत था कि शब्दों का ग्रहण तो विद्यार्थी शनैः-शनैः करता है, उससे भी आवश्यक यह है कि विद्यार्थी अपने तात्पर्य का प्रकाशन वाक्यों द्वारा करना सीख जाय।[1]

उच्चारण की दृष्टि से वाक्य एक सम्पूर्ण एवं सार्थक ध्वनियों का समूह है। जो किसी एक भाव को व्यक्त करता है। छोटे-छोटे वाक्य-खण्ड महावाक्य की रचना करते हैं। साहित्यदर्पणकार ने लिखा है—

स्वार्थ-बोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया।
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहृत्य जायते॥[2]

अर्थात् अपने अभीष्ट अर्थ को व्यक्त कर समाप्त हुए वाक्य, परस्पर अंग तथा अंगीभाव से उसे पूर्ण करते हैं। इस प्रकार परम्परा से वाक्यों के पुनः परस्पर मिलने से महावाक्य की रचना होती है। इसीलिए कहा भी है "**वाक्योच्चयो महावाक्यम्**" अर्थात् वाक्यों के समूह को महावाक्य कहते हैं।

सामान्य रूप से किसी भी भाषा के वाक्यों के दो भेद होते हैं। उन्हें अनेक नामान्तरों से अभिहित किया ज़ाता है—

अग्र—सत्व—उद्देश्य—कर्त्ता
पश्च—आख्यात—विधेय—क्रिय।

जो कुछ कहा जाता है वह आख्यात विधेय तथा जिसके प्रति कहा जाता है उसे सत्व उद्देश्य कहा जाता है। इन्हीं को दूसरे शब्दों में कर्त्ता और क्रिया कहा जाता है। वाक्यों में कर्त्ता, क्रिया, सर्वनाम तथा विशेषतः कर्म, विशेषण, क्रिया-विशेषण, संयोजक तथा विस्मयवाचक शब्द (अव्यय) रहते हैं। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि इन आठों की सत्ता प्रत्येक वाक्य में अनिवार्यतः होनी ही चाहिए। उदाहरण के लिए यदि हम किसी व्यक्ति के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करना चाहते हैं तो हम—"मैं आपकी कृपा के लिए धन्यवाद देता हूँ" इस भाव को व्यक्त करने के लिए केवल 'धन्यवाद' ही कह देते हैं और हमारा आशय व्यक्त हो जाता है। यद्यपि भारोपीय परिवार की भाषाओं में वाक्यों के उद्देश्य-विधेय नामक अंग मिल जाते हैं, किन्तु अन्य भाषाओं में इनकी यथावत् स्थिति हो, यह आवश्यक नहीं है। चीनी आदि भाषाओं में उद्देश्य-विधेय की चर्चा ही नहीं, फिर संज्ञा-क्रिया और सर्वनाम आदि का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

प्रत्येक भाषा में पदों की स्थापना के लिए अपने विशिष्ट नियम होते हैं; उदाहरणार्थ—हिन्दी, संस्कृत तथा अंग्रेजी के इस वाक्य को हम आगे प्रस्तुत कर रहे हैं :

---

1 सरल भाषा-विज्ञान, पृ० १७४।
2. साहित्य दर्पण २/२ वृत्ति

हिन्दी—राम पुस्तक पढ़ता है।

संस्कृत—रामः पुस्तकं पठति अथवा पुस्तकं पठति रामः। या पठति रामः पुस्तकं।

अंग्रेजी—Ram reads a book.

हिन्दी में पहले कर्ता, फिर कर्म तथा अन्त में क्रिया का प्रयोग होता है। किन्तु संस्कृत में इस प्रकार का कोई विशिष्ट नियम नही है। कर्ता, कर्म तथा क्रिया को कहीं भी प्रयुक्त किया जा सकता है। इसके विपरीत अंग्रेजी में पहले कर्ता, फिर क्रिया तथा क्रिया के बाद कर्म आता है। हिन्दी से विकास प्राप्त भाषाओं—पूर्वी-पश्चिमी हिन्दी, गुजराती, अवधी आदि में हिन्दी का ही क्रम स्वीकार किया जाता है। यदि हम कर्म को कर्ता से पहले रख दें तो अर्थ का विपर्यय हो जाता है। उदाहरण के लिए 'कन्या राधा जपती है'। इस वाक्य में कन्या राधा का जप करती है, यह आशय है। यदि इसी वाक्य को हम 'राधा कन्या जपती है' करदें तो अर्थान्तिर हो जायगा। इसी प्रकार पाश्चात्यदेशीय भाषाओं में भी क्रमपरिवर्तन से अर्थ के अनर्थ होने की सम्भावना रहती है। किन्तु वैदिक संस्कृत या संस्कृत भाषा में प्रत्येक पद सम्बन्ध-सूचक-विभक्ति के साथ संश्लिष्ट होने के कारण स्थान-परिवर्तन करने पर भी उन वाक्यों में अर्थान्तिर नहीं होता है। आशय यह है कि संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि के विभाजन तथा क्रमनिर्धारण आवश्यक नहीं है, क्योंकि प्रत्येक भाषा की अपनी-अपनी पृथक् मान्यताएँ हैं और तदनुरूप उनके वाक्य भी भिन्न-भिन्न रूप में मिलते हैं।

किसी भी भाषा के वाक्यों में फिर भी दो-एक आवश्यक तत्त्व होते ही हैं। उनके अभाव में भावाभिव्यक्ति स्पष्ट नहीं हो सकती है।

(१) **अन्वय**—अन्वय से हमारा आशय—वाक्यान्तर शब्दों की संगति से है। संसार की भाषाएँ दो प्रकार की हैं—योगात्मक भारोपीय भाषाएँ तथा अयोगात्मक चीनी आदि भाषाएँ। भारोपीय भाषाओं में संज्ञा, विशेषण, क्रिया आदि में अन्वय नितान्त अपरिहार्य है। इसी प्रकार चीनी आदि भाषाओं में पदों का क्रम ही इस अन्वय का सूचक होता है।

(२) **वाक्य के पदों में आकांक्षा**—योग्यता तथा आसक्ति (सन्निधि) का गुण भी अवश्य होना चाहिए, क्योंकि एकाकी शब्द जिज्ञासा की पूर्ति करने में असमर्थ है। पुस्तक या मेज कहने मात्र से अर्थ-बोध सम्भव नहीं है। इन शब्दों को दूसरे शब्द की चाह रहती है। इसी चाह को आकांक्षा कहते हैं। 'पुस्तक मेज पर रखी हुई है।' 'पुस्तक खुली हुई है।' 'मेज पर मेजपोश बिछा है।' इस प्रकार कहने पर ही जिज्ञासा की पूर्ति होती है। शब्दों में एक दूसरे के अनुकूल होने की योग्यता रहती है। हम यह नही कह सकते—'वह्निना सिंचति' अर्थात् आग से सींचता है, क्योंकि आग में सींचने की योग्यता का अभाव है। इसी योग्यता के अभाव में शब्द

या वाक्य का मुख्य अर्थ स्पष्ट नहीं होता है। इसके अतिरिक्त शब्दों को एक दूसरे के निकट होना चाहिए। हम यह नहीं कह सकते हैं कि 'रामदत्त जल है, तरल खाता है।' क्योंकि इसका कोई अर्थ नहीं है। यहाँ दूरान्वय दोष है। हम इस वाक्य को इस प्रकार रखकर भाव स्पष्ट कर सकते हैं—रामदत्त खाता है, जल तरल है। इसी प्रकार आज 'राम' कहकर दूसरे दिन 'घर' कहें और तीसरे दिन 'जाता है' कहें तो वह भी आसक्ति से रहित निरर्थक शब्दोच्चारण होगा। इसीलिए शब्दों के निकट-सम्बन्ध को सन्निधि या आसक्ति कहते हैं। वाक्य में इनका होना भी आवश्यक है।

वाक्यों के रूप—विश्व की विभिन्न भाषाओं के अध्ययन के पश्चात् भाषा-वैज्ञानिकों ने वाक्यों के चार भेद निर्धारित किये हैं। प्रत्येक भाषा की वाक्य-रचना में अपनी-अपनी विशेषता होती है। वे चार प्रकार के वाक्य निम्न हैं :

(१) समास-प्रधान (Incorporating)
(२) व्यासप्रधान (Isolating)
(३) प्रत्यय-प्रधान (Agglutinating)
(४) विभक्तिप्रधान (Inflecting)

जब तक भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में वाक्य-विज्ञान का उदय नहीं हुआ था, उस समय तक विद्वानों को यह भ्रान्ति थी कि उपर्युक्त चारों प्रकार के वाक्य क्रमशः विकसित होते हैं। प्रत्येक भाषा को इन चारों प्रकार के वाक्यों में होकर अपनी जीवन यात्रा करनी होती है। किन्तु भाषाचक्र की यह कल्पना आज भ्रान्त सिद्ध हो गई है।

समास-प्रधान : प्रश्लिष्ट योगात्मक (Incorporating)—समास-प्रधान वाक्य परस्पर एक-दूसरे शब्द के साथ इतने संश्लिष्ट रहते हैं कि उनकी पृथक् सत्ता की स्पष्ट जानकारी नहीं हो पाती है। समास-प्रधान वाक्यों का विश्लेषण एक कठिन समस्या है। इन वाक्यों में कर्त्ता, कर्म, क्रिया सभी एक पद में संश्लिष्ट रहते हैं कि सम्पूर्ण वाक्य एक शब्द प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ उत्तरी अमेरिका की चेरोकी भाषा का एक वाक्य प्रस्तुत है—

अमोखल=नाव
नातन=लाना
निन=हम

इन शब्दों से निर्मित समस्त वाक्य नाधोलिनिन का अर्थ है "हमारे लिए एक नाव लाओ"।

व्यास-प्रधान : अयोगात्मक वाक्य (Isolating)—व्यासप्रधान वाक्यों की रचना समास-प्रधान वाक्यों से भिन्न होती है। इन वाक्यों में प्रत्येक शब्द की स्वतन्त्र सत्ता होती है। प्रत्येक शब्द का अपना स्थान निश्चित होता है। इन वाक्यों

में शब्द का अर्थान्तिर स्थान परिवर्तन पर ही सम्भव होता है। चीनी भाषा व्यास-प्रधान वाक्यों के लिए प्रसिद्ध है। उदाहरणार्थ—न्गो-ता नी का अर्थ है—'मैं तुम्हें मारता हूँ'। किन्तु "नी-ता-न्गो" के रूप में स्थानान्तरण हो जाने पर, 'तुम मुझे मारते हो'।

प्रत्ययप्रधान : अश्लिष्ट योगात्मक (Agglutinating)—प्रत्ययप्रधान वाक्यों की रचना, सरल और स्पष्ट होती है। इन भाषाओं में प्रत्यय जोड़कर शब्दों तथा वाक्यों की रचना होती है। इन वाक्यों में शब्दों तथा धातुओं का स्वतन्त्र अस्तित्व रहते हुए भी वाक्य-रचना प्रत्ययों के संयोग के बिना सम्भव नहीं है। भाषाओं में तुर्की भाषा विशेषतः प्रत्ययप्रधान है। तुर्की भाषा में 'एव' का अर्थ है 'घर'। इसमें प्रत्यय जोड़ने पर—

एवलेर=अनेक घर
एवलेरिम=मेरे घर

कृत्रिम भाषा 'एस्पैरेन्तो तथा संस्कृत में भी प्रत्ययप्रधान भाषा की प्रवृत्ति के दर्शन कभी-कभी हो जाते हैं।

विभक्ति प्रधान : श्लिष्टयोगात्मक (Inflecting)—विभक्तिप्रधान वाक्यों की रचना का मूल आधार प्रत्यय-विभक्ति होते हैं, किन्तु विभक्ति धातु के साथ इस प्रकार संश्लिष्ट हो जाती है कि दोनों का अस्तित्व पृथक्-पृथक् प्रतीत नहीं होता है। प्रत्ययों का अस्तित्व सर्वथा लुप्त हो जाता है। विभक्ति-प्रधान भाषाओं में भारोपीय परिवार; सैमेटिक तथा हैमेटिक परिवार की भाषाएँ आती हैं।

भाषा-विज्ञान की प्रगति जिस रूप में हो रही है तथा भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत जिस प्रकार ध्वनि-विज्ञान और रूप-विज्ञान का व्यापक अध्ययन हो रहा है, उतना व्यापक अध्ययन अभी वाक्य-विज्ञान की दिशा में नहीं हुआ है। वाक्यों के अवयवों के विकास की दिशा में ब्रील महोदय ने संकेत किये हैं। वाक्य-विज्ञान में संज्ञा एवं सर्वनाम के विकास को देखकर विद्वानों का मत है कि इन दोनों को ही अपेक्षाकृत क्रिया, क्रिया-विशेषण, अव्यय आदि से अधिक महत्त्व मिला है।

वाक्य-रचना में परिवर्तन—वाक्य-रचना में परिवर्तन अनेक कारणों से होता है। इनके मूल में कौन-से विशिष्ट कारण हैं, यह निर्णात्मक रूप से कहना सम्भव नहीं है। फिर भी नये वाचक चिह्नों का आगमन, दूसरी भाषाओं की वाक्य रचना का प्रभाव, परिस्थितिजन्य विशेषताएँ, बलाघात, विभक्तियों का घिस-कर लुप्त हो जाना आदि कारण वाक्य-रचना में परिवर्तन उपस्थित कर देते हैं।

रूप-विचार (Morphology)

रूपविज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत भाषा की पदरचना, पदविकास तथा पद के विकास के कारणों पर विचार किया जाता है। भाषा का चरमावयव वाक्य है,

वाक्य ध्वनियों के समूह का नाम है। इस ध्वनि-समूह में भी उच्चारण की सुविधा तथा अर्थव्यंजकता के आधार पर छोटे-छोटे ध्वनि-समूहों का निर्माण होता है। उच्चारणगत ध्वनिसमूहों का अध्ययन ध्वनि-विज्ञान का विषय है। अर्थव्यंजकतागत समूह का अध्ययन पद-रचना-विज्ञान में होता है। द्वितीय श्रेणी के समूह का नाम पद या शब्द है। भाषा-विज्ञान में "**पद उस ध्वनि-समूह को कहते हैं जिसका वाक्य में भाषा की परम्परा के अनुसार सम्बन्ध-तत्त्व, अर्थतत्त्व अथवा उन दोनों के अर्थ का बोध कराने के लिए प्रयोग होता है। यदि ध्वनि-समूह है तो एकत्र और कभी-कभी अनेकत्र भी उसके अंशों की स्थिति है।**"[1]

"शब्दों के साथ जो प्रत्यय जुड़कर उन्हें वाक्य में प्रयुक्त होने के योग्य बनाते हैं, उन्हीं को रूप कहा जाता है। इन्हीं रूपों के वैज्ञानिक विश्लेषण को **रूप-विज्ञान** (Morphology) कहा जाता है।"[2]

वाक्य के अन्तर्गत प्रयुक्त होने वाले शब्दों का विश्लेषण करने पर हमें उसमें दो तत्त्व मिलते हैं—एक मूल शब्द—जिसे **अर्थ-तत्त्व** भी कहते हैं, दूसरे उन अर्थ-तत्त्वों से सम्बद्ध होकर अर्थ व्यक्त करने वाले सम्बन्ध-सूचक शब्द, विभक्तियाँ प्रत्यय आदि। इस प्रकार इन दोनों तत्त्वो को क्रमशः **अर्थतत्त्व** और **सम्बन्धतत्त्व** कहते हैं। "अर्थतत्त्व (Semanteme) से अभिप्राय भाषा के उन अंशों से है जो अर्थतत्त्व द्वारा व्यक्त किये हुए विचारों के परस्पर सम्बन्ध की सूचना देते हैं।"[3] उदाहरणार्थ 'गृहं गच्छामि' इस वाक्य में दो तत्त्व हैं, गृहं (घर), और गम् (जाना), किन्तु 'गृहं' 'गम्' इन दोनों का ही केवल वाक्य में प्रयोग सम्भव नहीं है। इसलिए संज्ञा शब्द में कारक-विभक्ति तथा क्रिया से धातु रूपों का योग नितान्त अपरिहार्य है। इन शब्दे के साथ उन तत्त्वों के योग के पश्चात् ही गृहं और गम् क्रमशः गृहं और गच्छामि इन रूपों को धारण करते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् यह निष्कर्ष सहज ही निकल आता है कि शब्द असिद्ध प्रयोग है और पद सिद्ध प्रयोग। किन्तु यह बात विश्व की समस्त भाषाओं पर समान रूप से घटित नही होतो है, क्योंकि विश्व की चीनी आदि एकाक्षर परिवार की भाषाओं में वाक्य और पद में अन्तर नहीं है। सम्बन्धतत्त्व की भी इन भाषाओं में सत्ता नहीं है। इन भाषाओं में शब्द के स्थान से ही शब्द का सम्बन्ध तत्त्व ज्ञात होता है। स्थान-परिवर्तन से अर्थ-परिवर्तन हो जाता है।

सम्बन्ध-तत्त्व के प्रकार—भाषा-वैज्ञानिकों ने विविध भाषाओं का अध्ययन कर विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध तत्त्वों का निर्देश किया है, जो मुख्यतः अग्रांकित है :

---

1 **सामान्य भाषा-विज्ञान**—बाबूराम सक्सेना, पृ० ६७।

2 **हिन्दी भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन**—ऋषि गोपाल, पृ० १२६।

3 **सामान्य भाषा-विज्ञान**, पृ० ६४।

(१) **स्वतन्त्र शब्द**—प्रधानतः विभिन्न भाषाओं में सम्बन्धतत्त्व के सूचक कुछ शब्द स्वातन्त्र्येण अपना अस्तित्व रखते हैं; उदाहरणार्थ—संस्कृत भाषा में—इति, एव, अपि, च, परं आदि, हिन्दी भाषा में से, का, के, में, पर तब, जब, जहाँ आदि, अंग्रेज़ी में to, up, on, that, than, in, above आदि। सभी सर्वनाम-शब्द सम्बन्धतत्त्व को ही प्रदर्शित करते हैं। कभी-कभी दो स्वतन्त्र शब्दों का प्रयोग भी एक ही सम्बन्धतत्त्व के लिए होता है, उदाहरणतः यदि—तो, यद्यपि—तथापि।

(२) **प्रत्यय उपसर्गरूप**—सम्बन्ध-तत्त्व अर्थतत्त्व में प्रत्यय-उपसर्ग रूप में सम्बद्ध होकर शब्द के अंग बनकर अपने भाव को व्यक्त करते हैं। इनका प्रयोग शब्द के आदि, मध्य और अन्त में कहीं भी हो सकता है। उदाहरणार्थ संस्कृत भाषा में लङ् और लुङ् लकार में 'अ' आदि प्रत्यय का प्रयोग (अगच्छत् अगमत्) आदि भूतकालिक क्रिया का सूचक है। इसी प्रकार अगम्य, अनाथ, अपाणिपाद का 'अ' निषेध-सूचक है। संस्कृत में प्र, परा, अप, सं, अनु, दुष्, दुर, वि, आङ् नी, आदि **उपसर्गों** का आदि में प्रयोग होता है। परिणामस्वरूप अनेक पदों की रचना हो जाती है। **मध्य प्रत्यय** संस्कृत में गम्यते, हस्यते, चौर्यते 'य' प्रत्यय भाववाचक है। प्रेरणार्थक, स्नायति, कारयति, अन्त प्रत्यय 'स्य', अस्मिन् रामस्य', सर्वस्मिन् 'षु' रामेषु आदि विभक्त्यर्थ, शतृ, क्त (गच्छत् गतः) आदि क्रिया के काल-भाव आदि के सूचक प्रत्यय हैं।

(३) **ध्वनि-परिवर्तन रूप**—अर्थ तत्त्व की ध्वनियों में स्वल्प परिवर्तन से भी सम्बन्धतत्त्व का ज्ञान कराया जा सकता है। उदाहरणार्थ—स्वर-परिवर्तन—शृंग से शार्ङ्ग, पुत्र से पौत्र, अंग्रेजी में Ring, Rang, Rung, **व्यंजन परिवर्तन** संस्कृत में पच् का लुङ् लकार परस्मैपद में अपाक्षी, या अपाक्तः ; अंग्रेजी में go, went, gone आदि।

(४) **ध्वनि-गुण**—(बलाघात, स्वराघात, या सुर) अर्थतत्त्व की ध्वनियों में ध्वनि-गुण के परिवर्तन से भी सम्बन्ध तत्त्व का निर्माण हो जाता है।

(५) **शब्दस्थान**—कभी-कभी शब्दों का स्थानान्तर भी सम्बन्ध तत्त्व का कार्य करता है। विशेषकर संस्कृत समास में शब्द के स्थान पर सम्पूर्ण भाव निर्भर रहता है; जैसे मल्लस्यग्रामः मल्लग्राम ग्राममल्लः राजपुत्र, पुत्रराज। इन उदाहरणों में स्थान ही सम्बन्ध-तत्त्व का सूचक है।

पदविकास

भाषा परिवर्तनशील है। अतः भाषा के प्रत्येक अवयव—ध्वनि, अर्थ, पद, वाक्य आदि में भी समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं। पद विकास के अध्ययन के लिए हमें सम्बन्ध-तत्त्वों का विवेचन अपेक्षित है। सम्बन्ध-तत्त्व प्रधानतः संज्ञा एवं क्रिया के अन्तर्गत लिङ्ग, वचन, पुरुष, कारक, काल और अव्यय आदि से सम्बद्ध हो भावाभिव्यक्ति करते हैं। अतः इनका अध्ययन अपेक्षित है।

लिंग (Gender)—सृष्टि के पदार्थों का हम चेतन तथा अचेतन इन दो वर्गों में वर्गीकरण कर सकते हैं। चेतन व्यक्तियों के भी स्त्री एवं पुरुष नामक दो भेद किये जा सकते हैं। इस प्रकार सृष्टि को तीन वर्गों—स्त्री, पुरुष तथा अचेतन में विभक्त किया जा सकता है। लिङ्ग सम्बन्धी वर्गीकरण सृष्टि के इन्हीं तीन वर्गों के आधार पर किया गया है। अभी तक विविध भाषाओं का व्याकरणिक एवं भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन करने पर तीन ही लिङ्गों की सत्ता स्थिर हुई है—

(१) स्त्री लिङ्ग (Feminine)

(२) पुल्लिङ्ग (Masculine)

(३) नपुंसक लिङ्ग (Neuter)

उपर्युक्त लिङ्ग-विभाजन सभी भाषाओं में मिलता हो यह आवश्यक नहीं है। संसार में ऐसी भी भाषाओं की सत्ता है जिनमें लिङ्ग विभाजन नहीं है। कुछ भाषाएँ ऐसी हैं, जिनमें दो ही लिङ्ग हैं। तीन लिङ्ग-वाली भाषाओं में भी शब्दों का वर्गीकरण कभी-कभी युक्ति-संगत रूप में नहीं मिलता है; उदाहरण के लिए—हिन्दी में 'वह', 'मैं', 'जो' आदि सर्वनाम पुल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग दोनों ही हो सकते हैं। इसी प्रकार संस्कृत में तीनों लिङ्गों की सत्ता होने पर भी लिङ्गों का यह वर्गीकरण ठीक-ठीक प्रयुक्त नहीं होता है; उदाहरण के लिए—स्त्रीवाचक शब्द (दारा पुं०, स्त्री; महिला स्त्री०; कलत्र न०, पुं०) तीनों ही लिंगों में मिल जाते हैं। इसी प्रकार जर्मन में तीन लिंग हैं, किन्तु यह वर्गीकरण वहाँ भी कभी-कभी ठीक से कार्य नहीं करता है। फ्रेंच में पुल्लिग और स्त्रीलिंग दो ही लिंग हैं। किन्तु इसमें एक ही शब्द पुल्लिग और स्त्रीलिंग बन सकता है। फारसी एवं मुण्डा भाषाओं में पुल्लिग और स्त्रीलिंग का भेद नहीं है, वहाँ पुरुषवाची और स्त्रीवाची शब्दों को जोड़कर लिंग-भेद किया जाता है। किसी-किसी भाषा में यह लिंग-भेद तीन की सीमाओं को भी पार कर बीस तक पहुँच गया है; उदाहरणार्थ—बान्टु परिवार की भाषाओं में संज्ञाओं के लिंग-सम्बन्धी वर्ग बीस तक हैं।

वचन—सृष्टि के समस्त तत्त्वों को गणना की दृष्टि से दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—एक और अनेक। किन्तु संसार में अनेक पदार्थ द्वित्व रूप में भी मिलते हैं। हिन्दी एवं अंग्रेजी में एक वचन तथा अनेकवचन, दो ही वचन हैं, किन्तु संस्कृत में द्विवचन भी है। इस द्विवचन का आविर्भाव किन्हीं वस्तुओं को समान एवं साथ-साथ देखने से हुआ होगा। वेदों में इन्द्राग्नी, मित्रावरुणौ, द्यावापृथिवी, पितरौ आदि द्विवचन के उदाहरण हैं। संस्कृत में तीनों वचनों की सत्ता है; किन्तु पालि, प्राकृत, हिन्दी आदि परवर्ती आर्यभाषाओं में दो ही वचन हैं। विभिन्न भाषाओं में व्यक्ति और समूह को अलग-अलग भी देखा जाता है। ऐसे स्थान पर समूह-वाचक वचन भी देखे जाते हैं। गण, द्वितय, त्रित्रय, चतुष्टय आदि। कभी-कभी समूह-वाचक

शब्द एकवचन या बहुवचन में भी मिलते हैं। वचन का प्रयोग संज्ञा, सर्वनाम और क्रिया तीनों के साथ होता है।

कारक और विभक्ति--संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण के विभिन्न रूपों को विभक्ति कहते हैं। संस्कृत में प्रथमा से सप्तमी तक सात विभक्तियाँ हैं। सम्बोधन के लिए प्रथमा का ही प्रयोग होता है, किन्तु एक वचन में स्वल्प अन्तर के साथ। यदि सम्बोधन को भी विभक्ति मान लें, तो विभक्तियाँ आठ हैं। **"विभक्तियों के क्रिया के साथ सम्बन्ध को कारक कहते हैं।"** विभक्तियों के समान कारक आठ न होकर छह ही हैं। कारक का कार्य संज्ञा और क्रिया के सम्बन्ध को व्यक्त करना है। संस्कृत भाषा में यह सम्बन्ध छह प्रकार से अभिव्यक्त किया जाता है—

(१) कर्ता (Nominative)
(२) कर्म (Accurrative)
(३) करण (Instrumental)
(४) सम्प्रदान (Dative)
(५) अपादान (Ablative)
(६) अधिकरण (Locative)

यह आवश्यक नहीं है कि जितने कारक हों उतनी ही विभक्तियाँ हों। संस्कृत में छह कारक एवं आठ विभक्तियाँ हैं। काकेशी भाषा में तेईस विभक्तियाँ मिलती हैं। चीनी भाषा में विभक्तियों की सत्ता ही नहीं है। कारक एवं विभक्तियों का प्रयोग सभी भाषा में हो यह भी आवश्यक नहीं है। संस्कृत में दोनों की सत्ता थी, किन्तु हिन्दी में आज केवल कारक ही शेष हैं।

पुरुष (Person)—संसार की भाषाओं में तीन पुरुष होते हैं :

(१) उत्तम पुरुष (Frist Person)
(२) मध्यम पुरुष (Second Person)
(३) अन्य या प्रथम पुरुष (Third Person)

इन पुरुषों के वर्गीकरण का आधार मनुष्य का अपना अहं भाव है, वह अपने को सर्वोत्तम मानता है। अपने पश्चात् वह अपने निकट स्थित व्यक्ति का महत्त्व मानता है, तदनन्तर शेष व्यक्तियों का। सर्वनामों का भाषा में क्रियाओं पर प्रभाव पड़ता है। संस्कृत में तीन वचन और तीन पुरुषों के आधार पर क्रिया के नौ रूप बनते हैं, किन्तु सभी भाषाओं में ये रूप बनते हों, यह आवश्यक नहीं है। चीनी भाषा में क्रिया पर पुरुषों के आधार पर प्रभाव नहीं पड़ता है।

काल (Tense)—काल तीन हैं :

(१) वर्तमान (Present)
(२) भूत या अतीत (Past)
(३) भविष्य (Future)

विश्व की अधिकांश भाषाओं की क्रियाओं को कालों के आधार पर स्पष्ट किया जाता है, किन्तु सभी भाषाओं में यह वर्गीकरण समान रूप से दृष्टिगत नहीं होता है। संस्कृत में भूतकाल के ही—(१) अनद्यतन, (२) परोक्ष और (३) सामान्य, नामक तीन भेद मिलते हैं। अरबी-हिब्रू आदि में काल की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है।

वाच्य (Voice)—संस्कृत में तीन प्रकार के वाच्य होते हैं—(१) कर्तृ-वाच्य[1] (२) कर्मवाच्य[2] और (३) भाववाच्य[3]। यदि किसी वाक्य में कर्ता पर अधिक जोर दिया जाता है तो वहाँ कर्तृवाच्य और यदि कर्म पर अधिक बल है तो वहाँ कर्मवाच्य। यदि क्रिया के भाव पर अधिक बल है तो भाववाच्य। प्रारम्भ में तीनों का प्रयोग स्वतन्त्र रूप से होता रहा है। किन्तु आज प्राय: कर्मवाच्य और भाववाच्य का संयुक्त प्रयोग देखने को मिलता है। कर्तृवाच्य सकर्मक और अकर्मक दोनों प्रकार के धातु-रूपों में संभव है, कर्मवाच्य केवल सकर्मक धातुओं में तथा भाववाच्य केवल अकर्मक धातुओं में।

पद—संस्कृत की धातुओं का परस्मैपद तथा आत्मनेपद नामक विभाजन किया गया है। इस विभाजन का आधार क्रिया के फल का विभाग है। यदि क्रिया का फल कर्ता को मिलता है तो वहाँ पर आत्मनेपद होता है और यदि फल दूसरे को मिलता है तो परस्मैपद। उदाहरणार्थ यजमान: यजते और ऋत्विक् यजति। प्रथम क्रिया आत्मनेपदी है और द्वितीय क्रिया परस्मैपदी। संस्कृत में यह विभाजन आज भी मिलता है, किन्तु अन्य भारतीय पालि, प्राकृत, हिन्दी आदि में पदों के अनुसार क्रिया का यह विभाजन आज प्राप्त नहीं है। क्रियाओं के अन्य विभाजनों में प्रेरणार्थक (Causal), इच्छार्थक, आवृत्ति आदि भी वर्गीकरण किये जाते हैं। इसी प्रकार आशीर्वाद, विधि तथा आज्ञा आदि क्रियाओं की वृत्तियाँ भी होती हैं।

मानव की भाषा का रूप-रचना की दृष्टि से वर्गीकरण सदा शाश्वत सिद्धान्तों पर सम्भव नहीं है, क्योंकि मानव के विचार और भाषा—दोनों ही परिवर्तनशील हैं। अत: विशिष्ट भाव के प्राप्त रूपों के आधार पर ही रूपों का वर्गीकरण करना चाहिए।

पदविकास—रूप-परिवर्तन के कारण

जिस प्रकार भाषा के परिवर्तन का मूल कारण प्रयत्नलाघव है, उसी प्रकार रूप-परिवर्तन का मूल कारण भी प्रयत्न लाघव ही है। मानव की भाषा में दो वृत्तियाँ निरन्तर कार्य करती रहती हैं—एकपदों की एकरूपता और दूसरी अनेकरूपता। इन दोनों

---

1. **Active.**
2. **Passive.**
3. **Impersonal,**

को भी रूप-परिवर्तन का कारण माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त सादृश्य, अज्ञान आदि भी रूप-परिवर्तन के कारण हैं।

एकरूपता—मानव अपने सुख के लिए निरन्तर कम श्रम करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। इसी प्रयत्नलाघव के कारण वह पदों के रूपों में एकता लाने के लिए भी प्रयत्नशील रहता है। इस प्रवृत्ति के उदाहरण प्रायः सभी भाषाओं में मिलते हैं। संस्कृत भाषा का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि उसमें अकारान्त शब्दों का बाहुल्य है, इसलिए संस्कृत भाषा-भाषी के अन्तर्मन पर अकारान्त शब्दों का दूसरे इकारान्त, उकारान्त, व्यंजनान्त शब्दों की अपेक्षा अधिक प्रभाव है। अकारान्त शब्द अधिक स्थिर हैं। इसी कारण प्राकृतों में जहाँ, पुतस्स (<पुत्रस्य), सब्बस (<सर्वस्व) आदि रूप प्राप्त होते हैं, उन्हीं के अनुकरण पर संस्कृत अग्नेः के स्थान पर अग्गिस्स, संस्कृत वायोः के स्थान पर वाउस्स आदि अकारान्त रूप मिलते हैं। निश्चित ही यह एकरूपता लाने का उपक्रम है। एकरूपता के ये उदाहरण क्रिया-पदों में भी मिलते हैं। उदाहरण के लिए संस्कृत में गम् धातु के वर्तमान काल के लट् लकार में 'गच्छति' तथा भविष्य में 'गमिष्यति' रूप बनते हैं। किन्तु प्राकृत में एकरूपता की प्रवृत्ति के कारण 'गमिष्यति' के स्थान पर 'गच्छिस्सति' रूप मिलता है। हिन्दी में भी अनेकशः एकरूपता की प्रवृति के दर्शन होते हैं।

सादृश्य—एकरूपता की यह प्रवृत्ति सादृश्य-मूलक है। मस्तिष्क में समान अनेक शब्दों के रहते हुए कुछ असमान शब्दों का यथावत्स्थिति में व्यवहार करते रहना कष्टसाधक होता है। अतः मनुष्य इस कष्टसाधक यत्न से बचने के लिए सादृश्य का प्रयोग करता है। संस्कृत का नपुंसक लिङ्ग अधिकतर पुल्लिङ्ग के समान ही है। इसीलिए प्राकृतों में नपुंसक लिङ्ग समाप्त होकर दो लिङ्ग ही शेष हैं। बच्चों की भाषा में भी सादृश्य के अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं।

अनेकरूपता—यदा-कदा अनेकरूपता लाने की प्रवृत्ति भी रूप-परिवर्तन का कारण बनती है, क्योंकि मस्तिष्क में अनेक समान शब्द भ्रम उत्पन्न करते हैं। उस भ्रान्ति को दूर करने के लिए अनेकरूपता का आश्रय लेना पड़ता है। उदाहरणार्थ संस्कृत के पुत्र शब्द के 'पुत्राः' और 'पुत्रान्' को 'पुत्ता' बना दिया गया, किन्तु प्रथमा और द्वितीया के ये समान रूप भ्रमात्मक सिद्ध हुए, परिणामस्वरूप 'पुत्ते' रूप का आविर्भाव हुआ।

संस्कृत की विभक्तियों की एकरूपता को दूर करने के लिए अनेक सम्बन्ध-सूचक शब्दों (में, का, ने) की रचना हुई।

अज्ञान—अज्ञानवश भी कभी-कभी भाषागत रूप-परिवर्तन हो जाते हैं; उदाहरणार्थ, 'अज्ञान' शब्द से अज्ञानता, सौन्दर्य से सौन्दर्यता, लावण्यता आदि शब्द बन जाते हैं।

नवीनता—भाषा में सौन्दर्य, नवीनता एवं प्रभावात्मकता लाने के लिए

साधारण शब्दों में परिवर्तन कर दिया जाता है। जैसे 'प्रयोग' से 'संयोग', 'कल्पना' से 'परिकल्पना' उज्ज्वल से 'औज्ज्वल्य' आदि नूतन शब्दों का प्रारम्भ हो जाता है।

स्पष्टता—भाषा में स्पष्टता लाने के लिए भी रूप-विकार के दर्शन हो जाते हैं। बहुवचन की स्पष्टता के लिए 'हम' के साथ 'हम लोग', तुम के साथ 'तुम लोग' शब्दों का प्रयोग मिल जाता है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि भाषा में रूप-परिवर्तन अर्थ-तत्त्व तथा सम्बन्ध-तत्त्व से प्रारम्भ होता है। यह प्रक्रिया प्रत्येक भाषा में मिलती है। भाषा-विज्ञान में रूप-परिवर्तन का महत्त्व ध्वनि-परिवर्तन, अर्थ-परिवर्तन के समान ही महत्त्वपूर्ण है।

व्युत्पत्ति-विचार (Etymology)

व्युत्पत्ति-शास्त्र एवं भाषा-विज्ञान—व्युत्पत्ति शब्द का अर्थ है, विशेष उत्पत्ति। व्युत्पत्ति-शास्त्र में शब्दों के मूल का अध्ययन किया जाता है। उसके प्रकृति-प्रत्यय पर विचार कर मूलार्थ स्पष्ट किया जाता है। मूलशब्द के अध्ययन के लिए शब्द के रूप, ध्वनि और अर्थ पर विचार किया जाता है। इसलिए इन तीनों में से किसी एक के अन्तर्गत व्युत्पत्ति-शास्त्र पर विचार नहीं किया जा सकता। वह तो इन तीनों का ही एक समन्वित रूप है।

भाषा-विज्ञान में भाषा, वाक्य और शब्दों पर विचार किया जाता है। विशेष रूप से शब्दों का अध्ययन करना भाषा-विज्ञान का प्रमुख उद्देश्य है। भाषा-विज्ञान के अध्ययन करते समय हम देखते हैं कि जब तक 'भाषा-विज्ञान' इस पारिभाषिक शब्द की रचना नहीं हुई थी, उस समय तक निर्वचनशास्त्र या व्युत्पत्ति (Etymology) शब्द ही भाषा-विज्ञान के लिए प्रयुक्त होता था। यद्यपि भाषा-विज्ञान का एकमात्र उद्देश्य शब्द-व्युत्पत्ति ही नहीं है; फिर भी भाषा-विज्ञान का प्रारम्भ शब्दों की व्युत्पत्ति से हुआ है। किसी शब्द के प्रकृति-प्रत्यय विभाग का ज्ञान प्राप्त कर अस्पष्ट रचना वाले शब्द के इतिहास का ज्ञान प्राप्त करना, अर्थात् शब्दों की वंश परम्परा का ज्ञान व्युत्पत्ति-विचार का मुख्य उद्देश्य है, और यह कार्य भाषा-विज्ञान के विकास के लिए परम उपादेय है।

व्युत्पत्ति-शास्त्र पर भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से कार्य हो रहा है। सर्वप्रथम वैयाकरणों ने शब्दों की व्युत्पत्ति पर कार्य किया। उस समय इसे 'निरुक्त' के नाम से अभिहित किया गया था। निरुक्त वेद के छह अंगों में से एक है। यास्क का निरुक्त निर्वचनशास्त्र के इतिहास के लिए एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। किन्तु आज के इस वैज्ञानिक युग में उसकी व्युत्पत्तियों पर प्रश्नवाची चिह्न अंकित है, क्योंकि यास्क ने व्युत्पत्तियाँ करते समय अनुमान का अधिक सहारा लिया है। किसी-किसी शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ की हैं; उदाहरण के लिए इन्द्र की चौदह, जातवेदस की

छह और अग्नि की पाँच। निरुक्त में शब्दों पर विचार करते हुए उन्हें तीन प्रकार का बतलाया है—**त्रिविधा हि शब्द प्रवृत्तयः। प्रत्यक्षकृता, परोक्षकृता, अतिपरोक्षकृता प्रवृत्तयः।** अति परोक्ष शब्दों का ज्ञान निर्वचन से ही सम्भव है। निघण्टु का नामकरण ही इसी आधार पर इस प्रकार किया गया है—

"निगमयितारः निगन्तवः निघण्टवः इत्युच्यते।"

पाश्चात्य देशों में भी व्युत्पत्तिशास्त्र के दर्शन होते हैं। प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'क्रेटीलस' में शब्द की ध्वनि और अर्थ के सम्बन्ध में विचार किया है। आधुनिक युग में भी पश्चिम में स्वीट, यूल, बर्नर, टर्नर आदि ने व्युत्पत्तिशास्त्र पर कार्य किया है। आधुनिक भारतीय विद्वानो में प्राकृत में हरगोविन्ददास विक्रमचन्द सेठ ने, अर्धमागधी में मुनिरत्न जी महाराज ने, बँगला में ज्ञानेन्द्र मोहनदास ने, उड़िया में गोपालचन्द्र ने, मराठी में कृष्णजी पाण्डुरंग कुलकर्णी ने, गुजराती में हरिवल्लभ भाषणी ने, हिन्दी में वासुदेवशरण अग्रवाल ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

व्युत्पत्तिशास्त्र एक मनोरंजक विषय है। शब्दों का इतिहास विचित्र कहानियों से भरा रहता है, क्योंकि प्रकृति-प्रत्यय उपसर्गों को जोड़कर शब्द का स्वरूप ही परिवर्तित हो जाता है; उदाहरण के लिए हृधातु से निष्पन्न शब्द उपसर्गों से जुड़कर विभिन्न अर्थों के सूचक हो जाते हैं—

उपसर्गेण धात्वर्थः बलादन्यत्र नीयते प्रहाराहार संहार विहार........।

शब्दों पर विचार करते समय हम देखते हैं कि एक-एक शब्द अपने पीछे मनोरंजनपूर्ण कहानी अन्तर्निहित किये हुए हैं। जैसे आजकल अनुसंधान अर्थ में प्रयुक्त 'गवेषणा' शब्द प्रारम्भ में 'गौ को ढूँढ़ना' यह अर्थ सूचित करता था। घृणा या निन्दा में प्रयुक्त होने वाला जुगुप्सा शब्द गौ को पालना, पालना, छिपाना, और अन्त में घृणित अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। इसी प्रकार अभ्यास शब्द प्रारम्भ में शर (बाण) आदि के बार-बार फेंकने (अभि+असन) अर्थ में प्रयुक्त होता था। द्रव्य शब्द प्रारम्भ में द्रु=वृक्ष से निर्मित वस्तु के ही अर्थ तक सीमित था। "इसी प्रकार मूल में 'आर (=पैना) को उठाए हुए' इस अर्थ को रखने वाला 'उदार' (उद्+आर) शब्द क्रमशः (१) 'उद्धत' या उदण्ड, (२) सन्नद्ध और अन्त में, (३) 'दानी' या दूसरों की सहायता में 'तत्पर' आदि अच्छे अर्थों में प्रयुक्त होने लगा है।"

इस प्रकार से देखने पर व्युत्पत्ति-शास्त्र अत्यधिक रुचिकर और मनोरंजक होते हुए भी कठिनतम है। शब्दों के अर्थ में भाषा के विकास के अनुसार देश-काल की परिस्थितियों में साहाय्य से परिवर्तन होता रहता है। इस परिवर्तन के अनेक कारण होते हैं।

ध्वनि, अर्थ, वाक्य, भौगोलिक, व्यापारिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि

अनेक सहकारी कारण होते हैं और इन कारणों में भी सदा परिवर्तन होता रहता है।

शब्दों की व्युत्पत्ति का कार्य महत्त्वपूर्ण कार्य है। इसमें विद्वत्ता, प्रतिभा एवं पाण्डित्य की आवश्यकता होती है; क्योंकि कुछ शब्द सामान्यतः देखने पर असमान होते हुए मूलतः समान होते हैं; उदाहरणार्थ—अंग्रेजी का Bishop और उसका समानार्थक फ्रेंच evegue शब्द, जिसमें एक वर्ण की भी समानता नहीं है, किन्तु मूलतः ये दोनों ही शब्द ग्रीक भाषा के episkops से उद्भूत हैं। इसी प्रकार संस्कृत का 'स्वसृ' शब्द और फारसी 'खाहर' शब्दों का मूल एक ही है।

कभी-कभी कुछ शब्द बाह्य रचना और ध्वनि की दृष्टि से समान होते हुए भी मूलतः असमान होते है; उदाहरण के लिए—

अंस =भाग	अंस =कंधा
संकर=शंकर,	संकर=मिश्रित,
सर =बाण,	सर =तालाब,
सुर =स्वर,	सुर =देवता,
सूर =सूर्य,	सूर =शूर,
काम =इच्छा,	काम =धंधा,

इसी प्रकार अंग्रेजी sound=स्वस्थ, sound=ध्वनि, और sound=तंग समुद्र, ये तीनों ही शब्द समान होने पर भी भिन्न-भिन्न शब्दों से निकले हैं। इसी प्रकार अर्थ और रूप में समान होते हुए भी निम्न शब्दों में परस्पर किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है :

हिन्दी	अरबी
कन्द=कन्द	कन्द=मिसरी
कफ=कफ	कफ=हथेली
कुल=वंश	कुल=समस्त[1]।

इस व्युत्पत्ति के कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होने के लिए अध्ययन-मनन की नितान्त आवश्यकता है; अन्यथा व्युत्पत्ति-क्षेत्र में अव्यस्था की सम्भावना है।

उपर्युक्त कठिनाइयों से बचने तथा व्युत्पत्ति को उचित रूप देने के लिए शब्द-व्युत्पत्ति के नियमों का निर्देश विद्वानों ने किया है, जिन्हें Law of Etymology कहा जाता है।

व्युत्पत्ति के नियम

(१) सर्वप्रथम व्युत्पत्ति-शास्त्र का नियम यह है कि व्युत्पत्ति कल्पित एवं मनमानी नहीं होनी चाहिए। शब्दों की व्युत्पत्ति अनुसन्धान पर आश्रित होनी

1. उपर्युक्त उदाहरण 'तुलनात्मक भाषा-विज्ञान' से उद्धृत हैं।

चाहिए। काल्पनिक उपन्यास की भाँति, इतिहास एवं वंशावली की कल्पना नहीं की जा सकती; उसी प्रकार शब्दों की व्युत्पत्ति करते समय आनुमानिक कल्पना से ही शब्द व्युत्पत्ति करने की अपेक्षा ऐतिहासिक परम्परा एवं प्रमाण के आधार पर ही व्युत्पत्ति करनी चाहिए।

(२) व्युत्पत्ति करते समय शब्द के जीवनक्रम का काल-क्रमानुसार विवेचन करना चाहिए। शब्द के इतिहास की जानकारी हो जाने पर भ्रम की सम्भावना नहीं रहती है; उदाहरण के लिए—हिन्दी का 'आज' शब्द है। इसका संस्कृत रूप 'अद्य' है। प्राकृतों में वही 'अज्ज' हुआ। अपभ्रंश में भी 'अज्ज' शब्द का प्रयोग होता रहा। किन्तु आज वही संयुक्त व्यंजन के अभाव में 'आज' हो गया है।

(३) शब्द व्युत्पत्ति करते समय केवल शब्द के बाह्य साम्य को ही महत्त्व नहीं देना चाहिए। उस पर ध्वनि-नियम भी लागू होने चाहिए। यदि कहीं ध्वनि-नियमों के अनुसार शब्द-परिवर्तन न हुआ हो, तो वहाँ अपवाद की भी व्यवस्था होनी चाहिए। उदाहरण के लिए, हिन्दी में साँप की व्युत्पत्ति संस्कृत के सर्प से मानी जाती है, किन्तु अनुनासिकता के लिए कोई समाधान नहीं है।

(४) दो भाषाओं में एक ध्वनि तथा एक अर्थ के शब्द पाकर ही बिना किसी विशिष्ट अध्ययन के शब्दों को सम्बद्ध नहीं मान लेना चाहिए। उदाहरण के लिए, अवधी का 'नियर' शब्द और अंग्रेजी का Near (नियर), अर्थ और ध्वनि की दृष्टि से समान होते हुए भी मूलतः दोनों में महान दूरी है।

(५) व्युत्पत्ति-कार्य के लिए सर्वाधिक महत्त्व ध्वनि-नियमों का है। ध्वनि-नियम सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक नहीं होते हैं। प्रत्येक भाषा में परिवर्तन व परिवर्द्धन अपनी परम्पराओं एवं प्रवृत्तियों के अनुसार होते हैं। अतः व्युत्पत्ति कार्य करते समय ध्वनि-नियमों का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

(६) व्युत्पत्ति-कार्य में शब्द के मूल का अनुसन्धान भी अपेक्षित है। शब्द के मूल की खोज करते सयय यह देखना आवश्यक है कि वह अपनी भाषा का है अथवा अन्य किसी भाषा का। जब दो शब्द अर्थ, रूप एवं ध्वनि में समान नहीं होते, उसी समय शब्द के सम्बन्ध में जानकारी होती है कि दोनों ही शब्द मूलतः भिन्न हैं।

(७) शब्द व्युत्पत्ति करते समय जिस प्रकार हमारा विशिष्ट ध्यान शब्द के रूप तथा ध्वनि पर रहता है, उसी प्रकार हमारा ध्यान शब्द के अर्थ पर भी रहना चाहिए, क्योंकि रूप की समानता से अर्थ की समानता महत्त्वपूर्ण होती है। इस पर गोपथ ब्राह्मण, निरुक्त आदि ग्रन्थों का प्रामाण्य भी विद्यमान है—

रूपसामान्यादर्थसामान्यं नेदीयः।[1]

---

1. गोपथ ब्राह्मण, १/१/२६।

अर्थनित्यः परीक्षेत ।[1]

अर्थसामान्यं बलीयः शब्द सामान्यात् ।[2]

अर्थ के विकास का शब्द की व्युत्पत्ति पर अधिक प्रभाव पड़ता है। केवल शाब्दिक समानता ही शब्द-व्युत्पत्ति के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं है—

Sound etymology has nothing to do with sound.[3]

उपर्युक्त नियम शब्द-व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण नियम हैं। इन नियमों की उपेक्षा होने पर विचित्र-विचित्र व्युत्पत्तियाँ देखने को मिलती हैं। डा० मंगलदेव ने एक संस्कृत के धुरन्धर विद्वान् की कुछ व्युत्पत्तियों के उदाहरण दिये हैं जो निम्नलिखित हैं :

(१) अदबः (आदाब)—'सत्कारे' दब उपतापोऽसत्कार इति न दबोऽसत्कारः =अदबः सत्कार ।

(२) अजायब=अजातपूर्वः ।

(३) हाजिर =इहाजिरः । इह इहैवाजिरं निवासोयस्य सः उपस्थिते ।

(४) बिलायत=(पुं०) एतन्नाम्ना प्रसिद्धे देशे। लातीति लायः आदाता तस्यभावो लायता विशिष्टा लायता गुणग्राहिता यत्र ।[4]

इसी प्रकार किसी दूसरी भाषा के शब्दों को प्रमाणाभाव में अपनी भाषा का सिद्ध नहीं करना चाहिए—

जापान=जयप्राण
स्वीडन=सुयोधन
अरब =आर्यवाह
स्कैण्डिनेविया =स्कन्ध निवासी
इन्तकाल=अन्तकाल
वालिद=पालक
Mister=मित्र[5] ।

शब्द-व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में स्वेच्छाचारिता के उदाहरण प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलते हैं; उदाहरण के लिए—शतपथ ब्राह्मण (७।५।१।२२) में 'उलूखल' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है :

'उरु मे करदिति तदुरुकरमुरुकरं ह वै तदुलूखलमित्याचक्षते' ।

---

1. निरुक्त, २/१ ।
2. दुर्गाचार्य टीका, २/१ ।
3. मक्समूलर उद्धृत तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, पृ० १६८ ।
4. तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, पृ० १६८ ।
5. वही, पृ० १६९ ।

अर्थात् इससे मेरी धन-धान्य एवं सम्पत्ति की वृद्धि हो।

मनुस्मृति में ५/५५ में 'मांस' शब्द की व्युत्पत्ति भी दर्शनीय है—

मां स भक्षयितामुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः॥

अर्थात् जिसका मांस मैं खा रहा हूँ वह मेरे मांस का भक्षण करेगा। इस अभिप्राय से प्रयुक्त 'मां स' मांस शब्द की रचना हुई।

निरुक्तकार ने इस प्रकार की व्युत्पत्तियों का उपहास करते हुए शाकटायन के सम्बन्ध में लिखा है :

अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारे पदेभ्यः पदेतरार्धान् संचस्कार शाकटायन।
एते कारितं च यकारादि चान्तकरणमस्तेः शुद्धं च सकारादिं च।

(निरुक्त १/१३)

व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में संस्कृत वैयाकरणों का कथन है—संज्ञाओं में पहले धातु तदनन्तर प्रत्यय पर विचार करें। प्रत्ययों में ककारादि अनुबन्ध, गुणप्रतिषेध आदि पर विचार कर व्युत्पत्ति करनी चाहिए। इसी प्रकार उणादिकों में भी—

संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे।
कार्याद्विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु॥

(उत्तर कृदन्त, सिद्धान्त कौमुदी)

आज के इस भाषा-वैज्ञानिक युग में व्युत्पत्तियाँ कल्पित एवं स्वेच्छाचारिता के आधार पर नहीं हो सकती हैं, अतः उपर्युक्त नियमों, प्रमाणों और इतिहास आदि की जानकारी अपेक्षित है। उसी स्थिति में शब्द की प्रमाणिक व्युत्पत्ति सम्भव है।

प्रश्नावली

१. भाषा का प्रारम्भ वाक्यों से होता है, विचार कीजिए।
२. वाक्य कितने प्रकार के होते है ? सोदाहरण विवेचन कीजिए।
३. रूप-परिवर्तन (Morphological Change) किसे कहते हैं ? उदाहरण सहित बताइए।
४. रूपविकार के कारणों का स्पष्ट रूप से उल्लेख कीजिए।
५. Law of Etymology पर विस्तार से विचार कीजिए।

(आ० वि० वि०, १९५५, ५६, ६०)

षष्ठ अध्याय

ध्वनि-विज्ञान

- ध्वनि, ध्वनिग्राम
- ध्वनि-यन्त्र
- ध्वनियों का वर्गीकरण
- ध्वनि-समूह
- ध्वनि-गुण
- ध्वनि-परिवर्तन और उसके कारण
- ध्वनि-परिवर्तन की दिशाएँ
- ध्वनि-नियम
- प्रश्नावली

ध्वनि-विज्ञान

ध्वनि-विज्ञान (Phonetics)

ध्वनि-विज्ञान भाषा-विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसका सम्बन्ध भाषा के भौतिक आधार ध्वनि से है। ध्वनि विज्ञान में मानव मुख से निःसृत ध्वनियों का सर्वाङ्गीण विवेचन किया जाता है। भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत जितना इस क्षेत्र में कार्य हुआ है, उतना किसी अन्य क्षेत्र में नहीं।

ध्वनि शब्द संस्कृत का है। संस्कृत में 'ध्वनि शब्दे' एक धातु है; उसी धातु से ध्वनि शब्द निर्मित हुआ है। सामान्यतः कर्णगोचर कोई भी शब्द ध्वनि संज्ञा से अभिहित किया जाता है, किन्तु भाषा-विज्ञान में इस प्रकार की किसी ध्वनि की अपेक्षा नहीं है, जिसका सम्बन्ध भाषा से न हो, जो सार्थक न हो। इस प्रकार सीमित अर्थ में भी ध्वनि के दो भेद होते हैं :

(१) भाषा-ध्वनि—(Speech Sound)
(२) ध्वनिग्राम—(Phoneme)

भाषा-विज्ञान में ध्वनि शब्द को सामान्य ध्वनियों से भिन्न बताने के लिए भाषा-ध्वनि (Speech-Sound) कहा जाता है। विभिन्न विद्वानों ने इस ध्वनि की परिभाषाएँ इस प्रकार की हैं :

प्रो० डेनियल जोंस के शब्दों में —

"ध्वनि मनुष्य के विकल्पपरिहीन नियत स्थान और निश्चित प्रयत्न द्वारा उत्पादित और श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा अविकल्प रूप से गृहीत शब्द-लहरी है।"[1] इस प्रकार ध्वनि शब्द से भाषा-विज्ञान में मानव मुख से निःसृत ध्वनियों को ही ग्रहण किया जाता है, अन्य अव्यक्त अस्पष्ट ध्वनियों को नहीं—इस ध्वनि में वर्ण, शब्द और भाषा सभी का अन्तर्भाव हो जाता है।[2]

डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने ध्वनि की परिभाषा इस प्रकार की है :

---

1. सामान्य भाषा-विज्ञान, पृ० ४१।
2. भाषा-रहस्य, पृ० २०२।

A Speech-Sound is "a sound of definite acoustic quality pronuced by the organs of speech. A give speech-sound is incapable of valiations."[1] अर्थात् मानव के ध्वनियंत्र द्वारा उत्पादित और निश्चित श्रावक गुणों से युक्त ध्वनि को ही भाषा-ध्वनि या भाषण-ध्वनि कहा जाता है।

डा० भोलानाथ तिवारी भाषा-ध्वनि (Speech-Sound) की परिभाषा इस प्रकार करते हैं :

"भाषा-ध्वनि वह ध्वनि है जिसे मनुष्य अपने मुँह के नियत स्थान से निश्चित प्रयत्न द्वारा किसी ध्येय को स्पष्ट करने के लिए उच्चरित करे और श्रोता जिसे उसी अर्थ में ग्रहण करे।"[2]

ध्वनि-ग्राम—ध्वनि-श्रेणी या ध्वनि-मात्र, ध्वनि-तत्त्व

उपर्युक्त समस्त शब्द एक ही भाव के द्योतक हैं। "ध्वनि-तत्त्व (Phoneme) मिलती-जुलती अनेक भाषा-ध्वनियों की प्रतीक वह ध्वनि है, जिसका खण्ड न हो सके।"[3] इस प्रकार किसी भाषा-विशेष में कुछ ध्वनियों का अपना परिवार होता है जो अपनी विशिष्ट विशेषताओं के कारण परस्पर सम्बद्ध रहती हैं। उन्हें ध्वनिग्राम कहते हैं। ध्वनिग्राम में अनेक ध्वनियाँ होती हैं। उदाहरण के लिए कमरा, काल, कपड़ा, कूप, कोण, कृषि, कमल, कुसुम, कीड़ा, कुत्ता आदि की प्रारम्भिक ध्वनि 'क्' है। प्रत्येक शब्द में 'क्' की अपनी एक विशिष्ट ध्वनि है तथा प्रत्येक 'क्' के श्रावक गुण (Acoustic quality) भी अपने-अपने हैं, किन्तु समस्त ध्वनियों के लिए केवल एक ध्वनिग्राम है, एक परिवार है। जिस प्रकार परिवार के प्रत्येक व्यक्ति का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और व्यक्तित्व होता है, किन्तु वे अपने परिवार से बँधे रहते हैं—उसी प्रकार एक ध्वनिग्राम में भी अनेक भाषा-ध्वनियों का अस्तित्व रहता है। इन समस्त ध्वनियों का अध्ययन ध्वनिग्राम (Phonemics) में किया जाता है। पाइक ने ठीक ही लिखा है कि "ध्वनि-विज्ञान कच्चा माल एकत्र करता है और ध्वनिग्राम-विज्ञान उसे पकाता है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा की न्यूनतम इकाई ध्वनिग्राम है। एच० ए० ग्लीसन के अनुसार, "ध्वनिग्राम भाषा के उच्चरित स्वरूप की वह न्यूनतम विशेषता है जिसके द्वारा एक कही गयी बात का कही जाने वाली किसी अन्य बात से अन्तर स्पष्ट किया जा सकता है—We may define a phoneme as a minimum feature of the expression system of a spoken language by which one thing that may by said is distinguished from any other

---

1. Introduction to the Bengali Phonetic Reader
2. भाषा विज्ञान, पृ० १६०।
3. भाषा-विज्ञान—भोलानाथ तिवारी, पृ० १६०

thing which might have been said"[1] ब्लूमफील्ड का कहना है कि ध्वनिग्राम विशिष्ट ध्वनि-रूप की लघुतम इकाई है : "A minimum unit of distinctive sound feature of Phoneme," किन्तु मेरियापाई एवं फ्रेंक ग्यानोर के अनुसार ध्वनिग्राम प्रासंगिक ध्वनि विशेषताओं का न्यूनतम संघात है।[2] डेनियल जोन्स के अनुसार, **"ध्वनिग्राम किसी भाषा में उन ध्वनियों का परिवार है जो अपनी आधार-भूत विशेषता के कारण सम्बद्ध हैं और उनमें से प्रत्येक की स्थिति शब्द में इस ढंग से होती है कि कोई अन्य ध्वनि दूसरी ध्वनि का स्थान नहीं ले सकती :**

"A Phoneme is a family of sounds in a given language which are related in character and are used in such a way that no one member ever occurs ig a word in the same Phonetic context as any other member." K. L. Pike के अनुसार, **"ध्वनि ग्राम किसी भाषा-विशेष की ध्वनियों में विश्लेषण करने के उपरान्त प्राप्त की हुई सार्थक इकाई है—**

"The Phoneme is one of the significant units of sounds arrived at for a particular language by the analytical procedures developed from the basic premises previously presented."

ध्वनि-विज्ञान में ध्वनियों के उच्चारण, रचना और अर्थ पर विचार किया जाता है। इसलिए ध्वनि-विज्ञान के दो प्रमुख भेद किये जा सकते हैं—एक ध्वनि शिक्षा (Phonology) और दूसरा, ध्वन्यालोचन ध्वनि-विकार (Phonotics)। **ध्वनि-शिक्षा** में ध्वनियों का विवेचन, वर्गीकरण, इतिहास और ध्वनि-सिद्धान्त की शिक्षा होती है तथा **ध्वन्यालोचन** में ध्वनि विकारों और परिवर्तनों के सिद्धान्तों का विवेचन, परीक्षण तथा उनका इतिहास समाविष्ट होता है—

"The whole science of speech sounds is included under phonology, which includes the history and theory of sound changes; the term Phonetics excludes this, being concerned mainly with the analysis and classification of actual sound."[3]

ध्वनियन्त्र

ध्वनि-शिक्षा के प्रधान अंग उच्चारण-स्थान और प्रयत्न हैं। स्थान और प्रश्नों का उच्चारणवयवों से विशेष सम्बन्ध होता है। इसलिए ध्वनि के आवश्यक एवं अनिवार्य उपकरण उच्चारण के अवयव होते हैं। इन उच्चारणावयवों को ध्वनियन्त्र भी कहा जाता है। ध्वनियन्त्र को सुविधा के लिए चार भागों में बाँटा जा सकता है :

---

1. **An Introduction to Descriptive Language** p. 9.
2. **Dictionary of Linguistics**—Mario A. Pai and Frank Gaynor, p. 167.
3. **History of Language**—H. Sweet, p. 12.

(१) आस्य अथवा वाग्यन्त्र (Mouth Cavity)
(२) नासिकाविवर (Nasal Cavity)
(३) कण्ठमार्ग (Pharynx)
(४) स्वरयन्त्र (Larynx)

इन अंगों के अतिरिक्त फेफड़ों (Lungs) और श्वासनली (Wind-Pipe) का भी ध्वनि-शिक्षा में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

ध्वनियाँ श्वास-क्रिया पर निर्भर रहती हैं। हम मुख या नासिका के द्वारा श्वास को अन्दर फेफड़ों तक ले जाते हैं और उसके बाद उसे निकाल देते हैं। इसी श्वास (Inhalation) और प्रश्वास (Exhalation) क्रिया से ध्वनि-उच्चारण होता है।

(१) हमारे शरीर के अन्दर तत्त्वों के जाने के दो मार्ग हैं। एक श्वास नली (Wind-Pipe) और दूसरा भोजन नली (Food Passage)। श्वास-नलिका का कार्य श्वास को फेफड़ों तक ले जाना है तथा उसे मुख-नासिका विवर से पुनः बाहर निकाल देना है। भोजन नलिका से भोजन, जल आदि हमारे उदर तक पहुँचता है।

(२) ये दोनों ही अवयव श्वास-प्रश्वास क्रिया में सहायक हैं और इन्हीं की सहायता से ध्वनि-उच्चारण-क्रिया होती है।

(३) अभिकाकल या स्वरयन्त्र मुखावरण (Epiglottis)—यह भोजन नलिका के विवर के साथ श्वास नलिका की ओर झुकी हुई एक छोटी-सी जीभ है। भोजनादि के समय नीचे की ओर झुककर-श्वास नलिका को बन्द कर देती है।

(४) स्वरयन्त्र (Larynx)—यह ध्वनि उत्पन्न करने वाला प्रधान अवयव है। इसकी स्थिति श्वास-नलिका के ऊपरी भाग में अभिकाकल के अधोभाग में होती है। यहाँ पर श्वास नलिका कुछ मोटी हो जाती है और गर्दन के बाहर उसका कुछ अंश निकला रहता है। इसे कण्ठपिटक भी कहते हैं।

(५) स्वरतन्त्री (Vocal Chords)— स्वरयन्त्र में पतली झिल्ली के दो पर्दे से होते हैं, जिनमें बहुत महीन-महीन तन्त्रियाँ-सी होती हैं। इन्हें स्वरतन्त्री कहते हैं। झिल्लियाँ भीतर की हलकी-सी श्वास-प्रक्रिया से हटकर अलग हो जाती हैं और फिर मिल जाती हैं। स्वरतन्त्रियों की चार स्थितियाँ हो सकती हैं :

(१) दोनों पर्दे एक दूसरे से अलग पड़े रहते हैं और मध्य में श्वास के आने-जाने का मार्ग खुला रहता है। (२) दोनों पर्दे एक दूसरे के साथ टक्कर खाकर श्वास में स्पन्दन सा पैदा कर देते हैं, जिससे घोष या नाद की सृष्टि होती है। कण्ठपिटक पर हाथ रखकर इस कम्पन का अनुभव किया जा सकता है। (३) दोनों पर्दे एक क्षण के लिए एक दूसरे के साथ जुड़कर खड़े हो जाते हैं जिससे श्वास निकलने में थोड़ी देर के लिए बाधा उपस्थित हो जाती है। यह स्थिति अधिक देर तक नहीं रह सकती, क्योंकि इससे दम घुटने लगेगा। (४) दोनों पर्दे

एक दूसरे के साथ जुड़ जाते हैं, परन्तु श्वास के आने-जाने के लिए थोड़ा-सा मार्ग खुला रहता है। इन चार स्थितियों में मानवीय ध्वनियों के भिन्न-भिन्न स्वरूप हो जाते हैं। स्वरतन्त्रियों के मध्य में जो खुला मार्ग है उसे **काकल या स्वरयन्त्र मुख** कहते हैं। इसे अंग्रेजी में Glottis कहते हैं।

(६-७) **अलिजिह्व-कौआ-घंटी (Uvula)**—यह जिह्वा के आकार का मांस का एक छोटा-सा भाग है। यह मुखविवर तथा नासिकाविवर के सन्धि-स्थल पर होता है। यह नासिकाविवर में जाने वाली वायु का नियन्त्रण रखता है। इस अलिजिह्व की तीन अवस्थाएँ होती हैं—(१) तन जाने से नासिकाविवर का मार्ग बिलकुल बन्द कर देता है जिससे श्वास-वायु मुँह से आती-जाती है। (२) बिलकुल ढीला पड़ जाता है और मुखविवर को बन्द कर देता है जिससे श्वास-वायु एक नासिकाविवर से आती-जाती है। साँस लेने की स्वाभाविक अवस्था में अलिजिह्व की यही स्थिति रहती है। (३) इस स्थिति में अलिजिह्व न बिलकुल तनकर खड़ा होता है और न ढीला पड़कर नीचे गिर जाता है। यह उसकी मध्यम स्थिति है, जिसके कारण श्वास-वायु मुखविवर और नासिकाविवर दोनों से आती-जाती है।

(८-९) **नासिकाविवर-मुखविवर**—ये दोनों प्रत्यक्षतः दृष्टिगत होते हैं और श्वास-प्रश्वास वायु के प्रमुख स्थान व साधन हैं। मुखविवर के अन्दर ध्वनि-उत्पादन के महत्त्वपूर्ण अवयव हैं। उन सभी अवयवों का सामूहिक नाम वाग्यन्त्र (Mouth Cavity) है।

(१०-१३) **तालु (Palate)**—मुखविवर में ऊपर की ओर इसकी स्थिति है। इसके कण्ठ-स्थान और दाँतों के मध्य चार भाग हैं—वर्त्स,[४] कठोर[६] तालु, कोमल[७] तालु, मूर्द्धा[५]। कोमल तालु कण्ठ के साथ जुड़ा हुआ कोमल भाग है—कभी-कभी इसी को कण्ठ का नाम भी दिया जाता है।

तालु में ऊपर का भाग मूर्धा कहलाता है तथा नीचे की ओर मसूढ़ों के ऊपर का भाग तालु है। तालु के नीचे का मांस जो दाँतों के साथ सम्बद्ध है, वर्त्स या वर्स्व (alveole, Teeth ridge) कहा जाता है। इसके नीचे का भाग दाँत है।

(१४) **जिह्वा (Tongue)**—मुख में नीचे की ओर महत्त्वपूर्ण अवयव जिह्वा है। यह अत्यन्त कोमल और गतिशील अवयव है। जिह्वा के विभिन्न रूपों के कारण यह अनेक प्रकार की ध्वनियाँ करने में समर्थ है। जिह्वा के पाँच भाग किये जा सकते हैं :

(१) जिह्वा-मूल (Root)
(२) जिह्वा-पश्च (Back-dorsum)
(३) जिह्वा-मध्य (Middle)
(४) जिह्वा-अग्र (Front)
(५) जिह्वा-नोंक (Tip, apex)

(१५) ओष्ठ—ओष्ठ भाषण क्रिया का सहायक, किन्तु महत्त्वपूर्ण अंग है। यह दो हैं :

(१) अधरोष्ठ।

(२) उपर्योष्ठ।

इनकी भी तीन अवस्थाएँ बन सकती हैं : एक —दोनों ओष्ठ मिलकर एक दूसरे से सम्बद्ध होकर जुड़ जाते हैं। दूसरी अवस्था में अधरोष्ठ ऊपर वाली दंतपंक्ति से मिल जाता है। तीसरी अवस्था में दोनों ओष्ठ गोलाकर रूप धारण कर आगे की ओर उभड़ आते हैं।

ध्वनियों का वर्गीकरण

भारतीय वैयाकरणों ने ध्वनियों का स्वर एवं व्यंजन नामक एक वर्गीकरण किया है। उनके अनुसार स्वरों के अभाव में व्यंजनों का उच्चारण सम्भव नहीं है। किन्तु कभी-कभी कार्त्स्न्यन्, धार्ष्ट्य, तार्क्ष्य आदि ध्वनि-समूह भी मिल जाते हैं, जिनमें स्वरों की अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार के व्यंजन जिनमें स्वर नहीं हैं, परस्पर संयुक्त हो संयुक्त ध्वनियों का निर्माण करते हैं। पाणिनि मुनि ने सम्पूर्ण ध्वनि-समूह को १४ सूत्रों में आबद्ध कर दिया है, इन्हें माहेश्वर सूत्र कहते हैं :

(१) अइउण् (२) ऋलृक् (३) एओङ् (४) ऐऔच् (५) हयवरट् (६) लण् (७) ञमङणनम् (८) झभञ् (९) घढधष् (१०) जबगडदश् (११) खफछठथचटतव् (१२) कपय् (१३) शषसर् (१४) हल्। इन सूत्रों में अन्तिम व्यंजन हलन्त, अर्थात् स्वर-रहित होता है। इन सूत्रों से प्रत्याहार बनाकर सम्पूर्ण ध्वनि-समूह का वर्गीकरण किया गया है।

सामान्यतः ध्वनियों का एक वर्गीकरण—(१) स्वर (Vowels) और (२) व्यंजन (Consonants) के आधार पर किया जाता है। इन दोनों का अन्तर क्या है? स्वर बिना किसी सहायता के उच्चरित होकर अक्षर बना रह सकता है, किन्तु व्यंजन के उच्चारण के लिए स्वर की अपेक्षा रहती है। व्यंजन स्वर के अभाव में अक्षर भी बना नहीं रह सकता। यह प्राचीन मान्यता है, किन्तु इस मान्यता में सुधार की आवश्यकता है, क्योंकि सामान्यतः व्यंजनों का भी स्वतन्त्र उच्चारण सम्भव है; जैसे— स्, श्, ल् आदि; इसलिए आधुनिक ध्वनि-विज्ञान में स्वर एवं व्यंजन की परिभाषा इस प्रकार है—"**स्वर वह ध्वनि है जिसके उत्पादन में मुखविवर खुला रहता है, जिससे श्वासवायु बिना रुकावट के बाहर निकल जाती है**—A sound produced with a vibration of the vocal cords by the unobstructed passage of air through the oral cavity."[1] "**व्यंजन** वह ध्वनि है जिसके उत्पादन में श्वासवायु के निःसरण में किसी-न-किसी प्रकार का गतिरोध पैदा किया जाता है—A sound produced by an obstruction or blocking or some

---

1. **Dictionary of Lingustics**, p. 229.

other restriction of the free passage of the air, exhaled from the lungs, through the oral cavity."[1]

ध्वनियों का वर्गीकरण दो तत्वों पर आधारित है—(१) 'स्थान' और (२) प्रयत्न। ध्वनियों के उच्चारण में ध्वनियन्त्र के जिन अवयव-विशेषों से सहायता ली जाती है, उन अवयवों को उन ध्वनियों का 'स्थान' कहा जाता है और ध्वनि-यन्त्र के विभिन्न अवयवों द्वारा इन ध्वनियों की उत्पत्ति में जो योगदान किया जाता है, उसे 'प्रयत्न' कहा जाता है। प्रयत्न के भी दो अवान्तर भेद हैं—(१) आभ्यन्तर, और (२) बाह्य। मुखविवर अथवा वाग्यन्त्र में होने वाले समस्त प्रयत्न आभ्यन्तर कहलाते हैं और स्वरयन्त्र आदि में होने वाले प्रयत्न बाह्य कहलाते हैं।

ध्वनियों का स्थान के अनुसार वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है :

कंठ—इन ध्वनियों के उच्चारण में कंठ का स्पर्श होता है। इन ध्वनियों के उच्चारण के समय जिह्वा का कोमल तालु से स्पर्श होता है—

'अकुह-विसर्जनीयानां कण्ठः'—अ, क, ख, ग, घ, ह तथा विसर्जनीय (:) ये ध्वनियाँ कठ से बोली जाती हैं। (अ के अन्तर्गत 'आ' भी समाहित है)।

तालव्य—जिनके उच्चारण में तालु का स्पर्श होता है, इन ध्वनियों के उच्चारण के समय जिह्वाग्र कठोर तालु का स्पर्श करता है—

'इचुयशानां तालु'—इ, च, छ, ज झ, य तथा श का उच्चारण-स्थान तालु है।

मूर्धन्य—जिनके उच्चारण में कठोर तालु (मूर्धा) का स्पर्श होता है—'ऋटुरषाणां मूर्धा' ऋ, ट, ठ, ड, ढ, र तथा 'ष' का उच्चारण-स्थान मूर्धन्य है।

दन्त्य—जिन ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा दाँतों का स्पर्श करती है—'लृतुलसानां दन्ता' लृ, त, थ, द, ध, ल तथा स दाँतों से उच्चरित होते हैं।

ओष्ठ्य-द्वयोष्ठ्य—जिन अक्षरों के उच्चारण में दोनों ओष्ठों का प्रयोग होता है—'उपूपध्मानीयानामोष्ठौ' उ, प. फ. ब, भ तथा ≍प≍फ (उपध्मानीय) ओष्ठों से बोले जाते हैं।

नासिका—जिन ध्वनियों का उच्चारण नासिका से किया जाता है—ञ म ङ ण नानां नासिका च—ञ, म, ङ, ण तथा न ध्वनियाँ नासिका के साहाय्य से बोली जाती हैं।

कण्ठ तथा तालु—'एदैतोः कण्ठतालु' ए, ऐ ध्वनियाँ कण्ठ तथा तालु से बोली जाती हैं।

कण्ठ तथा ओष्ठ—'ओदौतोः कण्ठोष्ठम् ओ, औ ध्वनियाँ कण्ठ तथा आष्ठ से बोली जाती हैं।

---

1. **Dictionary of Lingustics, p. 46.**

दन्त्योष्ठ्य—जिन ध्वनियों के उच्चारण में ऊपर के दाँत तथा नीचे के ओष्ठ्य का प्रयोग होता है—'वकारस्य दन्तोष्ठम्' 'व्' की ध्वनि दाँत और ओष्ठ से होती है।

जिह्वामूलीय—जिन ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा के मूल का स्पर्श होता है—जिह्वामूलीयस्य।

जिह्वा मूलम—क≍ख≍ अर्थात् क, ख, ग आदि ध्वनियाँ जिह्वा के मूल से बोली जाती हैं।

प्रयत्न के आधार पर वर्गीकरण

प्रयत्न के मुख्यतः दो भेद हैं—**आभ्यन्तर** और **बाह्य**। "आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्नों का सम्बन्ध मुखविवर के भीतरी और बाहरी भाग से है। मुखविवर के भीतर (ओष्ठ्य से कंठ तक) जो प्रयत्न किये जाते हैं, वे **आभ्यन्तर** कहलाते हैं और कंठ के बाद (नीचे) जो प्रयत्न होते हैं, वे **बाह्य** कहलाते हैं।"

आभ्यन्तर प्रयत्न के अनुसार स्वरों के चार भेद होते हैं—संवृत, अर्द्धसंवृत, अर्द्धविवृत और विवृत—अग्र, मध्य, पश्च। इसी प्रकार व्यंजनों के भी आठ भेद होते हैं—स्पर्श, स्पर्शसंघर्षी, संघर्षी, अनुनासिक, पार्श्विक, लुंठित, उत्क्षिप्त और अर्द्धस्वर।

संवृत-स्वर—मुखद्वार के संकुचित होने पर जो स्वर निकलते हैं, उन्हें संवृत स्वर कहते हैं; जैसे—इ, ई और उ, ऊ।

अर्द्ध संवृत-स्वर—जब मुखद्वार अर्ध संकुचित होता है, तब जो स्वर निकलते हैं, उन्हें अर्द्ध संवृत-स्वर कहते हैं, जैसे—ए और ओ।

अर्द्ध विवृत-स्वर—जब मुखद्वार आधा खुला होता है तब जो स्वर निकलते हैं उन्हें अर्द्ध विवृत-स्वर कहते हैं, जैसे—ऐ और औ।

विवृत-स्वर—मुख द्वार जब पूर्णतः खुला होता है उस समय जो स्वर-ध्वनियाँ उच्चरित होती हैं, उन्हें विवृत-स्वर कहते हैं; जैसे—अ, आ।

स्वरों के उच्चारण में जीभ का कभी अग्र, कभी मध्य, कभी पश्च भाग उठता है। इसके अनुसार भी स्वरों का वर्गीकरण किया जाता है; जैसे—अग्रसर ई, ए, ए; मध्य स्वर अ; और पश्च स्वर आ, ऊ, और ओ हैं।

स्पर्श व्यंजन—जब मुखद्वार को बन्द कर खोलते हैं, परिणामस्वरूप हवा उच्चारण-स्थानों को स्पर्शमात्र करती है, उस समय मुख से निकलने वाली ध्वनियाँ क, ख, ग, घ, ट, ठ, ड, ढ, त, थ, द, ध, प, फ, ब, भ, **स्पर्श व्यंजन** कहलाती हैं।

स्पर्श संघर्षी—मुखद्वार को बन्द करके खोलने पर वायु उच्चारण-स्थानों से घर्षण करती चलती है, उस समय जो ध्वनियाँ निकलती हैं, उन्हें स्पर्श संघर्षी कहते हैं; जैसे—च, छ, ज, झ।

संघर्षी—मुखद्वार के अत्यधिक संकुचित हो जाने पर हवा घर्षण करती हुई और शीत्कार की ध्वनि के साथ निकलती है, उन ध्वनियों को संघर्षी ध्वनि कहते हैं; जैसे—फ, ब, स, ज, ख, ग, ह।

अनुनासिक—जब मुखद्वार बन्द करके खोला जाता है, उस समय नासिका-विवर भी खुला रहता है और ध्वनियाँ नासिका के सहयोग से उच्चरित होती हैं; जैसे—ञ्, म्, ङ्, ण्, न्।

पार्श्विक—मुखद्वार बीच में ही बन्द हो जाने पर तथा वायु के मुख से निकल जाने पर उच्चरित होने वाली ध्वनि पार्श्विक ध्वनि कहलाती है; जैसे—ल।

लुंठित—जब मुखद्वार जिह्वा के अग्र भाग से दो-तीन बार शीघ्र ही खुलता और बन्द होता है, उस समय उच्चरित होने वाली ध्वनि लुंठित ध्वनि कहलाती है; जैसे—'र'।

उत्क्षिप्त—जब जिह्वाग्र परिवर्तित होकर तालु का स्पर्श कर मुखद्वार को झटके से खोलता है, उस समय उत्पन्न होने वाली ध्वनि उत्क्षिप्त है; जैसे—ड, ढ।

अर्ध-स्वर—जिस ध्वनि के उच्चारण में मुखद्वार बहुत संकुचित हो जाता हैं; फिर भी वायु स्वर की भाँति बीच से निकल जाती है। उस समय उत्पन्न होने वाली, ध्वनि अर्धस्वर है; जैसे—य, व।

संस्कृत के आचार्यों ने इन ध्वनियों का पाँच वर्गों में विभाजन किया है—

स्पष्ट [पूर्णतः स्पर्श] 'कादयो मावसानाः स्पर्शाः क से लेकर म अक्षर-पर्यन्त जो ध्वनियाँ होती हैं उनको स्पष्ट या स्पर्श कहते हैं; क्योंकि इनमें जिह्वा कंठ से लेकर ओष्ठ तक अनेक स्थानों का स्पश करती है।

ईषत् स्पृष्ट—जहाँ वाणी ध्वनि-अवयवों का थोड़ा स्पर्श करती है, उसको ईषत् स्पृष्ट कहते हैं। ये ध्वनियाँ य, र, ल, व हैं।—'यणोयन्तस्था' यण [य, व, र, ल] को अन्तस्थ कहते हैं। इनका प्रयत्न ईषत् स्पृष्ट है। वर्तमान शब्दावली में इन्हें **'अर्द्ध स्वर'** कहते हैं। पाणिनि ने 'अन्तस्थ' कहा है क्योंकि इन ध्वनियों की स्थिति स्वर और व्यंजन के बीच की है।

ईषद् विवृत—दूर की ध्वनि में ईषद् विवृत प्रयत्न होता है। इन ध्वनियों को **'ऊष्म'** ध्वनि भी कहते हैं। 'शलउष्मण:' श, ष, स और ह ऊष्म ध्वनियाँ हैं तथा ये ईषद् विवृत प्रयत्न-जन्य ध्वनियाँ हैं। इन ध्वनियों के उच्चारण के समय मुखविवर बिलकुल खुला रहता है।

विवृत--जिस प्रयत्न में जिह्वा खुली रहती है, उसको विवृत प्रयत्न कहते हैं। 'अचः स्वराः' स्वरों को विवृत प्रयत्न के अन्तर्गत माना गाया है—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ।

संवृत—ह्रस्व का आभ्यन्तर प्रयत्न संवृत होता है। यह विवृत का उलटा है। विवृत का अर्थ है खुला तथा संवृत का अर्थ है बन्द। "संवृत प्रयत्न का व्याव-

हारिक उपयोग अधिक नहीं मिलता, क्योंकि मुखविवर यदि सर्वथा संवृत (बंद) ही रहे तो ध्वनियों का उच्चारण ही न हो सके।

बाह्य प्रयत्न के आधार पर ध्वनियों के ग्यारह भेद होते हैं—

(१) विवार, (२) संवार, (३) श्वास, (४) नाद, (५) अघोष, (६) घोष, (७) अल्पप्राण, (८) महाप्राण, (९) उदात्त, (१०) अनुदात्त, (११) स्वरित।

(१) विवर का अर्थ है खुलना। गला जब खुल कर ध्वनि करता है, उस समय जो ध्वनियाँ होती हैं, वे विवार ध्वनियाँ हैं, आर स्वरतन्त्रियाँ बन्द रहती हैं, उस समय जो ध्वनियाँ होती हैं वे (२) संवार कहलाती हैं।

(३) श्वास—निश्वास का निर्बाध रूप में चलना श्वास-प्रयत्न के अन्तर्गत आता है।

(४) नाद—स्वरतन्त्रियों के परस्पर मिलने पर जो कम्पन होता है, उस कम्पन से उत्पन्न ध्वनियाँ नाद कहलाती हैं।

(५) अघोष—श्वास का दूसरा नाम अघोष है। प्रत्येक वर्ग के प्रथम और द्वितीय वर्ण (क, ख, च, छ आदि) अघोष वर्ण हैं।

(६) घोष—नाद का दूसरा नाम घोष है। वर्ग के तृतीय, चतुर्थ और पंचम वर्ण (ग घ ङ, ज, झ, ञ, आदि) घोष वर्ण हैं।

(७) अल्पप्राण—थोड़ी वायु का प्रयोग जिन ध्वनियों में हो, वे अल्पप्राण ध्वनियाँ कहलाती हैं; जैसे—क, च, त, प आदि।

(८) महाप्राण—जिन ध्वनियों के उच्चारण में अधिक वायु का प्रयोग हो, वे महाप्राण ध्वनियाँ हैं, प्रत्येक वर्ग के द्वितीय और चतुर्थ वर्ण महाप्राण हैं; जैसे—ख, घ, छ, ठ आदि।

(९) उदात्त: से आशय आरोही स्वर से है।

(१०) 'अनुदात्त' का आशय अवरोही स्वर से है।

(११) स्वरित का अर्थ है जो स्वर न आरोही हो और न अवरोही।

उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का सम्बन्ध केवल स्वरों से है।

(१) पाणिनि व्याकरण के अनुसार बाह्य प्रयत्न के आधार पर ध्वनियों का वर्गीकरण इस प्रकार है—

घोष (Voiced)—ध्वनियों में समस्त स्वर तथा वर्गों के तृतीय, चतुर्थ और पंचम वर्ग, य, र, ल, व और ह। शेष ध्वनियाँ वर्ग के प्रथम, द्वितीय तथा श, ष, स वर्ग अघोष हैं। इस वर्गीकरण का संस्कृत वैयाकरणों ने इस प्रकार निर्देश किया है—खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च अर्थात् खर (ख, फ, छ, ठ, थ, घ, ह, त, क, प, श, ष तथा स इन वर्णों का बाह्य प्रयत्न विवार, श्वास तथा अघोष (Unvoic-

eal) होता है; यथा—हशः संवारा नादा घोषश्च हश, [ह, य, व, र, ल, ञ, य, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द] अर्थात् वर्गों के तृतीय, चतुर्थ, पंचम वर्ण तथा य, र, ल, व और ह ये **घोष** ध्वनियाँ हैं। जो ध्वनि उच्च स्वर से बोली जाती हैं वे **उदात्त** ध्वनि हैं, जो नीचे स्वर में बोली जाती हैं वे **अनुदात्त** ध्वनि हैं और जो दोनों के मिश्रण से बोली जाती हैं वह **मिश्रित** ध्वनि स्वरित हैं।

प्राण अन्दर से आने वाली श्वास को कहते हैं। एक प्रकार के वर्णों में साधारण प्रकार से उच्चारण किया जाता है, उन्हें अल्पप्राण कहते हैं तथा दूसरे प्रकार के वर्णों में विशेष प्राण के साथ उच्चारण किया जाता है, अतः उन्हें महाप्राण कहते हैं। **'वर्गाणां प्रथम, तृतीय, पंचमा यणश्च अल्पप्राणोः** वर्णों के प्रथम, तृतीय, पञ्चम तथा य, र, ल, व अल्पप्राण ध्वनियाँ हैं तथा 'वर्गाणां द्वितीय, चतुर्थ शलश्च महाप्राणः' वर्णों के द्वितीय, चतुर्थ तथा श, ष, स, ह ये महाप्राण ध्वनियाँ हैं। वर्णों का वर्गीकरण सामान्यतः पृष्ठ २०० पर दी हुई तालिका में दिखाया जा सकता है।

ध्वनि-समूह

भारोपीय काल की ध्वनियों का वर्गीकरण आज दुस्साध्य है, तथापि भाषा-वैज्ञानिकों ने निम्न भारोपीय ध्वनियों का उल्लेख किया है :

स्वर—अ (a), आ (a), ए (e), ओ (o), औ (o), अ (a), इ (i), ई (i), उ (u), ऊ (u),

ह्रस्वार्ध—अ (a)

ह्रस्व—अ (a) इ (i) उ (u) ए (e) ओ (o)

दीर्घ—आ (a) ई (i) ऊ (u) ए (e) ओ (o)

अ का उच्चारण स्पष्ट न होने के कारण इसे उदासीन (Neutral) स्वर कहते हैं।

स्वनन्त[1] वर्ण—भारोपीय मूल भाषा में कुछ स्वनन्त वर्ण भी थे, जो अक्षर

---

1. स्वनंत (Sonant) उन अनुनासिक और अन्तस्थ व्यंजनों को कहते हैं जो अक्षर रचना में स्वर का काम करते है। इन्हें आक्षरिक (Syllable) भी कह सकते हैं। समस्त वर्ण-समूह को दो वर्गों में बाँट सकते हैं—(१) स्वनन्त (Sonant) और (२) व्यंजन (Consonant)। आक्षरिक ध्वनि को स्वनन्त कहते हैं और उसके साथ अंग होकर रहने वाली ध्वनि को व्यंजन। इस प्रकार स्वनंत वर्ग में स्वर तो आ ही जाते हैं पर कुछ ऐसे व्यंजन भी आ जाते हैं जो स्वर के समान आक्षरिक होते हैं। स्वर तो सभी स्वनंत और आक्षरिक होते हैं पर व्यंजनों में कुछ ही ऐसे होते हैं, इसी से अधिक विद्वान् Sonant या Sonant Consonant के अर्थ में ही प्रयोग करते हैं। [सरल भाषा-विज्ञान पृ० २४६ से उद्धृत]

		ओष्ठ्य या दन्तोष्ठ्य	दन्त्य	वर्त्स्य या दन्तमूलीय	तालव्य	मूर्धन्य	कण्ठ्य	जिह्वामूलीय
व्यंजन	स्फोटक स्पर्श या							
	ईषद् विवृत स्पृष्ठ और घर्षक (ईषत्)							
स्वर	विवृत							

संस्कृत वर्णमाला का वर्गीकरण—

स्वर	समानाक्षर संध्यक्षर		अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ।
व्यंजन	स्पर्श	कण्ठ्य	क, ख, ग, घ, ङ,
		तालव्य	च, छ, ज, झ, ञ,
		मूर्धन्य	ट, ठ, ड, ढ, ण
		दन्त्य	त, थ, द, ध, न
		ओष्ठ्य	प, फ, ब, भ, म
	घर्षक	अन्तस्था	य, र, ल, व [ळ, ळह (वैदिक)]
		ऊष्मा	श, ष, स, ह

उपर्युक्त चित्रों के लिए हम डा० मंगल देव के आभारी हैं।

का कार्य करते थे; जैसे—M̥, n̥, r̥, i̥ नागरीलिपि में इन्हें म्, न्, ऋ, तथा लृ लिखा जाता है। म (M̥) न (n̥) आक्षरिक अनुनासिक व्यंजन हैं और ऋ (r̥) लृ (l̥) आक्षरिक द्रव्य अथवा अन्तस्थ व्यंजन हैं।

संध्यक्षर—अर्धस्वरों, अनुनासिकों और अन्य द्रववर्गों के साथ स्वर-संयोग से उत्पन्न अनेक संध्यक्षर या संयुक्ताक्षर भी उस मूल भारोपीय भाषा में मिलते हैं। इनकी संख्या बहुत है, उनमें से प्रमुख निम्न है :

ai al ei, ie, oi, an, au eu, ou, am, an, ar, at.

व्यंजन-स्पर्शवर्ण :

१—ओष्ठ्यवर्ण—प्, फ्, ब्, भ्, म् [P. Ph. v. bh, m.]
२—दन्त्य अथवा दन्तमूलीय—त्, थ्, द्, ध्, न् [T. Th. d. dh. n.]
३—कण्ठोष्ठ्य—कव् खव्, गव्, घव्, ङ्, [qw, wh, qw, qwh, n]
४—पश्चात् कण्ठ्य अथवा कण्ठ्य—क् ख् ग् घ् ङ् [g, qh, q, gh, n]
५—तालव्य[1] या पुरः कण्ठ्य—क्, ख्, ग्, घ्, ङ् [K, Kh, g, gh, n]

अर्द्ध स्वर—य (i) और व (u) होते हैं।

द्रववर्ण—अनुनासिक और अर्धस्वर वर्णों के अतिरिक्त दो वर्णद्रव भी भारोपीय भाषा में मिलते थे :

र् (r) और ल् (l)

सोष्मध्वनि—स (s) ज (z) ग (j) ह्व (v) ग् (घ्), त् (थ्), द् (ध्) उपर्युक्त सात सोष्म ध्वनियाँ मुख्य थीं।

भारोपीय भाषा-परिवार का प्राचीनतम अंश भारत-ईरानी वर्ग है। इसमें ईरानी वर्ग में अवेस्ता और भारतीय वर्ग में वैदिक ध्वनि-समूहों का प्रादुर्भाव हुआ है। इन दोनों ही भाषाओं में पर्याप्त साम्य है।

वैदिक ध्वनि-समूह—वैदिक ध्वनि-समूह में ५२ ध्वनियाँ हैं जिनमें १३ स्वर और ३९ व्यंजन हैं। इसका विस्तार से विवेचन हम भारोपीय परिवार की भाषाओं के वर्गीकरण प्रसंग में कर चुके हैं।

भारोपीय मूलभाषा एवं वैदिक संस्कृत भाषा में आगे लिखा अन्तर दृष्टिगोचर होता है।

---

1. ये तालव्य ध्वनियाँ संस्कृत के तालव्य घर्ष वर्णों से भिन्न थीं। यह तालव्य नाम इन्हें भाषा-विज्ञानियों ने दिया है। ये स्वनंत की तालव्य-ध्वनियों के समान न होकर कण्ठ्य-ध्वनियों के समान हैं।

वैदिक संस्कृत में भारोपीय मूलभाषा की अनेक ध्वनियों का अभाव हैं; जैसे—

(१) ह्रस्व ए (e) ओ (o) और अ (a)

(२) दीर्घ ए (e) ओ (o),

(३) संध्यक्षर el oi, eu, ou, ai, ei, oi, au, eu, ou

(४) स्वतन्त्र अनुनासिक व्यंजन, और

(५) नाद सौष्म ज् (z)।

वैदिक ध्वनियों में

(१) e, o के स्थान में a अ, o के स्थान में इ;

(२) दीर्घ ई (e) के स्थान में आ;

(३) संध्यक्षर ei, oi के स्थान में e, ए, eu, ou क स्थान पर ओ o और oz, oz के स्थान में भी e, o;

(४) r के स्थान पर ईर, ऊर, e के स्थान में r ऋ; और

(५) ai ei oi के स्थान में ai ऐ, au, eu, ou, के स्थान में au औ आता है। साथ ही जब ऋ के पीछे अनुनासिक आता है; ऋ का ऋं हो जाता है। अनेक कण्ठ्यवर्ण तालव्य हो गये हैं। मूल भारोपीय काल का तालव्य स्पर्श वैदिक में सौष्म् 'श' में रूपान्तरित हो गया है।

वैदिक ध्वनियों में सात मूर्धन्य व्यंजन और एक मर्धन्य 'ष' ये आठ ध्वनियाँ नवीन हैं।

वैदिक संस्कृत एवं लौकिक संस्कृत की ध्वनियाँ प्रायः समान हैं। वैदिक एवं लौकिक संस्कृत, पालि, प्राकृत ध्वनि समूहों का हम भाषाओं के वर्गीकरण नामक अध्याय में विस्तार से विवेचन कर चुके हैं।

ध्वनि-गुण

ध्वनियों के उच्चारण में उनमें वृद्धि होती है, परिणामस्वरूप उसमें विविधता, प्रभावात्मकता आती है। यही **ध्वनि-गुण** है। 'ध्वनियों में ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत तीन मात्राएँ होती हैं। ये मात्राएँ ध्वनियों को छोटा, बड़ा और बहुत बड़ा बनाती हैं। मात्राओं के साथ ध्वनियों में सुर भी होते हैं। स्वर-तन्त्रियों में चढ़ाव तथा उतार के कारण ऊँचा सुर, नीचा सुर या मध्यम सुर तीन प्रकार के सुर भो उत्पन्न होते हैं। कभी-कभी किसी ध्वनि में बल या प्राणशक्ति विशेष का प्रयोग किया जाता है। इसको उस ध्वनि पर बल का आघात या विशेष बल देना कहते हैं।"[1] इस प्रकार इन्हीं प्रभावों या बल देने का नाम ध्वनि-गुण है (Qualities या Modificasions) इस प्रकार के प्रभाव दो प्रकार के होते हैं—(१) मात्रा या परिमाण

---

1 अभिनव भाषा-विज्ञान, पृ० ९२

(Quantity या Degree या duration), (२) ध्वनि में बलाघात (Stress) या स्वराघात (Pitch) Accent। स्वराघात के भी तीन रूप हैं—(१) बलात्मक स्वराघात, (२) संगीतात्मक स्वराघात, (३) रूपात्मक स्वराघात।

मात्रा—ध्वनि के उच्चारण में जो समय लगता है, उसे उस ध्वनि की **मात्रा** कहते हैं। इस गुण का सम्बन्ध काल से है। जहाँ काल कम लगता है, वहाँ ह्रस्व और जहाँ काल अधिक लगता है वहाँ दीर्घ मात्रा मानी जाती है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार मात्रा काल तीन होते हैं—ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। उ के उच्चारण में जितना समय लगता है वह उसकी एक मात्रा अथवा ह्रस्व उ+उ=ऊ के उच्चारण में जितना समय लगता है वह उसकी दो मात्रा, तथा दीर्घ, उ+उ+उ=ऊ तीन उ के उच्चारण के बराबर जिसमें समय लगता है उसको प्लुत ध्वनि कहते हैं। इस प्रकार ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत का आधार उच्चारण का समय ही है। ह्रस्व मात्रा का चिह्न '।' दीर्घ मात्रा का चिह्न 'ऽ' प्लुत का चिह्न '३' होता है। प्लुत ध्वनियों का प्रयोग किसी को दूर से पुकारने में किया जाता है। 'ओ३म् में 'ओ' की ध्वनि प्लुत है। ए, ओ, ऐ, औ ये संयुक्त ध्वनियाँ हैं। ये मात्रा वाली ध्वनियाँ हैं। संगीत में मात्राओं की गणना सम्भव नहीं है। गायक आवश्यकतानुसार एक मात्रा को छह, सात, दस, बारह और बीस तक अपने आलाप में प्रस्तुत कर सकता है। "वैदिक मन्त्रों में तो १/४, १/२, ३/४ आदि मात्राओं की ध्वनियाँ भी पायी जाती हैं और सामवेद के वामदेव्यगान में तो किसी-किसी ध्वनि में ४, ५, ६ मात्राओं का भी समय लगता है। इस प्रकार हमारी ध्वनियाँ ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत भेद से भिन्न-भिन्न हो जाती हैं। वैदिक मन्त्रों का गान इन्हीं उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित सुरों में होता है। महाभाष्यकार ने सुर या वर्ण के द्वारा दुष्ट शब्द को उच्चारण करने वाले का दुष्ट शब्द ही संहार करता है ऐसा भी कहा है :

"दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग् वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥"

बल या बलाघात—बलाघात का सामान्य अर्थ है, किसी ध्वनि पर प्रभावशक्ति या जोर डालना। यह जोर शब्द-लहरियों के अधिक विस्तार के कारण पड़ता है। परिणामतः बलाघात से प्रभावित ध्वनि का उच्चारण अपेक्षाकृत अधिक ऊँचा होता है। मात्रा और बलाघात का सामान्य अन्तर यह है कि मात्रा में समय अधिक लगता है, उसमें जोर से बोलने का प्रश्न ही नहीं उठता। बलाघात में समय उतना ही लगता है, किन्तु ध्वनि पर जोर पड़ने से आवाज कुछ ऊँची हो जाती है। बलाघातयुक्त ध्वनि पर (।) यह चिह्न लगाया जाता है। बलाघात तीन प्रकार का होता है, उच्च, मध्य और निम्न। इसी के अनुसार ध्वनि में तीन बल होते हैं—सबल (Strong) समबल, (Medium) और निर्बल (Weak)।

स्वराघात तीन प्रकार का होता है :

(१) संगीतात्मक स्वराघात

(२) बलात्मक स्वराघात

(३) रूपात्मक स्वराघात

(१) **संगीतात्मक स्वराघात (Pitch Accent)**—संगीतात्मक स्वराघात का सम्बन्ध स्वरतन्त्रियों से होता है। संगीत के सप्त स्वर—सा, रे, ग, म, प, ध, नि तथा तीन सप्तक—मन्द्र, मध्य और तार प्रसिद्ध हैं। सभी संगीतात्मक स्वराघात पर निर्भर हैं। विभिन्न राज्यों में इन स्वरों को विशिष्ट चिह्नों से अंकित किया जाता है। वैदिक संस्कृत में भी स्वराघात का महत्त्व था। वैदिक स्वरों के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भेद थे। उदात्त से आशय उच्च स्वर, अनुदात्त से नीचा स्वर तथा स्वरित से समस्वर से था। उदात्त स्वर के नीचे कोई चिह्न अंकित नहीं किया जाता था, किन्तु अनुदात्त के नीचे पड़ी लकीर (—) तथा स्वरित स्वर के नीचे खड़ी लकीर (।) लगायी जाती है।

(२) **बलात्मत स्वराघाक (Stress Accent)**—बलात्मक स्वराघात का उच्चारण बल के द्वारा होता है। फेफड़ों से आती हुई श्वास वायु जिस अंश पर बल रखती थी, वही आघात होता था। अंग्रेजी भाषा का मूलाधार यही बल है और अंग्रेजी छन्द रचना का आधार भी बल (Accent) ही है।

(३) **रूपात्मक स्वराघात**—विभिन्न व्यक्तियों के स्वर अपने-अपने होते हैं। उनमें समानता नहीं होती। इसी व्यक्तिगत ध्वनि की विशेषता का नाम ही रूपात्मक स्वराघात है। भाषा-विज्ञान के अध्ययन में रूपात्मक स्वराघात का कोई महत्त्व नहीं है।

ध्वनि-परिवर्तन और उसके कारण

विधाता की सृष्टि के शाश्वत नियमों में परिवर्तन भी एक शाश्वत नियम है। परिवर्तन ही वस्तुतः जीवन है। परिवर्तन का यह चक्र चेतन तत्त्वों में अनिवार्यतः परिलक्षित होता है। भाषा के जीवन में भी यह परिवर्तन का अलातचक्र महत्त्वपूर्ण है। भाषा में होने वाले उस परिवर्तन को विद्वान् 'विकार' और 'विकास' इन संज्ञाओं से अभिहित करते हैं। भाषा के विभिन्न अंगों—ध्वनि, रूप, वाक्य और अर्थ में ध्वनि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। रूप, अर्थ तथा भाषा के विकारों पर हम तत्तत् स्थलों पर विचार कर चुके हैं, अथवा करेंगे। सम्प्रति हम ध्वनि-परिवर्तन के कारणों पर ही विचार करेंगे। भाषा का प्रमुख तत्त्व ध्वनि है। एक व्यक्ति ध्वनियों का उच्चारण करता है—वक्ता जो कुछ कहता है श्रोता उसे सुनता है—वक्ता की ध्वनियों का प्रभाव श्रोता पर पड़ता है। वक्ता को इन ध्वनियों पर दो प्रकार का प्रभाव पड़ता है एक **आभ्यन्तर** और **दूसरा बाह्य**। **आभ्यन्तर** कारणों का सम्बन्ध वक्ता के उच्चारण तथा श्रोता के श्रवण से है। बाह्य कारणों में व्यवहार

तथा मनुष्य जीवन की राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक चेतना तथा भौगोलिक कारणों आदि का समावेश होता है। ध्वनि-परिवर्तन में हम किसी एक कारण को विशिष्ट कारण के रूप में संकेतित नहीं कर सकते हैं, क्योंकि भाषा के जीवन में परिवर्तन समष्टिरूप में ही पड़ता है। समष्टिगत प्रभाव के उदाहरण के रूप में हिन्दी में प्रचलित—काम, करम, काज शब्दों को देख सकते हैं—इन शब्दों का पूर्वरूप संस्कृत का कर्म, प्राकृत का कम्म है। इस शब्द के परिवर्तन में देश और काल दोनों का योगदान है। ध्वनि-परिवर्तन का मुख्य कारण मुख-सुख है। मुख-सुख के कारण सैकड़ों ध्वनियाँ विभिन्न देशों में विभिन्न रूपों में दृष्टिगत हो जाती हैं। महाभाष्यकार पतंजलि ने ठीक ही लिखा है—

एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः

अर्थात् एक ही शब्द के अनेक अपभ्रंश (विकृत) ध्वनियाँ होती हैं।

आभ्यन्तर कारण

मुख-सुख—भाषण करते समय वक्ता सदा ही अपने मुख की सुविधानुसार भाषण क्रिया करता है। वह चाहता है कि अल्प-प्रयत्न से ही उसका आशय पूर्णतः व्यक्त हो जाय। परिणामतः मध्यस्त ध्वनियाँ लुप्त हो जाती हैं। इसी मुख-सुख के लिए संस्कृत में सन्धियों का विधान है। इसी मुख-सुख के लिए अंग्रेजी में Night, Talk, Walk आदि शब्दों में gh एवं L आदि का उच्चारण नहीं होता है। भाषा में इस प्रकार के अनेक शब्द मिलते हैं, जिनका उच्चारण परिवर्तित रूप से मिलता है।

अनुकरण की अपूर्णता—भाषा अनुकरण के द्वारा सीखी जाती है। स्वर यंत्र की विभिन्नता के कारण अनुकरण पूर्ण नहीं हो पाता है। एक ही ध्वनि का उच्चारण दो या दो से अधिक व्यक्ति समान रूप में नहीं कर पाते, किन्तु उन भिन्न-भिन्न उच्चारणों में भेद इतना सूक्ष्म होता है कि सामान्यतया वह स्पष्ट नहीं होता है। ये सामान्य अन्तर कालान्तर में अधिक प्रभावशाली बनकर भाषा के जीवन में परिवर्तन उपस्थित कर देते हैं। अपूर्ण उच्चारण का एक कारण अज्ञान भी है। निश्चित ज्ञान के अभाव में अनेक शब्द अशुद्ध उच्चरित होने लगते हैं तथा इसी उच्चारण के कारण ध्वनि में परिवर्तन हो जाता है; जैसे—बन्द्योपाध्याय शब्द का 'बनर्जी', उपाध्याय का 'झा' 'इसी मुख-सुख और प्रयत्न लाघव' के परिणामस्वरूप बन गये हैं। इन परिवर्तनों में एक से अधिक कारण भी कार्य करते हैं, किन्तु प्रधान कारण मुख-सुख या प्रयत्नलाघव ही है।

भ्रामक व्युत्पत्ति—इस परिवर्तन के मूल में भी अज्ञान ही है। अनुकरण की अपूर्णता के अन्तर्गत इसे इसलिए नहीं रखा गया है कि मनुष्य जान-बूझ कर या भ्रमवश अशुद्ध उच्चारण करता है। अनेक व्यक्ति जब किसी अपरिचित शब्द के संसर्ग में आते हैं और उससे मिलता-जुलता शब्द उन्हें पहले से ही ज्ञात होता है तब सुपरिचित शब्द बोलने में ही ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण के लिए अरबी

का 'इन्तकाल' हिन्दी में 'अन्तकाल', अंग्रेजी के लाइब्रेरी' को हिन्दी में अज्ञानवश अशिक्षित व्यक्ति 'रायबरेली' कह देते हैं। भाषण क्रिया में शीघ्रतावश ध्वनि-परिवर्तन हो जाते हैं; क्योंकि शीघ्रता में बीच की अनेक ध्वनियाँ लुप्त हो जाती है। ध्वनि-परिवर्तन के अनेक रूपों में स्वर-लोप, व्यंजन-लोप, स्वर-विपर्यय आदि इसी के परिणाम हैं। अंग्रेजी के डू नाट, (Do-not) का डोन्ट (Don't), वुडनाट (Would-not) का वोन्ट (Wont) इसी उच्चारण की शीघ्रता से होते हैं।

भावुकता—आवेश या प्रेमवश मनुष्य शब्दों का उच्चारण बिगाड़कर करता है, इसके कारण भी दैनिक प्रयोग में आने वाले शब्दों में भी अनेकशः परिवर्तन हो जाते हैं।

वाग्यन्त्र की विभिन्नता – ध्वनि-उत्पत्ति जिन अवयवों से होती है, उसका प्रभाव भाषा पर भी पड़ता है। इस वाग्यन्त्र की विभिन्नता के कारण ही एक व्यक्ति श, ष, स इन तीनों ध्वनियों का यथार्थ उच्चारण नहीं कर पाता है। ऋ का उच्चारण भी आज 'री' के रूप में हो गया है। भारत में अनेक व्यक्ति संघर्षी दन्त्योष्ठ 'फ्' ध्वनि का उच्चारण नहीं कर पाते हैं। परिणाम-स्वरूप अंग्रेजी का काफ़ी शब्द उच्चारण हिन्दी में काफी हो जाता है। सस्कृत का 'सप्त' अवेस्ता में 'हफ्त', फारसी का 'बाज़' हिन्दी में बाज है।

बाह्य कारण

भौगोलिक विभिन्नता—मानव-शरीर पर अनेक प्रभाव पड़ते रहते हैं, जिनमें भौगोलिक प्रभाव भी एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव हैं। भौगोलिक परिस्थितियों के वश भी ध्वनियों के उच्चारण में सुविधा-असुविधा होती है। परिणामतः अनेकशः ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण के लिए गरम देश में रहने वाला व्यक्ति ठण्डे देश में मुख अधिक नहीं खोल सकता है। इसलिए इन दोनों प्रदेशों में रहने वाले व्यक्तियों के उच्चारण में अन्तर स्वाभाविक है।

काल का प्रभाव—देश, स्थिति और जलवायु आदि का ध्वनि-विकास (विकारों) में सहयोग होता है। उसी प्रकार काल का प्रभाव भी ध्वनि-विकास (विकार) में पड़ता है। भारतवर्षीय वैदिक ध्वनियों और आज की आर्यभाषा हिन्दी की ध्वनियों में अन्तर है। द्रविड़ों के कारण आर्यभाषा में मूर्धन्य ध्वनियों का प्रचार हो गया है और आज उनका प्रयोग भी हो रहा है।

सामाजिक प्रभाव—मनुष्य की सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव भाषा पर पड़ता है, क्योंकि भाषा सामाजिक सम्पत्ति है और समस्त सामाजिक सम्बन्धों को स्थिर रखने में इसका प्रयोग नितान्त अपरिहार्य है। भाषा का अर्जन भी समाज से ही होता है। अतः अनेक मुखों से उच्चरित ध्वनियों में परिवर्तन होते रहना उसका स्वभाव है।

लेखन—जिस प्रकार भाषण के कारण ध्वनियों में अन्तर आता है, उसी प्रकार लिखने के कारण भी ध्वनि-विकार हो जाता है। उर्दू के लिपि-दोष के कारण अनेक ध्वनियों का कुछ का कुछ होता है। गुरुमुखी में संयुक्ताक्षरों के अभाव के कारण स्टेशन, स्कूल, प्रधान आदि शब्द क्रमशः सटेशन सकूल, परधान उच्चरित होते हैं। इसी प्रकार अंग्रेजी में लिखित राम का रामा (Rama) गुप्त का गुप्ता (Gupta) मिश्र का मिश्रा (Misra) हो जाता है।

सादृश्य (Analogy)—ध्वनि-परिवर्तन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारण सादृश्य है। किसी एक ध्वनि के आधार पर दूसरी ध्वनि में भी समानता या एकरूपता लायी जाती है; उदाहरण के लिए—'द्वादश' के सादृश्य पर 'एकदश' का 'एकादश', स्वर्ग के सादृश्य पर 'नरक' का 'नर्क' हो गया है। 'फोनोलॉजी' (Phonology) शब्द के आधार पर 'मार्फोलॉजो' (Morphology) शब्द बना लिया गया है। वास्तव में इसका शुद्ध रूप मार्फ लाजी (Morph-logy) होना चाहिए; क्योंकि ग्रीक में phono एक स्वतन्त्र शब्द है, दूसरी ओर Morpho न होकर Morph है।

विदेशी ध्वनियों का प्रभाव—विदेशी ध्वनियाँ भी किसी भाषा के जीवन में ध्वनिविकार का कारण बनती हैं; क्योंकि किसी भी भाषा में दूसरी भाषा की ध्वनियाँ उसी रूप में स्वीकार नहीं की जाती हैं। परिणामस्वरूप ध्वनि-परिवर्तन आवश्यक है। भारतीय भाषाओं में अरबी, फारसी ध्वनियों—फ़, ज़, क़, ख़, ग़, आदि के नीचे नुक्ते का प्रयोग होता है, जबकि हिन्दी में ऐसा नहीं होता है। इसी प्रकार अंग्रेजी की अनेक ध्वनियाँ भी हिन्दी में परिवर्तित कर ली गयी हैं। अथवा अंग्रेजी ध्वनियों के प्रभाव से हिन्दी ध्वनियों के उच्चारण में अन्तर कर लिया गया है।

आशय यह है कि भाषा-प्रवाह सरलता की ओर होता है। अतः मुख-सुख, प्रयत्न-लाघव, सादृश्य आदि कारणों के द्वारा मानव भाषा के जीवन में सहज ही प्रत्यक्ष परिवर्तन कर लेता है अथवा अप्रत्यक्ष रूप से वह हो जाता है।

ध्वनि-परिवर्तन की दिशाएँ—ध्वनि-परिवर्तन के प्रयत्न-लाघव आदि विभिन्न कारणों का विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि विशिष्ट भाषाओं में इनके विशिष्ट रूप मिलते हैं। इन कारणों की कुछ दिशाएँ इस प्रकार निर्दिष्ट की जा सकती हैं। प्राचीन संस्कृत वैयाकरणों ने भी इन दिशाओं का निर्देश किया है—उनके अनुसार ध्वनि (वर्ण)-परिवर्तन के कारण-वर्ण—व्यत्यय, वर्णापाय, वर्णोपजन और वर्णविकार हैं—

वर्णव्यत्ययापायोपजन विकारेषु...।

वर्णव्यत्यते कृतेस्तर्कः कसेः सिकता; हिंसेः सिंहः....।

अपायोलोपः घ्नन्ति, घ्नन्तु, अघ्नन।...

उपजन—आगमः । लविता लवितुम् ।
विकारः आदेशः । घातयति घातकः ।[1]

महाभाष्यकार पतंजलि ने **वर्णव्यत्यय** के उदाहरणस्वरूप—'कृते' से तर्कः', 'कसेः' से 'सिकताः' 'हिंस' से सिंह'। **लोप** के उदाहरणस्वरूप घ्नन्ति, घ्नन्तु और अघ्नन् । **आगम** के उदाहरण में 'लविता' से 'लवितुम्'; **आदेश** के उदाहरण के रूप में घातयति से घातकः प्रस्तुत किये हैं। काशिका में **वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशो'** के रूप में वर्ण-परिवर्वतन के नियमों का उल्लेख किया गया है। पतंजलि से भी पूर्ववर्ती (सम्भवतः ईसा पूर्व सप्तम शतक) निरुक्तकार यास्क ने भी इन वर्णध्वनि परिवर्तन की दिशाओं का इन शब्दों में सोदाहरण उल्लेख किया है—

"अथाप्यस्तेर्निवृत्तिस्थानेषु आदि लोपो भवति स्तः सन्तीति त्यथाप्यन्तलोपो भवति गत्वा गतमित्यथा प्युपधालोपो भवति जग्मतुर्जग्मुरित्यथाप्युपधाविकारो भवति राजा दण्डीत्यथापि वर्णलोपो भवति तत्त्वा यामित्यथापि द्विवर्णलोपस्तृच इत्यथाप्यादि विपर्य्ययो भवति ज्योतिर्घनो बिन्दुवाद्य इत्यथाप्याद्यन्त विपर्य्ययो भवति स्तोका रज्जुः सिकता स्तर्कवित्यथाप्यन्त व्यापत्तिर्भवति"[2] ।

इस प्रकार निरुक्तकार ने आदिलोप, अन्तलोप, उपधालोप, आदि विपर्य्यय, अन्त विपर्यय; वर्णापजन (आगम) आदि वर्णपरिवर्तन की दिशाओं का उल्लेख किया है। संस्कृत वैयाकरण जिसे उपधालोप कहते हैं, आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक उसे Syncope कहते हैं। संस्कृत वैयाकरण जिसे आदि-विपर्यय कहते हैं, भाषा-वैज्ञानिकों के मत में वह अंशतः Assimilation और Dissimilation है। संस्कृत वैयाकरणों का अद्यन्त-विपर्यय ही भाषा-वैज्ञानिकों का Metathesis है। संस्कृत वैयाकरणों का वर्णोपजन भाषा-वैज्ञानिकों का Anaptyxis है।[3] आशय यह है कि ईसापूर्व ७०० में भाषा के सम्बन्ध में जो अध्ययन हो रहा था, उसका विकसित रूप आधुनिक भाषा-विज्ञान में सुरक्षित है।

परस्पर विनिमय, वर्णविपर्यय, वर्ण-व्यत्यय (Metathesis)—वर्ण-विपर्यय Metathesis के हिन्दी में कई नामान्तर परस्पर-विनिमय, वर्ण-व्यत्यय आदि मिलते हैं। किसी शब्द के स्वर-व्यंजन या ध्वनियाँ जब एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते हैं और उस स्थान से प्रथम स्थान पर आ जाते हैं, इस पारस्परिक परिवर्तन को विपर्यय कहा जाता है—Transposition in words or letter. डा० पी० डी० गुणे वर्ण-व्यत्यय पर विचार करते हुए लिखते हैं—कि "ध्वनि-परिवर्तन में विपर्यय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। विपर्यय वहाँ होता है जहाँ शब्द की दो

---

1. **महाभाष्य नवाह्निक ।**
2. **निरुक्त २/१—२ ।**
Comparative Philology : Dr. P. D. Gune, p. 55-56

ध्वनियाँ स्थान-परिवर्तन करती हैं। यह किसी शब्द की ध्वनियों अथवा उसके वर्णों का क्रम-परिवर्तन है—Metathesis plays a considerable part in phonatic change. This is when two sounds in a word change places. It is transposition of sounds or latters in word."[1] आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन करते समय इस Metathesis का सर्वप्रथम निर्देश पिशेल[2] ने सन् १८७१ में किया था। यद्यपि इसके अनेक उदाहरणों का निर्देश संस्कृत वैयाकरणों ने भी किया है; उदाहरण के लिए—निरुक्त में 'स्तोक', 'रज्जु', 'सिकता', 'तुर्क' शब्दों को इसी प्रकार वर्णों के आद्यन्तविपर्यय द्वारा क्रमशः श्च्युतिर क्षरणे (=च्युत), 'सृजविसर्गे', 'कसविकसने' और 'कृतिछेदने' (=कृत्) इन धातुओं से बनाया है। ऐतरेय ब्राह्मण (२।१४) आदि वैदिक ग्रन्थों में 'शल्क' शब्द टुकड़े के अर्थ में आता है। पीछे से वर्ण-व्यत्यय और स्वर-भक्ति से इसी का दूसरा रूप 'शकल' हो गया, जो संस्कृत में बराबर प्रयुक्त होता है।"[3]

हिन्दी में वर्ण-व्यत्यय के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। वर्ण-व्यत्यय के दो भेद किये जा सकते हैं :

(१) **स्वर-विनिमय**—अम्लिका से इमली अ और इ का परस्पर विनिमय हुआ है।

(२) **व्यंजन विनिमय**—चाकू से काचू में च और क का व्यंजन-विपर्यय हुआ है।

इसके भी पार्श्ववर्त्ती तथा दूरवर्ती दो भेद और किये जा सकते हैं :

पार्श्ववर्त्ती विपर्यय—बिलकुल निकट के या पार्श्व में होने वाला विपर्यय जैसे जलेबी से जबेली; यहाँ पर 'ल' और 'ब' दोनों समीप व्यंजनों के में परिवर्तन हुआ है।

दूरवर्ती विपर्यय—दूर की ध्वनियों में जो विपर्यय होता है, उसे दूरवर्ती विपर्यय कहते हैं; जैसे—लखनऊ का नखलऊ, अमरूद का अरमूद।

स्वर विपर्यय :

कुछ	=कछु
जानवर	=जनावर
खुजली	=खजुली
बिन्दु	=बूँदि

---

1. **Comparative Philology** : Dr. P. D. Guneg, P. 67.
2. **Grammatik der Prakrit sprachen**, p. 92.
3. **भाषा विज्ञान**, डा० मंगलदेव, पृ० १३३-३४.

दूरवर्ती स्वरविपर्यय :

फाटक =फटका
टाटक =टटका

पार्श्ववर्त्ती-व्यंजन विपर्यय :

चिह्न =चिन्ह;
ब्राह्मण =ब्राम्हन,
डूबना =बूडना,
अमरूद =अरमूद,
वाराणसी=बनारस
जलेबी =जबेली

दूरवर्ती व्यंजन-विपर्यय :

लखनऊ =नखलऊ
नारिकेल =नालिकेर
मुकलचा =मुचलका

कभी-कभी इस प्रकार के विपर्यय भी दृष्टिगत होते हैं जिनमें स्वर व्यंजन या अक्षर अपना स्थान तो छोड़ देते हैं, किन्तु उनके स्थान पर दूसरी ध्वनि-वर्ण आदि नहीं आते हैं। उदाहरण के लिए पुर्तगाली शब्द Festra=Fersta। वेन्द्रिये ने इस प्रकार के परिवर्तन को विपर्यय मानते हुए इसे **'एकाङ्गी विपर्यय'** कहा है। कभी-कभी **शब्दांश विपर्यय** के उदाहरण भी मिलते हैं। इस शब्दांश विपर्यय में कभी-कभी दो साथ के शब्दों में आरम्भ के अंशों में विपर्यय हो जाता है; जैसे—

घोड़ा गाड़ी=गोड़ा घाड़ी

आक्सफोर्ड के डा० स्पूनर साहब से ऐसी त्रुटियाँ प्रायः हो जाती थीं। अतः उन्हीं के नाम पर इस विपर्यय को स्पूनरिज्म भी कहा जाता है :

It is called spoonerism, when occurring in a phrase or sentence; boiled icicle for oiled bicycle is given of Oxford Dictionary.[1]

लोप-अभिनिधान (Elision)

कभी-कभी बोलने में मुख-सुख शीघ्रता या स्वराघात के कारण कुछ ध्वनियों का लोप हो जाता है। वह लोप तीन प्रकार का होता है—

(१) स्वरलोप
(२) व्यंजनलोप
(३) अक्षरलोप

---

1. **Comparative Philology**, p. 62,

स्वर और व्यंजन लोप के आदि, मध्य और अन्त की दृष्टि से तीन भेद और भी किये जा सकते हैं।

स्वरलोप (Syncope)—शब्दों में दो दो व्यंजनों के मध्य में आने वाला स्वर प्रायः प्लुत हो जाता है—स्वर के लोप के लिए यह नाम प्रयुक्त होता है और अक्षर के लोप को अक्षरलोप या समाक्षरलोप कहते हैं—

The name is applied to loss of a vowel, the loss of a syllable being named Haplology.

उदाहरणार्थ—राजन् + आ (तृतीय विभक्ति के एकवचन में) के अ लोप होने पर 'राजा' शब्द बनता है। स्वरलोप आदि, मध्य और अन्त तीनों ही स्थानों पर होता है।

आदि स्वरलोप (Aphesis) अनाज = नाज,

अहाता = हाता, आभ्यन्त = भीतर, अरण्य = रण्य

मध्य स्वरलोप :

शाबास = साबस

राजन + आ = राजा

Do not = Dont

अन्त स्वर-लोप—हिन्दी में प्रायशः अकारान्त शब्दों का 'अ' स्वर लुप्त हो गया है। पर लिखने में अभी लुप्त नहीं हुआ है। इसके कारण हिन्दी के शब्द व्यंजनान्त बोले जा रहे हैं; जैसे—

आम्र = आम

दूर्वा = दूब

पार्श्व = पास

स्वर-लोप की ही भांत व्यजन-लोप भी देखे जाते हैं। इसके भी आदि, मध्य और अन्त नामक तीन भेद किये जा सकते हैं।

आदि व्यंजन लोप—अंग्रेजी में उच्चारण की असुविधा के कारण आदि व्यंजनों का अनेकशः लोप हो चुका है; किन्तु लिखित अवस्था में अभी उनका प्रयोग हो रहा है; जैसे—

Knife = nife

Know = now

Knight = night

स्थली = थाली

श्मशान = मसान

प्रिय = पिय [प्रा० हि०]

मध्य व्यंजनलोप :

सूची =सुई
घरद्वार =घरबार
भोजन =भोअन [प्रा०]
नगर =नअर [प्रा०]
कोकिल =कोइल

Walk, Talk, Right आदि अंग्रेजी शब्दों में भी उच्चारण में मध्य व्यंजन का लोप हो चुका है। किन्तु लिखितावस्था में वे अभी मिलते हैं। प्राकृत भाषाओं में मध्य व्यंजन लोप की प्रवृति विशेष रूप से मिलती है। हिन्दी की बोलियों में भी इसके अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं।

अन्त व्यंजन-लोप :

सत्य =साँच,
उष्ट्र =ऊँट
आम्र =आम
निम्ब =नीम,

अक्षरलोप :

आदि—शहतूत=तूत, त्रिशूल=शूल,
मध्य—गेहूँजव=गोजई, भण्डागार=भाण्डार
अन्त—माता=माँ, भ्रातृजाया=भाभी, भावज

समाक्षर लोप (Haplology)

जब दो अक्षर या अक्षर-समूह साथ-साथ दो बार आयें, तब उच्चारण की सुविधा के कारण उनमें से जब एक का लोप हो जाता है, उसे समाक्षरलोप (Haplology) कहते हैं। समाक्षर लोप के लिए यह आवश्यक है कि एक साथ में आने वाले दो अक्षरों में एक ध्वनि समान हो। हेप्लोलोजी शब्द का प्रयोग ब्लूमफील्ड ने किया है—

Haplology is a name given by Bloomfield to the phenomenon where of too similar syllables following each other, one is dropped. The condition for haplology is that one sound, at any rate on the two consecutive syllables must be common.[1]

उदाहरण के लिए संस्कृत में हा धातु के लोट् लकार पुरुष के एकवचन में 'जहीहि' और 'जहि' में आज 'जहि' अवशिष्ट हैं। इसी प्रकार वैदिक शब्द शेवृध

---

1. Comparative Philology, p. 56

(प्रिय-अमूल्य) शब्द भी शेव+वृध से, शस्प+पिञ्जरः से शष्पिञ्जरः त्रि+ऋच+अः=तृचः, नाककटा=नकटा Part-Time=Partime, कभी-कभी अक्षर पूर्णतः एक ही न होकर उच्चारण में मिलते-जुलते होने पर भी एक का लोप हो जाता है।

आगम-प्रागुपजन (Prothesis-Coming)—कभी-कभी उच्चारण की सुविधा के लिए कुछ व्यंजनों, विशेषकर संयुक्त-व्यंजनों से प्रारम्भ होने वाले शब्दों के आदि, मध्य और अन्त में स्वर और व्यंजनों का आगम हो जाता है। इस प्रकार आगम भी आदि, मध्य और अन्त—तीन प्रकार का होता है। प्रारम्भ में आने वाले स्वर का नाम प्रागुपजन (Prothesis) है, "we find that in some languages certain vowels are developed before certain consonants."[1] अर्थात् कुछ भाषाओं में कुछ व्यंजनों के पूर्व कुछ स्वरों का आगम हो जाता है।

स्वरागम { आदि—स्कूल=इस्कूल, स्तुति=अस्तुति
स्नान=अस्नान, स्त्री=इस्त्री
मध्य—मर्म=मरम, अर्थ=अरथ
स्कूल=सकूल, स्टेशन=सटेशन
स्नान=सनान, भ्रम=भरम
पृथ्वी=पृथिवी, स्वर्ण=सुवर्ण
प्रसाद=परसाद, पूर्व=पूरब
धर्म=धरम।

अन्त स्वरागम हिन्दी या संस्कृत में व्यंजनान्त शब्द बहुत कम मिलते हैं। अतः अन्त में स्वर आने का प्रश्न ही नहीं है। किन्तु फिर भी कुछ उदाहरण मिल जाते हैं— स्वप्न=सपना, सुध्=सुधि, दवा=दवाई

व्यंजनागम—

आदि व्यंजनागम के उदाहरण कम ही मिलते हैं।

आदि—ओष्ठ=होठ, अस्थि=हड्डी, उल्लास=हुलास

मध्य—शब्द के मध्य भाग के उच्चारण में अधिक कठिनता का अनुभव होता है, इस कठिनता को दूर करने के लिए आगम और लोप का सहारा लिया जाता है। मध्य व्यंजनागम के अनेक उदाहरण मिलते हैं; जैसे—

शाप=श्राप, समुद्र=समुन्दर, आलसी=आलकसी, तक=तलक। फ्रेंच में Avantage=Advantage.

अन्त व्यंजनागम—

भौं=भौंह, चील=चिल्ह, रंग=रंगत, Coc=Cock.

1. Comparative Philology p. 59.

आदि अक्षरागम

स्फोट=विस्फोट

मध्य अक्षरागम—गरीब निवाज=गरीबुल निवाज।

खल=खरल

अन्त अक्षरागम

डफ=डफली

वधू=वधूटी

मन=मनका

स्वर-भक्ति या विप्रकर्ष (Anaptyxis or Diaeresis)

'संयुक्त व्यंजनों के उच्चारण में होने वाली असुविधा को दूर करने के लिए उनके बीच में किसी स्वर या स्वर भाग के आगम को स्वर-भक्ति या विप्रकर्ष कहते हैं। पी० डी० गुणे, स्वरभक्ति (Anaptyxis) पर विचार करते हुए कहते हैं—"इसी प्रकार की एक अन्य प्रक्रिया है, जिसमें ऐसी ध्वनियों के मध्य में, जिनका उच्चारण करना कठिन होता है, स्वर का आगम हो जाता है"—Another similar phenomenon is the insertain of a vowel between combination of sounds, which are difficult to pronounce. This is called स्वरभक्ति or anaptyxis. कुछ ऋग्वेदीय सूक्तों में इन्द्र का उच्चारण इन्दर, दर्शन का दरशन किया जाता है। A variety of the same phenomenon is seen in the insertain of a consonant between two consonants belonging to different places of articulation. This news comer helps the tongue in passsing from one place to another and is in fact a transitional sound.[1] अर्थात् "इसी प्रक्रिया का एक प्रकार वह है जिसमें भिन्न उच्चारण-स्थानों वाले दो व्यंजनों के मध्य में किसी व्यंजन का आगम हो जाता है। यह नया व्यंजन वस्तुतः एक संक्रमणकालीन ध्वनि-होता है। जो जीभ को एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने में सहायता देता है।"

वैदिक शब्दों में स्वर के अनन्तर तथा व्यंजन से पूर्व आने वाले 'र' के आगे स्वरभक्ति का प्रयोग किया जाता है। परिणामस्वरूप 'र्कहि' या 'अर्चन्ति' में 'र' के बाद इकार या 'स्मृ' का स्वर के रूप में उच्चारण किया जाता है।[2] "वैदिक शब्दों में जैसी स्वर-भक्ति का उच्चारण होता था वह आधी मात्रा या उससे भी कम मात्रा की होती थी। इसीलिए वह लिखी नहीं जाती थी।[3] यहाँ

---

1. Comparative Philolo gy, p. 60-61.
2. ऋग्वेद प्रातिशाख्य ६।४६।४७ रेफात्स्वरोपहिताद्, व्यञ्जनोदयाद् ऋकार वर्ण स्वरभक्तिरुक्तरा। विच्छेदात् स्पर्शोऽमपराच्च घोषिणः।
3. वही १।३२-३३, ३५ स्वर भक्ति. पूर्वभागक्षराङ्गम्। द्व्यन्घोयसी सार्धमात्रा। अर्धोनान्या।

तक कि उसके बोले जाने पर भी व्यंजनों के संयोग को 'संयोग' ही माना जाता था।[1] अवेस्तन भाषा में भी यह प्रवृत्ति देखी जाती है।"[2]

प्राकृत तथा हिन्दी में स्वर-भक्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं—संस्कृत के भक्ति, युक्ति, पंक्ति, प्रसाद के स्थान पर हिन्दी में भगति, जुगति, पंगत, परसाद हो जाते हैं। इन्द्र=इन्दर, चन्द्र=चन्दर, पृथ्वी=पृथिवी, श्री=सिरी, स्वर्ण=सुवर्ण आदि।

अपिनिहिति-समस्वरागम (Epenthesis)

कुछ भाषा वैज्ञानिक "अपिनिहिति और स्वर-भक्ति को एक ही मानते हैं, उनके अनुसार इन दोनों में केवल इतना ही अन्तर है कि स्वर-भक्ति मिश्र ध्वनियों से पूर्व आती है और अपिनिहिति अमिश्र से पूर्व।" इस प्रकार स्वर-भक्ति का उदाहरण स्कूल=इस्कूल है। तथा अपिनिहिति का उदाहरण सवारी=असवारी है। किन्तु दूसरे विद्वान ऐसा नहीं मानते हैं, उनके अनुसार ये दोनों ही उदाहरण स्वर-भक्ति के हैं।

मुख-सुख के लिए कुछ शब्दों के मध्य या आरम्भ में ऐसे स्वर की आवश्यकता होती है जो बाद में आया हो, किन्तु आने वाला स्वर वही होगा, जिसकी सत्ता पूर्व से ही वहाँ विद्यमान हो। इसे समस्वरागम कहते हैं—

संस्कृत	अवेस्ता
भवति (Bhavati)	Bavaiti
अरुषः (Arusah)	Auruso
तरुणः (Taruna)	Tauruna

उपर्युक्त उदाहरणों में आगत स्वर रेखांकित है। इन उदाहरणोंको देखकर स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ उन्हीं स्वरों का आगम हुआ है जो पूर्व से ही उन शब्दों में विद्यमान हैं। अंग्रेजी में भी यह प्रवृत्ति पायी जाती है। कभी-कभी वही स्वर न होकर उसी प्रकृति का भी स्वर आ जाता है; उदाहरणार्थ—

स्टेशन=इस्टेशन
स्तर=अस्तर
स्तम्भ=अस्तम्भ
सवारी=असवारी
स्तवल=अस्तवल

आदि स्वरागम एवं अपिनिहिति में भी कुछ अन्तर है। (१) आदि स्वरागम

---

1. ऋग्वेद प्रातिशाख्य ६।३५—न संयोगं स्वर भक्तिर्विहन्ति।
2. तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, पृ० १३१।

में कोई भी स्वर आ सकता है, किन्तु अपिनिहिति में केवल उसी स्वर का आगम होता है, जो या तो पहले से हो या उसी प्रकृति का अग्र या पश्च हो। (२) आदि स्वरागम में जो स्वर आता है वह शब्द के आदि में हो होगा, किन्तु अपिनिहिति में इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

अपिनिहिति एवं स्वर-भक्ति—इसी प्रकार स्वर-भक्ति और अपिनिहिति दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। साथ ही, स्वर-भक्ति में स्वर का आगम किसी व्यंजन को अक्षर बनाता है, किन्तु अपिनिहिति में स्वर-भक्ति की तरह आधा को पूरा बनाने की प्रवृत्ति नहीं होती है।

अभिश्रुति (Umlaut of Vowel Mutation)

स्वर, अर्ध स्वर तथा कभी-कभी व्यंजन से प्रभावित होकर यदि अपिनिहिति (Epenthesis) के कारण आया हुआ स्वर परिवर्तित हो जाता है तो उसे अभि-श्रुति कहते हैं। अपिनिहिति से हमारा आशय—शब्द के मध्य में किसी ध्वनि या अक्षर के आगमन से है। ग्रिम महोदय ने जर्मनिक भाषाओं के अध्ययन के अवसर पर स्वर-परिवर्तन की ओर विशेष ध्यान देकर इसका उल्लेख किया था। उदाहरणार्थ—

Mani = Maini = Men

इस उदाहरण में Maini में प्रथम I अपिनिहिति के फलस्वरूप है, फिर उसका परिवर्तन Men में हो गया है।

भोलानाथ तिवारी बँगला भाषा के करिआ Karia = केरिया Kairia = कोरे Kora को भी अभिश्रुति का उदाहरण मानते हुए लिखते हैं कि—

"Umlaut नाम ग्रिम महाशय का दिया हुआ है। उनके अनुसार किसी स्वर के अभाव से पहले आये स्वर के परिवर्तन को हो 'Umlaut' कहते हैं। इसमें प्रभावित करने वाला स्वर बहुधा I होता है।"[1]

अपश्रुति-अक्षरावस्थान : नियमित स्वर-क्रमबद्धता (Ablaut-Vowal gradation)

ध्वनि-परिवर्तन में प्रमुख कारण स्वर-परिवर्तन-जन्य होते हैं। उदात्तानुदात्त स्वरों का आधार लेकर ही इस नियम का निर्माण हुआ है। अपश्रुति में व्यंजनों के ज्यों-के-त्यों रहने पर भी केवल स्वर-परिवर्तन से ही अर्थ में अन्तर हो जाता है। इसमें स्वरों का परिवर्तन ह्रस्व का दीर्घ और दीर्घ का ह्रस्व में होता है। ईरानी भाषा में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। आशय यह है कि स्वरतत्त्व का परिवर्तन ही अपिश्रुति है। यह स्वर-परिवर्तन एक ही शब्द के अङ्ग में होता है।

---

1. भाषा-विज्ञान, पृ० २३८

स्वर-परिवर्तन दो प्रकार से होता है, जिन्हें क्रम से गुणीय परिवर्तन (Qualitative Change) तथा परिमाणीय परिवर्तन (Quantitative Change) कहते हैं। एक में शब्द का रूप पूर्णतः परिवर्तित हो जाता है। दूसरे में ह्रस्व का दीर्घ और दीर्घ का ह्रस्व होता है। डा० गुणे लिखते हैं : "अपिश्रुति अर्थात् उस प्रक्रिया को, जिसका अधिकांश भारत जर्मन भाषाओं के संरचना-काल में महत्त्वपूर्ण योग है, विद्वानों ने सर्वथा बलाघात पर माना है। अपिश्रुति का अर्थ है संबद्ध शब्दों अथवा शब्दों के अंशों में स्वर का गुणीय अथवा परिमाणीय परिवर्तन—

What is called ablaut or vowel gradation, a phenomenon which played a greet part in the formative period of most of the Indo Germen languages, is held by scholars to depend entirely upon accent. Ablaut means the change, qualitative or quantitative, of the vowel phenomenon between related words of parts of words.

उदाहरण—अंग्रेजी में गुणात्मक—

sing sang sung song

Man=men, Mouse=Mice, Foot=feet

परिमाणीय—Money=Ment

संस्कृत—भृतः=भरति

राजसदनः राज्ञः सदनम्, सदनानां राजा

ग्राममल्लः ग्रामस्यमल्लः, मल्लानां ग्रामः मल्लग्रामः।

अस्ति	सन्ति
पपात	पप्तिम
जनस्	जजान, जज्ञे
चत्वारः	तुरीय
एमि	इमः
ददर्श	ददृशुः

इसी अपिश्रुति के अन्तर्गत ही भारतीय वैयाकरणों द्वारा निर्दिष्ट सम्प्रसारण, गुण तथा वृद्धि का भी अन्तर्भाव हो जाता है। डा० पी० डी० गुणे लिखते हैं—"सम्प्रसारण कहलाने वाले परिवर्तन इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। संस्कृत वैयाकरण उपर्युक्त अपिश्रुति से परिचित थे। इसी कारण कुछ आधुनिक विद्वान् इस अपिश्रुति को केवल सम्प्रसारण कहते हैं"—

In the same catagory fall changes called संप्रसारण (Samprasarana). The Sanskrit Grammarians were conscious of this

vowel-gradation above spoken of same modern scholars therefore call this Ablaut[1] simply संप्रसारण (Samprasarana).[2]

सम्प्रसारण के अन्तर्गत य, व, र क्रमशः इ, उ, ऋ में परिवर्तित हो जाते हैं—

यष्टवे, यज्ञ =इष्ट
वक्तवे, =उक्त
ग्रभे =गृभे, गृहीत
वष्टि =उष्मसि
चत्वारः =चतुरः
श्वन् =शुनः

गुण होकर इ, उ, ऋ, लृ क्रमशः य्, र्, ल्, व् में परिवर्तित होते हैं तथा वृद्धि होकर ए, ओ, अर, अल, क्रमशः ए, औ, आर, आल में परिवर्तित होते हैं। यह सम्पूर्ण परिवर्तन मूलतः स्वर पर आधारित है। प्राचीन वैयाकरणों द्वारा निर्दिष्ट गुण-वृद्धि एवं सम्प्रसारण ही भाषा-वैज्ञानिकों का Ablaut अपश्रुति है।

समीकरण (Assimilation)

संस्कृत वैयाकरण समीकरण को 'सवर्णीकरण' संज्ञा से अभिहित करते हैं। समीकरण में एक ध्वनि दूसरी ध्वनि को प्रभावित कर अपना रूप उसे दे देती है; अर्थात् **समीपस्थ दो वर्ण जब एक दूसरे से प्रभावित होकर वर्णों में से एक रूप परिवर्तित कर दूसरे का ही रूप ले लेता है इसे 'समीकरण' कहते हैं;** जैसे—संस्कृत धर्म से प्राकृत में धम्म। यह प्रवृत्ति मूलतः प्रयत्नलाघव-जन्य है।

---

1. Ablaut—Regular vowel gradation. Dr. Suniti Kumar Chatterji suggests' 'अपिश्रुति' (apasruti) for ablaut in his Indo-Aryan and Hindi, 1942. Examples of Ablaut from English ; Sing—Sang—Sung—Song. Vowel-change to indicate tense change in strong verbs. Similarly, this law is seen operating in the formation of plurals in English : Man, Men ; Mouse, Mice ; Goose, Geese ; Foot, Feet ; Money, Mint ; Book, Beech; Doom, Deem, Brother—Brethren is interesting as it gives actualty a double plural. There are two varieties of ablaut in Indo-European : (1) qualitative and (2) quantitaive. The Sanskrit grammarians have only noticed the quantitative ablaut in गुण (Guna), वृद्धि (Vradhi) and सम्प्रसारण (Samprasarana)

—**Comparative** —Philogy p. 54 से उद्धृत।

2. **Ibid**, p. 53-54

समीकरण दो प्रकार का होता है—

(१) पुरोगामी—Progressive.

(२) पश्चगामी—Regressive.

इनके भी पार्श्ववर्ती contact और दूरवर्त्ती Incontact दो प्रकार के अन्य भेद भी होते हैं। स्वर और व्यंजन के आधार पर इनके उदाहरण इस प्रकार द्रष्टव्य हैं—

व्यंजन

१. पुरोगामी { दूरवर्ती—विलपना=विलबना
पार्श्ववर्त्ती—चक्र =चक्क, पद्म=पद्द
यस्य=जस्स, वक्र=वक्क

२. पश्चगामी { दूरवर्त्ती—नील =लील
पार्श्ववर्त्ती—कर्म =कम्म, धर्म=धम्म
भक्त=भत्त
सर्प=सप्प

स्वर

पुरोगामी—दूरवर्ती—जुलम=जुलुम, पिपीलिका=पिपिलिका।

पार्श्ववर्त्ती—आइए=आइइ।

पश्चगामी—दूरवर्ती=इक्षु=उकूरवू
असूया=उसूया

समीकरण में यह आवश्यक नहीं है कि परस्पर प्रभावित करने वाले वर्ण अध्यवहित रूप से समीप में हों, साथ ही समीकरण में या परवर्ती में पूर्ववर्ती वर्ण का प्रभाव दूसरे पर पड़ेगा, उसका आधार बणा के आपेक्षिक बल पर होता है। साधारण नियम यह है कि समान बलवान वर्गों में परवर्ती का और असमान बल वालों में अधिक बल वाले का प्रभाव पड़ता है, इस दृष्टि से हम व्यंजनों का क्रम इस प्रकार निर्दिष्ट कर सकते हैं—

(१) स्पर्श वर्ग पञ्चम अक्षरों को छोड़कर सबसे अधिक बल वाले हैं, (२) वर्ग के पञ्चम अनुनासिक उपर्युक्त स्पर्शों से कम बल वाले हैं तथा ल्, स्, व्, य्, र क्रमशः सबसे कम बल वाले हैं।

डा० पी० डी० गुणे ने समीकरण की प्रक्रिया तथा उसका रहस्य आदि स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि—"इस तथ्य की व्याख्या में कोई कठिनाई नहीं है। यद्यपि कोई शब्द अथवा वाक्य उच्चारण-चेष्टाओं के अनुत्क्रम से उत्पन्न किया जाता है, तो भी जहाँ तक बोलने वाले का सम्बन्ध है, ज्योंही शब्द अथवा वाक्य के उच्चारण का आरम्भ करता है, उसकी चेतना में समग्र आ जाता है। उसे ध्वनि एवं उसके अर्थ, दोनों का बोध एक साथ घटित होने वाली क्रिया के रूप में होता है। इसी

कारण समीकरण के समय प्रक्रिया कुछ इस प्रकार की होती है। कोई विशिष्ट ध्वनि-विचार, जो किसी अन्य ध्वनि-विचार से कुछ उत्कृष्ट होता है, उसका स्थान ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार उच्चारण-सम्बन्ध चेष्टा जो पहले वाले के अनुरूप है, उस दूसरे का स्थान ले लेती है—

The explanation of the fact is not very difficult. Although a word or sentence is produced by a succession of articulatory movements, still, so far as the speaker is concerned he has the idea of the whole in his consciousness the moment he begins a word or sentence. He has the apperception of the sound and its meaning together in a uniform simultaneous act. When, therefore, an assim ilation takes place, the process is something like this. An ndiv idual sound idea, which has some sort of superiority over inother, gets into the place of that other, and there by the articul-atory movment which corresponds to the former, pushes itself into athe place of the other.

विषमीकरण (Dissimilation)

यह समीकरण के विपरीत होता है, इसमें दो समान समीपस्थ ध्वनियों में से एक ध्वनि अपना स्वरूप छोड़कर विषम या असम- बन जाती है। यही विषमी-करण है। विषमीकरण के स्वर-व्यंजन के पुरोगामी-पश्चागामी-नामक भेद किये जा सकते हैं। The apposite of this is dissimilation. Sometimes two similar sounds are instinctively avoided, by the displacement of change of one of them. It can be both prgressive and regressive like assimilation.[1]

जब प्रथम व्यंजन या स्वर यथा-पूर्वस्थिति में रहता है और दूसरा परिवर्तित होकर विषम हो जाता है, उसे पुरोगामी विषमीकरण कहते हैं; जैसे—लाङ्गूल=लंगूर, काक=काग, कंकण=कंगन, पुरुष=पुरिष। संस्कृत में 'अभ्यासे चर्च', सूत्र से नियमित तिष्ठासति, बुभूषति आदि रूप भी विषमीकरण के उदाहरण हैं। पश्चगामी विषमीकरण में प्रथम स्वर या व्यंजन में परिवर्तन होता है; जैसे—

नवनीत=नयनू, मुकुट=मउर=मौर, नूपुर=नेउर, मुकुल=मउल, लांगल=नांगल।

सन्धि—संस्कृत भाषा में सन्धियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है, संस्कृत के वैयाकरणों द्वारा निर्दिष्ट सन्धि-नियम यद्यपि केवल संस्कृत भाषा तक ही सीमित हैं, तथापि विश्व की अन्यान्य भाषा में भी सन्धि की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। सन्धि का सामान्य अर्थ है—मेल, अर्थात् दो ध्वनियों को मिलाकर एक कर देना; जैसे—रत्न+आकर=रत्नाकर तथा सपत्नी=सवत=सउत=सौत

---

1. डा० पा० डी० गुणे, पृ० ५८

सउत का सौत रूप में परिवर्तन ध्वनि-परिवर्तन के कारण ही है।

अनुनासिकता—अनुनासिक ध्वनियों का अनुनासिक रूप में परिवर्तित होना ही अनुनासिकता (Nasalization) है। उदाहरण के लिए सर्प=साँप, उष्ट्र=ऊँट, सत्य=साँच आदि।

ऊष्मीकरण—विशिष्ट ध्वनियों का ऊष्म श्, ष, स आदि ध्वनियों में परिवर्तित हो जाना ऊष्मीकरण (Assibilation) कहा जाता है। भारोपीय भाषाओं को इसी ऊष्मीकरण प्रवृत्ति के कारण दो वर्गों में विभक्त किया जाता है। एक वर्ग उन भाषाओं का है जिनमें ऊष्मीकरण की प्रवृत्ति नहीं मिलती है, दूसरा वर्ग उन भाषाओं का है जिनमें ऊष्मीकरण की प्रवृति मिलती है। दोनों वर्गों को क्रमशः 'केन्टुम' और 'शतम्' वर्ग कहते हैं।

मात्रा-भेद—भाषा विशेष में मात्रा का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है, परिणामस्वरूप उनमें मात्रा-परिवर्तन की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। ह्रस्व का दीर्घ, दीर्घ का ह्रस्व हो जाना मात्रा-भेद कहा जाता है; जैसे—

हस्त=हाथ,
शून्य=सुन्न,
अक्षत=आखत

घोषीकरण—अघोष ध्वनियों का घोष ध्वनियों में रूपान्तर घोषीकरण-घोषत्व Vocalization या Vocing कहलाता है; उदाहरण के लिए—

सकल=सगल,
प्रकट=प्रगट,
मकर=मगर,
काक=काग।

यहाँ अघोष 'क्' ध्वनि सघोष 'ग्' में परिवर्तित हो गयी है।

अघोषीकरण—अघोषीकरण में सघोष ध्वनि अघोष हो जाती है। इसी को अघोषीकरण या अघोषत्व (Devocalization या Unvoicing) कहा जाता है; जैसे—अदद=अदत, नगर=नकर, मेघ=मेख। सघोष ध्वनि द ग तथा ध् क्रमशः त्, क् ख में रूपान्तरित हुए हैं।

महाप्राणीकरण—अल्पप्राण ध्वनि का महाप्राण ध्वनि में रूपान्तर हो जाना ही महाप्राणीकरण (Aspiration) कहलाता है। जैसे—वाष्प=भाफ, गृह=घर, हस्त=हाथ, अल्प प्राण प्, ग्, त् क्रमशः फ्, घ्, 'थ' में परिवर्तित हुए हैं।

अल्पप्राणीकरण—यह महाप्राणीकरण का विपरीत रूप है। महाप्राण ध्वनियों का अल्पप्राण ध्वनियों में परिवर्तन अल्पप्राणीकरण (Deaspiration) कहलाता है; जैसे—

सिन्धु=हिन्दू
भोधामि=बोधामि
धाधामि=दधामि ।

इस प्रकार ध्वनि-परिवर्तन की कुछ दिशाओं का उल्लेख यहाँ किया गया है। केवल यही ध्वनि-परिवर्तन की दिशाएँ हों, ऐसा नहीं है। इसी प्रकार अन्य अनेक ध्वनि परिवर्तन की दिशाएँ हो सकती हैं।

ध्वनि-नियम

यहाँ विशेष परिस्थितियों में पड़कर कोई एक क्रिया समय और स्थान की सीमा का अतिक्रमण कर सर्वथा एक ही रूप में घटित हुआ करती है, तो उसे नियम की संज्ञा दी जाती है। जिस प्रकार प्रकृति के अनेक कार्यों को देखकर कुछ सामान्य और कुछ विशेष नियमों का निर्माण कर लिया जाता है, उसी प्रकार ध्वनियों में विकार के कार्यों को देखकर ध्वनि-नियम निर्धारित कर लिये जाते हैं। भिन्न-भिन्न भाषाओं में एक ही काल में और एक ही भाषा में विभिन्न कालों में होने वाले इन ध्वनि-विकारों का यथाविधि तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह निश्चित हो जाता है कि ध्वनियों में यह विकार कुछ निश्चित नियमों के अनुसार होते हैं और यदि वही परिस्थितियाँ, उसी भाषा में वैसे ही अवसर पर पुनः उत्पन्न हों तो उसका परिणाम पूर्वानुसार ही होगा।

यह प्रश्न सदा ही विवादास्पद रहा है कि प्राकृतिक नियमों की भाँति क्या भाषा-विज्ञान के नियम भी शाश्वत हैं। प्राचीन विद्वानों ने अपने अध्ययन एवं मनन का निष्कर्ष यह निकाला है कि ध्वनि-परिवर्तन के नियम नितान्त वैज्ञानिक एवं शाश्वत नहीं हो सकते। जेस्पर्सन का कहना है कि "परन्तु मैं इस तथ्य का संकेत कर देना चाहता हूँ कि मैंने इस बात को स्वीकार करने का कभी भी कारण नहीं पाया कि ध्वनि-परिवर्तन सदैव कड़े नियमों के अनुसार होते हैं और उनमें अपवाद नहीं होता—

I want to point out the fact that now here have I found any reason to accept the theory that sound change always take place according to rigorous or bling laws admitting. No exception........"
ब्लूमफील्ड के अनुसार नियम शब्द का यहाँ कोई यथार्थ अर्थ नहीं है, क्योंकि ध्वनि-परिवर्तन किसी भी प्रकार नियम नहीं है, अपितु वह ऐतिहासिक घटना मात्र है—

It was evident that the term 'law' has here no precise meaning for a sound change is not in any sense a law, but only a historical occurence : वेन्ड्रयाज का कहना है कि ध्वनि-नियम किसी भी प्रकार रसायन-शास्त्र आदि के नियमों की तुलना में नहीं आ सकते—

Phonetic laws can in not way assimilated to these of physics nad chemistry.

प्राकृतिक नियम एवं ध्वनि-नियमों में अन्तर

(१) प्राकृतिक नियम किसी काल-विशेष के आग्रह को स्वीकार नहीं करते हैं। वे शाश्वत होते हैं, किन्तु ध्वनि-नियमों में ऐसा नहीं है। वे काल के प्रतिबन्ध को स्वीकार करते हैं। चार और चार जोड़ने से सर्वदा आठ होते हैं पर भारतीय आर्य-भाषाओं के इतिहास में प्राचीन काल से मध्य काल में तथा मध्य काल से आधुनिक काल में आने वाली भाषा में समान परिवर्तन घटित नहीं हुए हैं।

(२) प्राकृतिक नियम अवस्था या स्थान की अपेक्षा नहीं रखते हैं। न्यूटन का नियम सार्वदेशिक है, किन्तु विभिन्न भाषाओं के ध्वनि-नियम अपनी सीमाओं में आबद्ध रहते हैं। वे परिस्थितियों के दास हैं।

(३) प्राकृतिक नियम अपना अपवाद नहीं छोड़ते हैं। किन्तु ध्वनि-नियम सापवाद हैं। 'कर्म' का विकसित रूप 'काम' हो गया है, किन्तु 'धर्म' का 'धाम' न होकर 'धरम' हुआ है।

क्या ध्वनि-नियम के अपवाद वास्तविक हैं ?

ध्वनि-नियमों के अपवाद सकारण होते हैं—

(१) ध्वनि-नियमों के अपवाद का प्रधान तथा महत्त्वपूर्ण कारण 'सादृश्य' है। सादृश्य के कारण भ्रमवश अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

(२) दूसरा अपवाद का कारण है, दूसरी भाषाओं से शब्दों का ऋण रूप में ग्रहण करना। आज हिन्दी में फारसी, अरबी और अंग्रेजी के अनेक शब्दों के आ जाने के कारण एक ही नियम प्रत्येक शब्द पर घटित नहीं हो सकता है।

(३) कभी-कभी हम स्वयं अपनी ही भाषा के उस काल के शब्द को ग्रहण कर लेते हैं, जिस काल में निर्दिष्ट नियम कार्य नहीं करता हैं।

(४) कभी-कभी अन्य भाषा का समानाकार शब्द भाषा में ग्रहण कर लिया जाता है, जोकि नियम की कसौटी पर घटित न होने पर अपवाद स्वीकार कर लिया जाता है।

(५) ध्वनि-विकार में रुचि का भी महत्त्व नहीं होता है। अतः ध्वनि-नियम के विवेचन करते समय हमें इन तथ्यों पर विशेष ध्यान रखना चाहिए—

(१) वह नियम किस काल से सम्बन्ध रखता है।

(२) वह नियम किन-किन भाषाओं से सम्बन्ध रखता है।

(३) उस नियम की सीमाएँ क्या हैं।

ध्वनि-प्रवृत्ति (Phonetic Tendency)

ध्वनि-नियमों के सापवाद होने के कारण, उनकी सङ्कीणता के कारण, कुछ विद्वान नियम कहने की अपेक्षा प्रवृत्ति कहना अधिक उचित समझते हैं। दूसरी ओर

कुछ विद्वान् ध्वनि-नियम और ध्वनि-प्रवृत्ति में अन्तर मानते हैं। उनका कहना है कि एक ध्वनि-परिवर्तन जो कुछ काल तक कार्य कर लुप्त हो जाता है, उसे ध्वनि-प्रवृत्ति कहना चाहिए और जो सफल होकर स्थायित्व प्राप्त कर लेता है, वह ध्वनि-नियम कहलाता है। डा० गौतम का कहना है—

ध्वनि-प्रवृत्ति नाम और भी सदोष है, क्योंकि प्रवृत्ति और नियम में बड़ा भेद है। प्रवृत्ति तो जनवाणी की परिवर्तन करने वाली रुचि से सम्बन्धित है। ध्वनियों में विकार किसी काल-विशेष में होने लगता है, कुछ काल तक प्रयोग रूप में यह कार्य चलता रहता है। आगे चलकर कभी तो यह विकार निष्पन्न हो जाता है और कभी जन-भाषा उसे ठीक न समझकर छोड़ देती है। प्रवृत्ति (Tendency) तो इसी बीच के काल में रहती है। जब विकार पक्का हो जाता है तब वह नियम ही बन जाता है। इस प्रकार प्रवृत्ति का सम्बन्ध वर्तमान और भविष्य से सम्बन्ध रख सकता है। किन्तु ध्वनि-नियम तो भूत से ही सम्बन्धित है। तात्पर्य यह है कि ध्वनि-प्रवृत्ति की अपेक्षा ध्वनि-नियम ही उपयुक्त शब्द है। कुछ लोगों ने इसे ध्वनि-फारमूला कहा है, किन्तु फारमूला शब्द भी हिन्दी के नियम शब्द में ही अन्तर्भुक्त हो जाता है।[1]

परिभाषा—ध्वनि-नियम एवं प्राकृतिक नियमों में अन्तर है, विद्वानों ने ध्वनि-नियम की अनेक परिभाषाएँ की हैं। टकर (Tucker) के अनुसार, "**किसी विशिष्ट भाषा की कुछ विशिष्ट ध्वनियों में किसी विशिष्ट काल और कुछ विशिष्ट दशाओं में हुए नियमित परिवर्तन को उस भाषा का ध्वनि-नियम कहते हैं।**"

A Phonetic law of a language is a statement of the regular practice of that language at a particular time in regard to the treatment of a particular sound or group or sounds in a particular setting.

इस परिभाषा के आधार पर ध्वनि-नियमों की विशेषताओं का इस प्रकार निर्देश किया जा सकता है—

(१) एक ध्वनि नियम संसार की सम्पूर्ण भाषाओं पर लागू नहीं हो सकता है। वह किसी भाषा-विशेष का होता है या किसी एक भाषा-परिवार का।

(२) एक भाषा या परिवार को सम्पूर्ण ध्वनियों की अपेक्षा वह कुछ विशिष्ट ध्वनियों तक ही सीमित होता है।

(३) ध्वनि-नियम न तो सार्वदेशिक होते हैं और न सर्वकालिक ही। एक नियम का एक विशिष्ट जीवन होता है। एक सीमा होती है। वह नियम अपनी सीमा में ही सीमित रहता है।

---

1. सरल भाषा-विज्ञान, पृ० २२६-२२७।

(४) ध्वनि-विकार परिस्थितियों के अनुसार होते हैं, अतः ध्वनि नियमों के लिए विशिष्ट दशा और परिस्थितियों की भी अपेक्षा रहती है।

(५) ध्वनि-नियम सापवाद होते हैं।

ग्रे (Gray) महोदय ने ध्वनि-नियमों की कुछ सीमाओं का निर्देश किया है। उनका कथन है—

"Phonetic law is best difined as a facteal statement of a regular correspondence or set of correspondence found by empirical observation and comparision to exist under like circumstances or conditions between a givin phoneme with in a given area at a given period in the history of a given language group—language or dialect and a parallel phoneme (or parallel absence of phoneme) at another period or at different periods with in such group language or dialect or in different members of the language group, whether at the same period or at different petiods." ग्रे के इस कथन का निष्कर्ष यह है कि—

अपवादों के कारण—

(i) सादृश्य तथा भ्रममूलक शब्द है।

(ii) अन्य भाषाओं से ऋण रूप में गृहीत शब्दों के कारण भी अपवाद मिलते हैं।

(iii) बोलियों का मिश्रण।

(iv) शब्दों की नकल।

(v) काव्य में तुकान्त एवं अनुप्रास आदि के लिए तोड़े-मरोड़ शब्द भी अपवाद के कारण हैं।

निष्कर्ष यह है कि ध्वनि-नियम सापवाद, शिथिल (Flexible) होते हैं। इनके लिए विशिष्ट भाषा, विशिष्ट ध्वनि तथा विशिष्ट दिशा का होना आवश्यक है।

विशिष्ट ध्वनि-नियम

ग्रिम-नियम (Grimm's Law) की पृष्ठभूमि—भाषा के अध्ययन को वैज्ञानिकता तथा भाषा-विज्ञान को एक विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय इन्हीं कुछ नियमों को है। भाषा-विज्ञान में एक प्रश्न सदा ही ज्वलन्त रूप में विद्यमान रहा है कि क्या एक ही भाषा परिवर्तित होकर अनेक भाषाओं के रूप में आज विद्यमान हैं अथवा अनेक भाषाएँ ही अनादिकाल से अनवरत चली आ रही हैं। इस प्रश्न का उत्तर आज तक नहीं दिया जा सका है। "संसार की भाषाओं की विविधता और भिन्नता को देखते हुए अभी तक यह कल्पना तो नहीं

की जा सकती कि संसार की कोई एक भाषा होगी; परन्तु कुछ भाषाएँ ऐसी हैं जिनकी पारस्परिक समानता इतनी अधिक है कि यह मानना पड़ता है कि उसका आदि स्रोत एक ही है। पाश्चात्य देशों में अर्वाचीन भाषाओं के अध्ययन के अतिरिक्त ग्रीक और लैटिन का अध्ययन किया ही जाता था। ग्रीक और लैटिन न केवल साहित्यिक दृष्टि से उन्नत हैं, बल्कि उनका सम्बन्ध यूरोप की अनेक भाषाओं से है। इसलिए इस बात को अधिक-से-अधिक मान्यता मिलने लगी कि ग्रीक और लैटिन से ही अधिकांश भाषाएँ निकली हैं।........इसी समय पाश्चात्य देशों का सम्पर्क पौर्वात्य देशों के साथ हुआ।........पौर्वात्य भाषाओं में सबसे मुख्य भाषा संस्कृत हैं।" सर विलियम जोन्स ने संस्कृत को महत्त्वपूर्ण मानते हुए कहा था कि संस्कृत, ग्रीक और लैटिन की अपेक्षा अधिक सुन्दर एवं अधिक महत्त्वपूर्ण है—

"The sanskrit language, whatever be its antiquity, is a language of most wonderful structure, more perfect than the Greek, more copious than the Latin and more exquisitely refined than either yet bearing to both of them a strong affinity." इसके अतिरिक्त विलियम महोदय विश्व की भाषाओं का मूल स्रोत भी एक ही भाषा से मानते हुए कहते हैं—

No Philologer could examine the Sanskrit, Greek and Latin without believing them to have sprung from some common source which perhaps no longer exists There is a similar reason, though not quite so forcible, for supporting that both the Gothic and Celtic had the same origin with the Sanskrit.

इस प्रकार ग्रीक, लैटिन और संस्कृत को महत्त्वपूर्ण स्वीकार कर लेने पर तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का उदय हुआ। किन्तु इन भाषाओं में संस्कृत की अपेक्षाकृत महत्त्व अधिक स्वीकार कर लेने पर भी ग्रीक, लैटिन और संस्कृत का जन्य-जनक सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया गया। जर्मनी के प्रसिद्ध भाषा-वैज्ञानिक फ्रांस बॉप (Franz Bopp) ने भी संस्कृत का महत्त्व स्वीकार कर, भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद निष्कर्ष रूप में सिद्ध किया कि ग्रीक, लैटिन आदि भाषाएँ संस्कृत की पुत्रियाँ न होकर बहनें हैं। इन समस्त भाषाओं की जननी-भाषा कोई अन्य भाषा है, जो आज अस्तित्व में नहीं है—

"I do not believe that the Greek, Lain and other European languages are to be considered as derived from the Sanskrit in the state in which we find it in Indian books. I feel rather inclined to consider them altogether as subsequent variations of one original tongue which, however, the sanskrit has preserved more perfect than its kinderd dialects.[1]

---

1 Analytical comparison of the Sansksit, Greek. Latin and Teutonic Languages.

ग्रिम महोदय बॉप के समकालीन थे, इस काल तक उपर्युक्त भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन होने लगा था। इन भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के निष्कर्ष रूप से कुछ नियमों की रचना ग्रिम ने की थी, वे नियम ही आज ग्रिम नियम के नाम से प्रसिद्ध हैं। किन्तु ये नियम एकमात्र ग्रिम महोदय के चिन्तन के परिणाम नहीं हैं। ग्रिम से पूर्व डेनिश विद्वान रैज्मस रैस्क (Rasmus Rask) इन नियमों की दिशाओं का निर्देश कर चुका था। जैस्पर्सन का तो मत यह है कि यदि इन नियमों के साथ किसी व्यक्ति का नाम जोड़ना ही हो तो रैस्क का नाम ही इनसे सम्बद्ध होना अधिक उचित होगा—

If any one man is to give his name to this law, better name would be Rask's Law.[1]

रैस्क के अतिरिक्त इहरे (Ihre) का भी इस प्रसंग में ससम्मान नाम लिया जाता है। चूँकि इस नियम की विस्तृत व्याख्या ग्रिम महोदय ने की है, अतः यह नियम उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध है।

ग्रिम नियम का सम्बन्ध केवल नौ स्पर्श-ध्वनियों से है। इसे जर्मन भाषा का वर्ण-परिवर्तन का नियम (Lautvers Chiebung) कहते हैं। यह वर्ण-परिवर्तन दो बार हुआ है। प्रथम वर्ण-परिवर्तन (First sound shifting) प्रागैतिहासिक काल में तथा द्वितीय वर्ण-परिवर्तन सातवीं शतक में हुआ है। इन परिवर्तनों के मूल में जातीय मिश्रण—यहूदी और ईसाइयों के मिश्रण पर प्रथम तथा सांस्कृतिक जागरण के कुछ समय पूर्व यूरोप में ईसाई प्रचार के साथ द्वितीय वर्ण-परिवर्तन हुआ है। प्रथम वर्ण-परिवर्तन का सम्बन्ध मूल भाषा=संस्कृत, ग्रीक, लेटिन से प्राचीन जर्मन-अर्थात् गाथिक में हुआ है। द्वितीय वर्ण-परिवर्तन निम्न जर्मन और उच्च जर्मन में हुआ है।

प्रथम वर्ण-परिवर्तन में भारोपीय मूल भाषा के घोष महाप्राण, घोष अल्प-प्राण और अघोष अल्पप्राण ध्वनियाँ क्रमशः जर्मन भाषाओं में घोष अल्प-प्राण, अघोष अल्पप्राण और अघोष महाप्राण हो जाती हैं। ग्रिम महोदय के अनुसार आदिम-भाषा के कुछ व्यंजन भारोपीय बोलियों में विशेषतः संस्कृत और ग्रीक में सुरक्षित हैं। अतः मूल भाषा से उदाहरण के लिए संस्कृत या ग्रीक शब्द लिये गए हैं तथा परिवर्तन दिखाने के लिए जर्मन वर्ग की अंग्रेजी से शब्द लिये गए हैं।

सूत्र रूप में हम इस प्रकार देख सकते हैं—

भारोपीय मूलभाषा (संस्कृत, लैटिन, ग्रीक)	जर्मन
घ्, ध्, भ्	ग्, द्, ब्
ग्, द्, ब्	क्, त्, प्

---

1. **Language : Its Nature, Development and origin.**

क्, त्, फ् ख् (ह्) थ्, फ्
(घ्, ध्, भ्)

इसे परिवर्तन चक्र के रूप में इस प्रकार संकेतित किया जा सकता है—

→ घ्, ध्, भ्, ←
ग, द, ब → ← ख्, थ्, फ्,
क्, त्, प्,

इसे अधिक स्पष्टीकरण के लिए हम एक-एक वर्ग के आधार पर इस प्रकार देख सकते हैं—

प्रथम वर्ग में आदिम भाषा के क्, त्, प् क्रमशः गाथिक में ख्, थ्, फ् में परिवर्तित हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में आदिम भाषा के अल्पप्राण अघोष स्पर्श-ध्वनियाँ गाथिक भाषा में महाप्राण अघोष संघर्षी ध्वनियों में परिवर्तित हो जाते हैं; जैसे—

सं०	कदः	त्रयः	पशुः
लै०	Quad	Tres	Pecus पेशुस
प्रा० ज०	Hwos	Treis (थ्रेस)	Faihu
अंग्रेजी	What	three	Fee

	संस्कृत	अंग्रेजी लैटिन श=क
क	श्वन्	Hound
	शत=केन्टुम	Hundred
	शिरस्	Horn
त	तृण	Thorn
	तद्	That थेट
ष	पिता	Father
	नपात्	Nephew
	पाद	Foot

द्वितीय वर्ग में आदिम भाषा के ग्, द्, ब् गाथिक में क्रमशः क्, त्, प् हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में आदिम भाषा के अल्पप्राण सघोष स्पर्श-ध्वनियाँ (ग्, द्, ब्) अल्पप्राण अघोश स्पर्श-ध्वनियों (क्, त्, प्) में परिवर्तित होते हैं; जैसे—

	आदिम भाषा (संस्कृत)		गाथिक भाषा (जर्मन)
ग्	गौ	क्	Cow
	युग		Yoke

द्	द्वा	त्	Two
	दश		Ten
ब्	स्लेउब (सं० में उदा० नहीं)	प्	Slip

तृतीय वर्ग में आदिम भाषा के महाप्राण सघोष स्पर्श घ् (ह्), ध्, भ् गाथिक भाषा में क्रमशः अल्पप्राण सघोष स्पर्श ग्, द्, ब् में परिवर्तित हो जाते हैं । जैसे—

	आदिम भाषा (संस्कृत)		गाथिक भाषा (जर्मनी)
घ् (ह्)	हंसः	ग्	Goose
	दुहिता		Daughter
ध्	विधवा	द्	Widow
	धा		Do
भ्	भ्रातृ	ब्	Brother
	भू		Be
	भरामि		Bear

स्मरण करने की सुविधा के लिए हम इस परिवर्तन को इस प्रकार रख सकते हैं—

मूल भारोपीय भाषा (संस्कृत, लैटिन, ग्रीक)

संस्कृत, लैटिन, ग्रीक	अघोष अल्पप्राण क्, त्, प्	घोष अल्पप्राण ग्, द्, ब्	महाप्राण घ्, ध्, भ्
	↓	↓	↓
जर्मन	अघोष महाप्राण ख् (ह्), थ्, फ् (घ्) (ध्) (भ्)	अघोष अल्पप्राण क्, त्, प्	घोष अल्पप्राण ग्, द्, ब्

द्वितीय वर्ण-परिवर्तन—प्रथम वर्ण-परिवर्तन में मूल भारोपीय भाषा से जर्मन भाषा में परिवर्तन हुआ था, किन्तु परिवर्तन के फलस्वरूप जर्मन भाषा में ही उच्च जर्मन तथा निम्न जर्मन नामक दो भेद हो गये हैं । निम्न जर्मन वर्ण में अंग्रेजी का समावेश होता है । किन्तु वर्ण-परिवर्तन से पूर्व ही अंग्रेजी-भाषियों ने स्थान परिवर्तन कर दिया था । परिणामस्वरूप अंग्रेजी इस परिवर्तन से बच गयी । आशय यही है कि द्वितीय वर्ण-परिवर्तन जर्मन भाषाओं का ही वर्ण परिवर्तन है ।

द्वितीय वर्ण-परिवर्तन में निम्न जर्मन भाषा के घोष अल्पप्राण ग्, द्, ब्, अघोष अल्पप्राण क्, त्, प् और अघोष महाप्राण घ्, ध्, भ् ध्वनियाँ उच्च जर्मन में क्रमशः अघोष अल्पप्राण, अघोष महाप्राण और घोष महाप्राण में परिवर्तित हो गयी हैं ।

निम्न जर्मन (अंग्रेजी)	उच्च जर्मन
ग्, द्, ब्	क् त्, प्
क्, त्, प्	ख् (ह) थ्, फ्
ख्, थ्, फ्	ग्, द्,-ब्

इस नियम को भी स्पष्टीकरण के लिए हम तीन वर्गों में विभक्त कर अध्ययन करेंगे। प्रथम वर्ग में गाथिक के अल्पप्राण अघोष स्पर्श क्, त्, प् उच्च जर्मन में महाप्राण अघोष संघर्षी ख् (ह), थ्, फ् में परिवर्तित हो जाते हैं, उदाहरण के लिए—

	निम्न जर्मन	उच्च जर्मन
क् से ख्	Book	Buch
(C) (Ch)	Yoke	Toch
	Reckon	Rechuen
त् से थ् (वस)	Water	Wasser (वॉस्सेर)
(त्स)	Heart	Her3 (हेर्त्स)
प् से फ्	Deep	Tief (टीफ)
	Sheep	Schaf
	Play	Pflegen

द्वितीय वर्ग में गाथिक के अघोषसंघर्षी महाप्राण ख्, थ्, फ् उच्च जर्मन में मशः सघोष अल्पप्राण स्पर्श ग्, द्, ब् में परिवर्तित हो जाते हैं। जैसे—

ख् से ग् में परिवर्तित होने वाले उदाहरण उपलब्ध नहीं हैं।

थ् से द्	Three	Drei (ड्राय)
	Brother	Bruder
	North	Norden (नार्डेन)
फ् (व्ह्) से ब्	Theif	Dieb (डीब)
	Dove	Taub (टाइबे)

तृतीय वर्ग में गाथिक के सघोष अल्पप्राण स्पर्श ग्, द्, ब्, उच्च जर्मन में अघोष अल्पस्पर्श क्, त्, प् ध्वनियों में परिवर्तित हो गये हैं; जैसे—

ग् से क्	Daughter	Tocher
द् से त्	Day	Tag

उपर्युक्त दोनों ही ध्वनि-परिवर्तन के नियमों को समन्वित रूप में ही माना जाता है। अतः उनका समन्वित रूप इस प्रकार है—

प्रथम वर्ण-परिवर्तन

मूल भाषा	आदिम जर्मन	उच्च जर्मन
घ्, ध्, भ्	ग्, द्, ब्	क्, त्, प्

ग्, द्, बँ,	क्, त्, प्	ख्, (ह्), थ्, फ्,
क्, त्, प्	ख् (ह्), थ्, फ्	ग्, द्, ब्

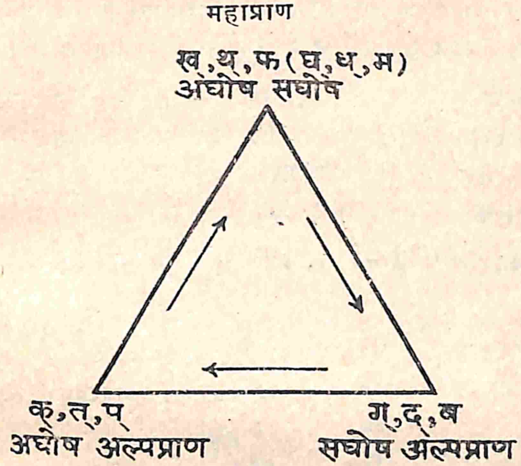
द्वितीय वर्ण-परिवर्तन

स्मरण करने के लिए हम एक सूत्र का निर्देश इस प्रकार कर सकते हैं—
'अमसम सासाम' अर्थात्

अघोष	महाप्राण	सघोष
महाप्राण	सघोष	अघोष
सघोष	अघोष	महाप्राण

इनमें क्रमशः अघोष का 'अ' महाप्राण का 'म' सघोष का स, पुनः इसी प्रकार सभी के आदि अक्षर लेकर 'अमसम सासाम' यह सूत्र बन जाता है।

इस परिवर्तन को सूक्ष्म रूप से ध्यान देने पर यह त्रिकोणात्मक इस प्रकार दृष्टिगत होता है और उसकी यात्रा को तीरांकित किया गया है—



समीक्षा—यह ग्रिम महोदय का ध्वनि-नियम स्पष्ट होते हुए भी सदोष है; क्योंकि दो भिन्न काल के ध्वनि विकारों को लेकर यह नियम बना है। प्रथम वर्ण-परिवर्तन में तो निश्चित क्रम देखने को मिलता है, किन्तु द्वितीय वर्ण-परिवर्तन में नहीं। अतः हम कह सकते हैं कि द्वतोय वर्ण-परिवर्तन का क्षेत्र प्रथम वर्ण-परिवर्तन के समान व्यापक नहीं है। नियम की सीमाएँ भी निर्धारित नहीं हैं, अतः अनेक अपवाद भी हो सकते हैं। अपवादों के होने पर पुनः उनकी व्याख्या करने की आवश्यकता भी होगी। इस प्रकार के अपवादों को खोजकर टकर महोदय ने नियम के परिष्कार का भी प्रयास किया। **टकर** द्वारा संशोधित नियम इस प्रकार हो सकता है—

मूल भाषा	आदिम जर्मन	उच्च जर्मन
क्, त्, प्	ख् (ह्), थ्, फ्	×, द, स्ट ×
घ्, ध्, भ्	ग्, द्, ब्	× त ×
ग्, द्, ब्	क्, त्, प्	+ज (Z) स्स (SS) स्ज (SZ) फ्

ग्रिम नियम के प्रसिद्ध होने पर लोगों की रुचि इस ओर बढ़ी और विद्वानों ने ध्वनियों का अध्ययन किया तो ग्रिम नियम में उन्हें अनेक अपवाद मिले, परिणामतः इन नियमों को वैज्ञानिकता पर सन्देह किया गया। ग्रिम नियम सम्बन्धी शंकाओं के समाधान के लिए ग्रासमन (Grassmann) एवं ह्वर्नर (Verner) ने उपनियमों की ओर संकेत किया। इन दोनों ही विद्वानों द्वारा निर्दिष्ट नियम ग्रिम नियम के संशोधन ही हैं।

ग्रिम नियम के अनुसार साधारणतया क्, त्, प् के स्थान पर ख् (ह्) थ् फ मिलना चाहिए, किन्तु कहीं-कहीं यह परिवर्तन नहीं भी मिलता है। यदि क, त्, प्, से पूर्व स् आ जाये तो परिवर्तन नहीं होता है। प् को फ् तो हो जाता है, किन्तु K=Ch तथा Ch=को क नहीं होता है; उदाहरण के लिए—

लैटिन	गाथिक	उच्च जर्मन
Pescis	feskis	fisch
Hostis	Gosts	—
Spicis	—	—

इस प्रकार त T के पूर्व क KT या प Pt होने पर परिवर्तन नहीं होता है, जैसे—

आदिम	सं०	ले०	गा०	उ० ज०
ओक्तौ	अष्टौ	Okto	Ahtau	Acht
	नप्ता	Neptis	—	Nift
एस्ति	अस्ति	प्रस्त	इस्त	इज्

इन उदाहरणों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इनमें ग्रिम नियम के अनुसार ध्वनि-परिवर्तन नहीं हुआ। इसका कारण भी स्पष्ट है। स्त्, स्क्, प्त्, क्त संयुक्त ध्वनियाँ हैं। इस स्थिति में यह नियम स्थिर होता है कि इन संयुक्त ध्वनियों के साथ होने पर ग्रिम नियम लागू नहीं होता है।

ग्रासमन (Hermann Grassmann—१८०९-१८७७)—ग्रिम नियम के सम्बन्ध में कुछ अपवाद थे, जिनका अभी संकेत किया गया है। किन्तु ग्रिम नियम का व्यापक परीक्षण करने पर उसमें अन्य अपवाद भी मिले हैं, उन अपवादों की व्याख्या ग्रासमन ने की है, अतः उस नियम को ग्रासमन नियम की संज्ञा दी गयी है।

ग्रिम नियम के अनुसार शब्दों में साधारणतया क् त् प् को ख् (ह्), थ्, फ् होना चाहिए, किन्तु ग् द् ब् होता है; जैसे—

मूल भाषा	अंग्रेजी
Kigkho	Go
Tuplus	Dumb
Pithos	Body

किन्तु ग्रिम नियम के अनुसार यह परिवर्तन न होकर क K के स्थान पर ख Kh अथवा ह्h होकर Kho अथवा Ho होना चाहिए था, किन्तु Go होता है। इसी प्रकार त् को थ् न होकर Dumb होता है। प् को फ् न होकर Body होता है। किन्तु यह बात यहाँ विशेष ध्यान देने की है कि इन अपवादों में भी एकरूपता है। अतः ग्रासमन ने अपनी शंका का स्वयं ही समाधान इस प्रकार किया है कि यदि भारोपीय मूल भाषा में शब्द या धातु के आदि और अन्त में भी महाप्राण ध्वनियाँ हों तो परिवर्तन होकर एक अल्पप्राण हो जाता है।

जैसा कि उपर्युक्त ग्रीक के किग्खो, तुप्लास और पिथास से क्रमश: Go, Dumb कौर Body बने हैं, न कि Ho, Thunb और Fody। इसी प्रकार संस्कृत की धा धातु से धाधामि न बनकर दधामि, भृ धातु से भभार न बनकर बभार, हु धातु से हहार न बनकर जहार, हु धातु से हुहोति न बनकर जुहोति क्रियाएँ बनती हैं। संस्कृत में इसका रहस्य 'अभ्यासे चर्च' सूत्र में निहित है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि भारोपीय मूल भाषा की दो अवस्थाएँ रही होंगी। प्रथम अवस्था में तो महाप्राण रहे होंगे, द्वितीय अवस्था में नहीं। अतः अपवादस्वरूप क्, त्, प्, के स्थान पर ग्, द्, ब्, मिलते हैं। प्राचीन आदिम भाषा के काल में इसी स्थान पर ख्, (ह्), थ्, फ् रहा होगा, जो कि परिवर्तित अवस्था में ग्, द्, ब् हो गया है और ख्, थ्, फ् का पुनः ग्, द्, ब् हो जाना नियमानुकूल है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि ग्रासमन के संशोधन के अनुसार, "भारोपीय मूल भाषा में यदि एक वर्ण या धातु आदि और अन्त दोनों में प्राण ध्वनि अन्यत्र महाप्राण स्पर्श हो, तो संस्कृत, ग्रीक आदि में एक अल्पप्राण हो जाता है।"[1]

वर्नर का नियम (Law of Carl Verner)—ग्रिम नियम में ग्रासमन के संशोधन के पश्चात् भी कुछ अपवाद रह गये हैं। वर्नर ने अध्ययन कर यह निश्चित किया कि ग्रिम नियम स्वराघात पर आधारित था। तदनुसार यदि भारोपीय मूल भाषा के क्, त्, प् के पूर्व उदात्त स्वर हो तो परिवर्तन ग्रिम नियम के अनुसार ही होगा और यदि उदात्त स्वर क्, त्, प् के बाद होगा तो परिवर्तन एक पग आगे कार्य

1. सरल भाषा-विज्ञान, पृ० २३२।

करेगा और वह ग्रासमन के नियम की भाँति ख्, थ्, फ् की अपेक्षा ग, द, भ हो जायगा; जैसे—

संस्कृत	ले०	गा०	अंग्रेजी
युवशस (श=क)	Juvencus	Juggs	young
शतम्	Centum	Hundra	hundra
लिम्पामि	Lippus	bileiba	Belife
सप्तन्	Septem	Sibum	Seven

ग्रिम ने यह भी संकेत किया था कि स् के लिए स् ही मिलता है, किन्तु कुछ स्थलों पर 'र' पाया जाता है। ह्वर्नर ने इसका भी कारण स्वराघात को बताया है। ह्वर्नर के अनुसार यदि स् से पूर्व स्वराघात हो तो 'स' ही रहेगा, यदि बाद में हो तो 'र' हो जायगा।

ह्वर्नर ने एक बात का और भी संकेत किया है कि यदि मूल भारोपीय के क्, त्, प् के साथ पहले 'स्' संयुक्त हो जैसे स्क, स्त, स्प (Sk, St, Sp) तो जर्मनिक में किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता है।

तालव्यभाव-नियम (Platal Law)

तालव्यभाव का नियम कब और कैसे बना, निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इस विषय पर अनेक विद्वान् स्वतन्त्र रूप से कार्य करते रहे हैं जिनमें विल्हेन, थामसन, श्मिट, एशाम, तेंगार, कालित्ज देशे शोर तथा ह्वर्नर आदि विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं।

इस नियम के निर्माण से पूर्व अन्य सगोत्रीय भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत अधिकतर भारोपीय है, यह धारणा थी। मूल भारोपीय भाषा में दन्त्य और ओष्ठ्य व्यंजन के अतिरिक्त तीन प्रकार के कण्ठ्य स्पर्श थे—शुद्ध कंठ्य, मध्य कंठ्य और तालव्य। इनका विकास परवर्ती भाषाओं में भिन्न-भिन्न ढंगों से हुआ। पश्चिमी भारोपीय भाषाओं में (ग्रीक, इटाली, जर्मन, कैल्टिक) में मध्यम कंठ्य और तालव्य का एक तालव्य वर्ग बन गया और कंठ्य स्पर्शों में एक ओष्ठ्य (व) w ध्वनि सुन पड़ने लगी। पूर्वी भाषाओं आर्मेनियम, बोल्टो, स्लाह्वोनिक आर्य में कंठ्य ध्वनियों में ओष्ठ्य भाव नहीं आया, पर कंठ्य ध्वनियों के साथ मिलकर एक वर्ण बन गया। इन्हीं पूर्वी भाषाओं में मूल तालव्य आकर घर्ष बन गये।"[1]

जिन संस्कृत शब्दों में 'अ' ग्रीक या लेटिन के ओ (O) की भाँति है, उसके पूर्व 'क' या 'ग' ही पाया जाता है, परन्तु यदि वही 'अ' ग्रीक या लेटिन के पूर्व ई E की भाँति है तो उससे पूर्व कंठ्य क या ग न मिलकर तालव्य च और ज मिलते हैं—

---

1. भाषा-विज्ञान के सिद्धान्त, पृ० १९८।

संस्कृत	अस्ति	जनः	अ	अपः	दद्र्श	अस्थि
ग्रीक	Esti	genos	इ—o		ḍedorka	osteon
लेटिन	Aste	genus	इ—u	opus	×	os

इसी प्रकार पच् धातु से निष्पन्न 'पचति' और 'पकस' में भी यही बात है। अतः यह निस्कर्ष निकला कि संस्कृत अ ध्वनि के स्थान पर इ या ओ ध्वनियाँ मूल भाषा में थीं। अग्र स्वर ई के पूर्व का तृतीय कंठ्य वर्ग 'अकुह विसर्जनीयानां कंठः' मूल भाषा का अन्य भाषाओं में तालव्य 'इचुयशानां तालु' व्यंजन में परिवर्तित हो जाता है। कंठ्य ध्वनियों के तालव्य ध्वनियों में परिवर्तित होने के कारण इसे तालव्य नियम कहते हैं।

प्रश्नावली

१. ध्वनियों की उत्पत्ति के स्थान का विवेचन कीजिए तथा स्वरों और व्यंजनों के उच्चारण में ध्वनिमूलक अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

२. ध्वनियों का स्थान तथा प्रयत्न सम्बन्धी विश्लेषण कीजिए और दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश डालिए।

३. स्वराघात किसे कहते हैं ? वह कितने प्रकार का होता है ?

४. ध्वनि-विकार से आप क्या समझते हैं ? ध्वनि-विकार के सामान्य भेदों का उल्लेख कीजिए।

५. ध्वनि-परिवर्तन के नियम क्या हैं ? क्या वे नियम शाश्वत हैं ? इनमें से कतिपय नियमों को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

६. ध्वनि-नियम से आप क्या समझते हैं ? क्या ध्वनि-नियम भी अन्य वैज्ञानिक नियमों की भाँति अकाट्य हैं ? ग्रिमकृत ध्वनिमूलक सिद्धान्त का उल्लेख कर इस प्रश्न पर पूर्ण प्रकाश डालिए।

७. ग्रिम के ध्वनि नियम का प्रतिपादन करते हुए उनके संशोधनों का स्पष्टीकरण कीजिए।

8. Give a brief outline of the mechanism of speech, pointing out functions of various speech-organs in producing qualitative changes in sounds. (A. U., 1961)

9. Explain the general mechanism of speech and show how the vowel sound differs from that of a consonant. (A. U., 1962)

10. Describe the mechanism of speech, with special reference to Sanskrit alphabetic sounds. (A. U., 1964 58)

11. Describe the functions of various speech-organs in producing different kinds of sound. (1959)

12 What is a Phonetic Law ? Compare it with the inexorable laws of physical nature. (A. U., 1962)

13. Explain Grim's Law, bringing out clearly its different features from other phonetic laws and state how it was applicable to Sanskrit and English language. (A. U., 1962, 63, 64)

14. Write a note on the importance of Phonetic laws in Philology. (A. U., 1962)

15. 'Sound shifting is based upon precise Phonetic laws', Illustrate.

16. What are the main features of Grimm's Law, Grassmann's law and Verner's law ? Illustrate. (A. U. 1965)

17. Explain Grimm's Law with apt illustrations and point out its defects. (A. U., 1960)

18. Explain with illustrations the nature and the importance of Grimm's Law. (A. U., 1955, 56)

19. Attempt short explanatory notes :—

Vowel gradation (A. U., 55, 56, 58, 59, 62, 64)
Verner's Corollory (A. U. 59)
Cerebralization (A. U., 55, 58. 60)
Palalal Law (A. U., 55, 58, 59, 62, 64, 67; 69)
Verner's Law (A. U., 56, 59, 63)
Syncope (A. U., 58, 59, 62, 63, 64, 65)
Haplology (A. U., 55, 62, 63, 65)
Pitch and Stress accent (A. U., 64)
Ablaut (A. U., 62)
Prothesis (A. U., 63, 64, 65)
Samprasarana
Metathesis (A. U., 63, 64, 60, 58)
Anaptyxis (A. U., 57, 59, 60, 63, 64, 65)
Assimilation and dessimilation (A. U., 57, 64, 69)
Inner speech (A. U. 65)
Phonetic Laws (60)
Psychical aspects of speech (60)
Grassmann's Law (58, 60)
Grimm's Law (57, 69)

२०. निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए—
तालव्यी भाव का नियम, ग्रासमन नियम, स्वरों का वर्गीकरण, आदिस्वरागम और विपर्यय विशेषीकरण का नियम। (आ० वि० १९६६)

२१. स्वरागम, स्वरभक्ति, वर्ण-विपर्यय, समाक्षरलोप, (आ० वि० १९६९)

२२. ध्वनि-परिवर्तन की मुख्य दिशाओं और प्रकारों पर एक लेख लिखें। (आ० वि० १९६८)

२३. ग्रिम ध्वनि-नियम की सोपपत्तिक व्याख्या करते हुए उसका महत्त्व निरूपित कीजिए।

सप्तम अध्याय

अर्थ-विचार

- अर्थ-विज्ञान
- अर्थ-विज्ञान का विषय
- अर्थ-परिवर्तन की दिशाएँ
- अर्थ-परिवर्तन के कारण
- बौद्धिक नियम

प्रश्नावली

अर्थ-विचार

अर्थ-विचार (Semantigue)

भाषा के साथ अर्थ का महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है। भाषा-शरीर का निर्माण यदि शब्दों से होता है तो आत्मा अर्थ है। सम्भवतः शब्द-अर्थ के नितान्त अपरिहार्य महत्त्व के कारण ही कालिदास ने लिखा था—

"वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थः प्रतिपत्तये" इसी भाव को तुलसी ने भी **'गिरा अर्थ जल-वीचि सम'** कहकर व्यक्त किया है। किन्तु अर्थ का महत्त्व असामान्य है। यास्क ने कहा है कि जिस प्रकार बिना अग्नि के शुष्क ईंधन प्रज्वलित नहीं हो सकता, उसी प्रकार बिना अर्थ समझे जो शब्द दुहराया जाता है, वह कभी अभीप्सित विषय को प्रकाशित नहीं कर सकता—

यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैन शब्दयते।
अनग्नाविव शुष्कैन्धो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥—निरुक्त १।१८

आगे भी यास्क ने लिखा है कि—"जो बिना अर्थ जाने वेदों का अध्ययन करता है, वह केवल भार ढोता है। अर्थ को जानने वाला ही समस्त कल्याणों का भागी होता है और ज्ञान की ज्योति से समस्त दोषों का निराकरण कर ब्रह्मत्व का अधिकारी होता है।

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।—निरुक्त १।१८

आशय यह है कि अर्थ के अभाव में न शब्द का महत्त्व है और न भाषा का। शब्द तो अर्थ की अभिव्यक्ति का साधन मात्र है। शब्द शरीर है और अर्थ आत्मा। अर्थ का सामान्य लक्षण है—"शब्द के द्वारा जो प्रतीति होती है, उसे अर्थ कहते हैं—

यस्मिंस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थ प्रतीयते।
तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम्॥

—वाक्यपदीय २।३३०

अर्थात् जिस शब्द के उच्चारण से जब जिस अर्थ की प्रतीति होती है, वही उसका अर्थ है; अर्थ का अन्य लक्षण नहीं है। आशय यह है कि अर्थ का मूल तत्त्व प्रतीति है और प्रतीति का सीधा सम्बन्ध मानसिक पक्ष से है।

नामकरण

भाषा-विज्ञान में पाश्चात्य विद्वानों ने अर्थ के सम्बन्ध में किये हुए कार्य को अनेक नामों से अभिहित किया है। प्रोफेसर पोस्ट गेट ने अर्थ-विचार सम्बन्धी कार्य को रिह्मटालाजी (Rhematology) कहा है। दूसरी ओर ब्रील महोदय (Michel Breal) ने सेमन्टिक (Semantique) नाम दिया है। एक अन्य विद्वान् ने सेमसोलाजी (Semasialogy) नाम भी दिया है। इन सभी शब्दों का अर्थ 'माने तत्त्व' या 'माने विचार' है। किन्तु ये दोनों ही शब्द विद्वानों को रुचिकर प्रतीत नहीं हुए हैं। परिणामतः इसके शब्दार्थ-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान, अर्थ-विचार आदि भी नामकरण हुए हैं। इन नामों में अर्थ-विज्ञान एवं अर्थ-विचार नाम अधिक लोकप्रिय हैं।

अर्थविज्ञान का इतिहास

भाषा के साथ अर्थ का निकट सम्बन्ध है, अतः भारतवर्ष में भाषा-अध्ययन के साथ ही अर्थ के सम्बन्ध में भी पर्याप्त कार्य हुआ है। गोपथ ब्राह्मण (१/१/२६) में शब्दों की अपेक्षा अर्थ को अधिक महत्त्व प्रदान किया है—'रूप सामान्यादर्थ सामान्यं नेदीयः'

इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में मन (भाव-अर्थ) से वाणी को लघु माना गया है—'वाग्वै मनसोह्सीयसी'

यास्क के निरुक्त (१/२०) में भी शब्द निर्वचन प्रसंग में अर्थ-विचार भी किया गया है—

'अथानन्वितेऽर्थेऽ प्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः
परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन ।'

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त व्याकरण-शास्त्र, न्याय-मीमांसा, साहित्य के लक्षण ग्रन्थों में भी शब्दार्थ के सम्बन्ध में सूक्ष्म विचार किया गया है। किन्तु आधुनिक तुलनात्मक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जो कार्य किया जाता है, वह दृष्टि इन ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से १९वीं शताब्दी में ब्रील (Michel Breal) महोदय ने ही सर्वप्रथम इस विषय पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। अर्थ-विज्ञान पर कार्य करने वाले अन्य विद्वानों में टकर, रिचर्स बालपॉल, हेमन्तकुमार सरकार, डा० हरदेव बाहरी, विजन बिहारी भट्टाचार्य, कपिलदेव द्विवेदी आदि महत्त्वपूर्ण पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वान हैं।

अर्थ-विज्ञान का विषय—शब्द और अर्थ का अभेद सम्बन्ध है। इस अभेद

सम्बन्ध के कारण ही अनेक समस्याएँ पाठकों के सम्मुख उपस्थित हैं। पहला प्रश्न तो यह है कि शब्द और अर्थ का क्या नित्य सम्बन्ध है। विभिन्न भाषाओं में भाव एवं विचार व्यक्त करने के साधन क्या हैं ? उनकी सीमाएँ क्या हैं ? प्रत्येक भाषा में अनेक शब्द अनेकार्थक क्यों हैं ? उन अर्थों में क्या कोई परस्पर सम्बन्ध है या नहीं ? उदाहरण के लिए, '**पाद**' शब्द के पैर, चौथा भाग, किसी पद्य का एक चरण, भाग आदि अनेक अर्थ हैं; इसी प्रकार '**गौ**' शब्द के गौ, पृथ्वी, किरण, इन्द्रिय आदि अनेक अर्थ हैं। इन अनेकार्थक शब्दों के सम्बन्ध में यह भी प्रश्न सम्भव है कि विभिन्न शब्दों के ये अनेकार्थ क्या पूर्णतः स्वतन्त्र हैं। अथवा प्रत्येक अर्थ मौलिक है। इसी प्रकार काव्य-शास्त्र के ग्रन्थों में शब्द की अभिधा, लक्षणा और व्यंजना नामक तीन शक्तियाँ मानी गयी हैं। उनके आधार शब्द का अर्थ क्रमशः वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य भेद से तीन प्रकार का है। सभी दृष्टियों से अर्थ पर विचार किया जाना अपेक्षित है। डाक्टर मंगलदेव ने लिखा है—

"वास्तव में देखा जाय तो अर्थ-विज्ञान में सभी सम्भव दृष्टियों से अर्थ या शब्दार्थ के विषय में वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए। ऐसा होने पर भी, सामान्यतः अर्थ-विज्ञान (या अर्थ विचार) का विषय यही समझा जाता है कि शब्दों के सर्वसम्मत प्रचलित या प्रसिद्ध अर्थों को लेकर उनके विकास या ऐतिहासिक परम्परा को दिखाया जाय। दूसरे शब्दों में, किसी शब्द के अर्थ में देशान्तर या कालान्तर में होने वाले परिवर्तन का विचार ही सामान्यतः अर्थ-विज्ञान का विषय समझा जाता है।"[1]

अर्थ-परिवर्तन के कारण

अर्थ-परिवर्तन के अनेक कारण होते हैं। एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं और उनके अर्थों का निर्धारण प्रकरण के द्वारा ही सम्भव है। इसीलिए व्यवहार में एक शब्द के अनेक अर्थ होने पर व्यवहारकर्ता एक ही अर्थ में कार्य करता है। उदाहरण के लिए, रसोई घर में बैठे हुए महाराज ने दूसरे नौकर से कहा— "**सैन्धवमानय।**" इस समय नौकर नमक ही लाता है, घोड़ा नहीं। राजदरबार के जाने के समय साईस '**सैन्धवमानय**' कहने पर अश्व ही लाकर देगा, नमक नहीं। आशय यह है कि प्रकरण ही अर्थ का नियामक होता है। भाषा में शब्द के अर्थ में अन्तर अनेक कारणों से होता है :

१—भाषान्तर के गृहीत शब्दों में नवीन सामाजिक वातावरण के कारण अर्थ-परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण के लिए, शीशा फारसी से पारदर्शी मिश्र धातु है, किन्तु हिन्दी में यह दर्पण वाचक है। इसी प्रकार अंग्रेजी के Glass, Copy, Report आदि हिन्दी में पात्र-विशेष, उत्तर-पुस्तिका तथा शिकायत अर्थ क्रमशः सूचित करते हैं।

---

1. तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, पृ० १३७।

२—सम्बद्ध भाषाओं के शब्दों में बौद्धिक सम्पर्क के आधार पर अर्थान्तर हो जाता है; जैसे—संस्कृत वाटिका (बगीचा) शब्द हिन्दी में बाड़ी, बगीची तथा बँगला में घर अर्थ का वाचक है। संस्कृत देव (देवता) शब्द ईरानी में दानव अर्थ का वाचक है।

३—प्रसंग भेद से शब्दों में अर्थान्तर का उदाहरण ऊपर दिया है। इसी प्रकार चारा हिन्दी में 'घास' का सूचक है, फारसी में यही चारा शब्द 'उपाय' अर्थ में प्रयुक्त है। 'आम' शब्द हिन्दी में फलवाचक है, किन्तु अरबी में यह 'साधारण अर्थ' में प्रयुक्त होता है।

४—कुछ शब्द ऐसे भी हैं जो मूलतः अभिन्न होते हुए भी प्रकरण के कारण विभिन्न अर्थों को प्रकट करते हैं; जैसे—

अर्थ=धन, अभिप्राय, प्रयोजन।
नाग=साँप, हाथी, फल।
पाद=पैर, चौथा भाग, चरण।

५—एक ही भाषा में काल-भेद में एक शब्द के विभिन्न अर्थ हो जाते हैं। यह अर्थ-भेद कई प्रकार से मिलता है—

(क) मूल में सामान्यार्थक शब्द कालान्तर में विशेषार्थक हो जाता है; जैसे—'मृग' शब्द पशु मात्र का वाचक था, किन्तु बाद में यह हरिणावाचक बन गया।

(ख) मूल में विशेषार्थक शब्द कालान्तर मे सामान्यार्थक हो जाते हैं; जैसे—'उद्दण्ड' शब्द मूलतः 'दण्ड उठाये हुए उद्धत मनुष्य' का सूचक था, किन्तु बाद में यह सामान्यतः 'उद्धत मनुष्य' का वाचक बन गया।

(ग) मूल में मूर्त या ऐन्द्रियक अर्थ रखने वाले शब्द कालान्तर में अमूर्त या बौद्धिक अर्थ को प्रकट करने लगते हैं। जैसे—अनुग्रह (अनु+ग्रहण=भार आदि उठाने में सहायता देना) शब्द बाद में कृपा अर्थ की सूचना देने लगा।

(घ) मूल में भाववाचक शब्द पीछे से मूर्त अर्थ को देने लगते हैं; जैसे—'भवन'='होना' अर्थ से 'घर' का सूचक, 'शयन' सोने के अर्थ के अर्थ बिछौना का वाचक बन गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन एवं शब्दों के उदाहरणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि अर्थ-विकास या अर्थ-परिवर्तन के अनेक रूप हो सकते हैं। किन्तु अर्थ-विज्ञान के प्रमुख अध्येता ब्रोल महोदय ने अर्थ विकास की तीन दिशाओं का निर्देश किया है :

(१) अर्थ-विस्तार (Expansion of meaning or Widening)

(२) अर्थ-संकोच (Contraction of meaning or Narrowing)

(अ) अर्थान्तरण अथवा अर्थसंक्रमण—अर्थादेश (Transference of meaning)

अर्थ-विस्तार

अर्थ-विस्तार में शब्दों का अर्थ अपने मौलिक अर्थ के रहते हुए, **अपने सीमित क्षेत्र का अतिक्रमण कर व्यापक अर्थ को सूचित करने लगता है।** अर्थ-विस्तार के सम्बन्ध में **टकर** महोदय का कहना है कि अर्थ-विस्तार तो होता ही नहीं है, किन्तु जिसे हम अर्थ-विस्तार कहते हैं वह वस्तुतः अर्थादेश है। किन्तु टकर का यह कथन आज मान्य नहीं है, क्योंकि अर्थ-विस्तार होता है, किन्तु अर्थ- संकोच के समान नहीं। अतः अर्थ-विस्तार को अर्थादेश कहना भ्रामक सिद्धान्त है। उदाहरण के लिए 'तेल' शब्द पहले केवल 'तिल के तेल' के लिए प्रयुक्त होता था, किन्तु आज सभी प्रकार के तेलों के लिए, यहाँ तक कि मिट्टी के तेल के लिए भी प्रयुक्त होता है। कभी-कभी किसी व्यक्ति से कठिन परिश्रम कराया जाता है, उस समय भी कहा जाता है कि 'उस का तेल निकाल लिया।' इसी प्रकार कुछ अन्य शब्दों को हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं, जोकि अर्थ-विस्तार को प्राप्त हो चुके हैं :

शब्द	**मौलिक अर्थ**	**विस्तृत अर्थ**
अभ्यास	बाण आदि फेंकना अभि+असन	प्रयत्न
स्याही	काला रंग	स्याही, मसि
गवेषणा	गाय ढूँढ़ने की इच्छा	अनुसन्धान
प्रवीण	वीणा बजाने में कुशल	चतुर
कुशल	कुश उखाड़ने में दक्ष	दक्ष
निपुण	पुण्य करने वाला	अच्छे-बुरे सभी कार्यों को करने में चतुर

भाषा में इस प्रकार के अनेक शब्द मिल जाते हैं, जिनका अर्थ-विस्तार हो चुका है।

अर्थ-संकोच

अर्थ-संकोच होने पर सामान्य या विस्तृत अर्थ का द्योतक **शब्द किसी विशिष्ट या संकुचित अर्थ में प्रयुक्त** होने लगता है। ब्रील का कथन है कि जो जाति या देश जितना ही अधिक सभ्य होगा, उसकी भाषा में अर्थ-संकोच उतना ही अधिक होगा। यह नियम विकासवाद के सिद्धान्त के अनुकूल पड़ता है। सभ्यता का विकास जैसे-जैसे हुआ शब्दों के अर्थ भी सामान्य से विशेष होते गये होंगे; जैसे—'मृग' प्राचीन काल में सभी जानवरों के लिए प्रयुक्त होने वाला शब्द था, किन्तु आज 'मृग' शब्द केवल हरिण के अर्थ का वाचक है। इसी प्रकार आगे दिये गए शब्द भी अर्थ-संकोच को प्राप्त हो चुके हैं।

शब्द	मौलिक अर्थ	संकुचित अर्थ
वेद	विद्या	ऋग्वेद आदि
वर	जो माँगा जाय	दूल्हा
धान्य	अन्न मात्र	धान
अछूत	अस्पर्श्य	जाति विशेष
पयः	पीने का पदार्थ जल	दूध

इसी प्रकार से किसी भी भाषा में अनेक शब्दों का अनुसन्धान किया जा सकता है।

अर्थादेश

भाव साहचर्य के कारण किसी शब्द के प्रधान अर्थ के साथ कभी-कभी एक गौण अर्थ भी चलने लगता है, किन्तु कुछ दिन पश्चात् प्रधान अर्थ क्रमशः लुप्त होकर गौण अर्थ में ही वह शब्द प्रयुक्त होने लगता है। इस प्रकार एक अर्थ के लोप होने और नवीन अर्थ के आ जाने को अर्थादेश कहते हैं। उदाहरणार्थ 'असुर' शब्द ऋग्वेद में देवतावाची है। ईरान में भी 'अहुर' शब्द देवता वाचक ही है, किन्तु निषेधात्मक 'अ' के कारण असुर शब्द 'राक्षस', 'दैत्य' के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। 'दुहितृ' शब्द दुहने वाली से कन्या के लिए रूढ़ हो गया है। 'देवानां प्रियः' देवताओं के भक्त अर्थ में अशोक ने 'अपने लिए' प्रयुक्त किया था, किन्तु आज यह शब्द मूर्ख का वाचक है। इसी प्रकार :

शब्द	मौलिक अर्थ	नया अर्थ
सपत्न	एक ही स्त्री के लिए लड़ने वाला	शत्रु
पाषण्ड	साधुओं का सम्प्रदाय	भ्रष्टाचार
उपवास	अग्नि के पास रहना	भूखा रहना, व्रत
अनुग्रह	पीछे से हाथ लगाना	कृपा

मूलतः अर्थ-परिवर्तन की उपर्युक्त तीन दिशाएँ ही हैं, किन्तु व्यापक दृष्टि से विचार करने पर अर्थ-परिवर्तन की अनेक दिशाएँ दृष्टिगत होती हैं। उन सभी दिशाओं का अन्तर्भाव इन्हीं तीन दिशाओं में किया जा सकता है। प्रो० ह्विटनी (Whitney) ने अर्थ-परिवर्तन को दो वर्गों में ही बाँटा है—

(१) साधारणीकरण या सामान्यभाव।
(२) असाधारणीकरण या विशेषभाव।

"साधारणीकरण में विशेष अर्थ में सीमित शब्द सामान्य अर्थ में प्रचलित हो जाता है और विशेषीकरण में सामान्य अर्थ में प्रचलित शब्द विशेष अर्थ में संकुचित हो जाता है। इन्हें क्रमशः अर्थ-विस्तार और अर्थ-संकोच कहा जा सकता है।"

इनके अतिरिक्त भो शब्दों के अर्थों में उत्कर्ष और अपकर्ष भी देखा जाता है। इन्हें अर्थोत्कर्ष (Ascending of meaning of elevation), अर्थापकर्ष (Descending of meaning or Degeneration) कहते हैं।

अर्थोत्कर्ष—शब्दों के अर्थ परिवर्तित होकर पहले से अधिक उन्नत भाव की सूचना देते हैं। उदाहरण के लिए, 'साहस' शब्द संस्कृत में व्यभिचार या हत्या के लिए प्रयुक्त होता था—

मनुष्यमारणस्तेयं परदाराभिमर्षणम् ।
पारुष्यमनृतं चैव साहसं पञ्चधा स्मृतम् ॥

किन्तु अब वह हिन्दी में एक अच्छे कार्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'धृष्ट' शब्द का अर्थ निर्लज्ज है, किन्तु बँगला में इससे उत्पन्न 'ढीठ' शब्द का अर्थ सीधा और सरल है। इसी प्रकार '**कर्पट**' संस्कृत शब्द पालि में 'कापट' हिन्दी में 'कपड़ा' है। इस संस्कृत '**कर्पट**' शब्द का अर्थ जीर्ण कपड़ा '**पट्टचरम जीर्ण वस्त्र समौलक्तक कर्पटो**' (अमर कोष) है। किन्तु अर्थोत्कर्ष के पश्चात् हिन्दी में सभी अच्छे वस्त्रों के लिए प्रयुक्त होता है। संस्कृत में '**मुग्ध**' शब्द अच्छे और बुरे '**मुग्धस्तु सुन्दरे मूढ़े**' अर्थ में प्रयुत्त होता था, किन्तु वही आज भोले-भाले के लिए प्रयुक्त होता है। '**फिरंगी**' शब्द पहले पुर्तगाली डाकू के लिए था, आज वह यूरोपियन जाति के लिए प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार अंग्रेजी का नाइट (Knight) शब्द है—प्राचीन अंग्रेजी Cnight शब्द का अर्थ लड़का या नौकर था। जर्मन में Knecht शब्द आज भी नौकर अर्थ में प्रयुक्त होता हैं। यही नाइट शब्द एक सम्मानित पदवी के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है।

अर्थापकर्ष—अर्थापकर्ष अर्थोत्कर्ष का विलोम शब्द है। एक में अर्थ का उत्कर्ष होता है तो इसमें अपकर्ष; उदाहरण के लिए—'जुगुप्सा' शब्द '**गुप्**' धातु से बना है। इसका अर्थ है छिपाना। किन्तु जुगुप्सा शब्द क्रमशः छिपाना, पालना आदि अर्थों के बाद आज घृणा अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार 'गुह्य' शब्द भोजपुरी में ध्वनि-परिवर्तन के कारण 'गूह' बन गया जिससे अर्थ की अपकर्षता आ जाने से इतना अश्लील समझा जाता है कि सभ्य समाज में इसका व्यवहार नहीं होता है। **महाजन** श्रेष्ठ व्यक्ति से सूदखोर के अर्थ में, '**महापात्र**' विद्वान् से मृत व्यक्ति का दान लेने वाला, **महाराज**—प्रभुता की सूचना देने के बाद रसोइये आदि अर्थ में प्रयुक्त होता है। प्राचीन अंग्रेजी में Cnafa शब्द का अर्थ 'लड़का' या 'नौकर' था परन्तु आज इसी शब्द से निर्मित अंग्रेजी Knava शब्द का अर्थ 'धूर्त' है।

अर्थापकर्ष का भाषा के शब्द-समूह पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। जिन शब्दों में अर्थापकर्ष अधिक हो जाता है, वे धीरे-धीरे अश्लील होने के कारण शब्द-समूह से निकाल दिये जाते हैं और उनका स्थान नवीन शब्दों के द्वारा पूरा किया जाता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि तत्सम शब्द तो अपने मूल अर्थ में प्रयुक्त होता रहता है किन्तु उससे निकले तद्भव, अर्द्ध-तद्भव शब्द का अर्थापकर्ष हो जाता है और वह हीन अर्थ में प्रयुक्त होने लगता है। जैसे, स्तन से थन, गर्भिणी से गाभिन

शब्दों के मूल 'स्तन' और 'गर्भिणी' नारी के लिए तथा 'थन' और 'गाभिन' शब्द पशु के लिए प्रयुक्त होते हैं।

अर्थ-भेद—कभी-कभी शब्द का अर्थ बिना उत्कर्षापकर्ष, मूर्त्त, अमूर्त्त हुए भी भिन्न अर्थ देने लगता है, उसे अर्थ-भेद कहते हैं; जैसे—'घर्म्य' शब्द का तद्भव 'घाम', हिन्दी में धूप का वाचक है किन्तु बँगला में वही 'पसीने' का वाचक है।

अर्थापदेश—अप्रिय, अशुभ, भयानक, अमंगलसूचक बातों को इसलिए सुन्दर शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाता है कि उनका दोष कम कर दिया जाय। इस प्रकार सुन्दर शब्दों द्वारा अभिव्यक्त शब्द ही इसके अर्थ का द्योतक हो जाता है। उदाहरण के लिए, मृत्यु होने को 'स्वर्गवास' या 'पंचत्व को प्राप्त होना', लाश का मिट्टी, वैधव्य को चूड़ी फूटना आदि। यह अर्थापदेश, अर्थ-भेद तथा अर्थापकर्ष के मिश्रण से बनने वाला अर्थ है।

इनके अतिरिक्त **मूर्तिकरण, अमूर्तिकरण, अनेकार्थता,** रूपक आदि को भी अर्थ-विकास की दिशाएँ विद्वानों ने स्वीकार किया है, किन्तु मूलतः तीन ही अर्थ-विकास की दिशाएँ हैं। इन्हीं में अन्य सभी का अन्तर्भाव किया जा सकता है।

अर्थ-परिवर्तन के कारण—परिवर्तन एवं विकास सृष्टि का नियम है। समय की गति के साथ-साथ प्रत्येक पदार्थ परिवर्तित होता है। मानव-मन में सर्वदा परिवर्तन होता रहता है। परिणामस्वरूप, उसके विचार भी सदा समान नहीं रह पाते। भाषा विचारों की वाहिका है। अतः उसे भी विचारों का साथ देना पड़ता है। इसके कारण भाषा के शब्दों एवं उनके अर्थों में भी परिवर्तन होता रहता है। इन परिवर्तनों के कारण इतने संश्लिष्ट होते हैं कि उनके मूल में स्थित विभिन्न कारणों पर पृथक्-पृथक् विचार करना सरल नहीं है। अर्थ-परिवर्तन के कुछ कारणों का हम निर्देश करने जा रहे हैं, किन्तु परिवर्तन के ये कारण एकाकी ही अर्थ-परिवर्तन नहीं कर देते, अपितु अन्य कारणों का भी उस अर्थ-परिवर्तन में योग होता हैं। अर्थापकर्ष, अर्थापदेश, अर्थोत्कर्ष, अर्थ-संकोच, अर्थ-विस्तार आदि अर्थ-परिवर्तन के प्रधान कारण हैं। इनके अतिरिक्त भी कुछ कारण हैं जो निम्न हैं:

(१) **शब्दों में बल का अपसरण**—किसी शब्द के उच्चारण में यदि केवल एक ध्वनि पर बल (Stress) देने लगें तो धीरे-धीरे शेष ध्वनियाँ बलहीन होकर लुप्त हो जाती हैं। इसी प्रकार अर्थ में भी, किसी शब्द के अर्थ में प्रधान पक्ष से हटकर बल यदि दूसरे पर आ जाता है तो धीरे-धीरे वही अर्थ प्रधान हो जाता है और प्रधान अर्थ लुप्त हो जाता है; जैसे—'अरि' शब्द के वैदिक काल में शत्रु घर, ईश्वर और धार्मिक अर्थ थे, किन्तु आज अरि शब्द का अर्थ 'शत्रु' मात्र हो गया है।

(२) **अनुकरण की अपूर्णता**—मनुष्य अनुकरणप्रिय प्राणी है। यह मानव की सहज प्रवृत्ति है। परन्तु अनुकरण कला में मानव पूर्ण नहीं है, अतः व्यक्तित्व और विचार-शक्ति के अनुसार कुछ-न-कुछ परिवर्तन आ जाता है। इसी प्रकार

पीढ़ी परिवर्तन के साथ ही अर्थ में भी परिवर्तन आ जाता है; जैसे—पत्र (Letter) पुस्तक के पृष्ठ कागज को पत्र कहा जाता है। इसका कारण यह है कि प्राचीन काल में पत्तों और भोजपत्र पर ही लिखा जाता था। नई पीढ़ी ने कागज आदि को भी उस पर लिखा जाने के कारण पत्र कहना प्रारम्भ कर दिया है। साथ ही प्रश्न-पत्र, (Letter) भी पत्र ही हो गये हैं।

(३) **अन्य भाषा से शब्दों का उधार लेना**—कभी-कभी संसर्ग या आवश्यकता के कारण विभिन्न भाषाओं से शब्द ऋण रूप में लिया जाता है, किन्तु अर्थ परिवर्तित हो जाता है। जैसे, फारसी में मुर्ग पक्षी मात्र को कहा जाता है, किन्तु हिन्दी में एक पक्षी-विशेष के लिए यह शब्द रूढ़ हो गया है। अंग्रेजी में Corn 'अनाज' को कहते हैं, किन्तु अमरीका में 'मक्का' को; क्योंकि मक्का अमरीका का प्रधान अनाज था।

(४) **एक भाषा-भाषी लोगों का प्रवास**—प्रवास के कारण भी विभिन्न स्थानों पर शब्दों के अर्थों का अपनी-अपनी परिस्थिति और वातावरण के अनुसार स्वतन्त्र रूप से विकास होता है; उदाहरण के लिए—संस्कृत में **'वाटिका'** शब्द का अर्थ बाग-बगीचा है, किन्तु बँगला में इस शब्द का अर्थ 'घर' है। इसी प्रकार सस्कृत के **'नील'** शब्द का अर्थ हिन्दी में 'नीला' है, किन्तु गुजराती में उसका रूप 'नीलो' होकर अर्थ 'हरा' है।

(५) **वातावरण में परिवर्तन**—भौगोलिक, सामाजिक, धार्मिक वातावरण में परिवर्तन के साथ ही साथ शब्द अपने अर्थों में भी परिवर्तन कर देता है। उदाहरण के लिए, भौगोलिक दृष्टि से वेदों में **'उष्ट्र'** शब्द **'भैंसे'** के लिए है, किन्तु यही शब्द बाद में 'ऊँट' के लिए प्रयुक्त होने लगा।

(६) **नामकरण**—भाषा के परिवर्तन का प्रधान कारण प्रयत्न लाघव है। प्रयत्न-लाघव अर्थ-परिवर्तन में भी महत्त्वपूर्ण है। मानव-समाज अपनी सीमित शब्द-सम्पत्ति के द्वारा नवीन वस्तुओं—नवीन नामों, आविष्कारों आदि—के लिए उन्हीं सीमित शब्दों का प्रयोग करता है। "प्रायेण परिचित पदार्थों या अनुभवों के साथ किसी प्रकार के सादृश्य आदि के सम्बन्ध के आधार पर उनके बोधक पुराने शब्द ही आवश्यक अर्थ-परिवर्तन से नवीन पदार्थों या अनुभवों के लिए दे दिये जाते हैं।"[1]

(क) **नवीन पदार्थों के लिए**—ऋग्वेद में 'सोम' नामक पदार्थ का व्यापक वर्णन है। इसका यज्ञों में प्रचुर प्रयोग होता था। किन्तु भारत में सोम दुष्प्राप्य होने के कारण वैदिककाल में ही 'पूतीकतृण' को सोम नाम प्रदान कर उसी का यज्ञादि में प्रयोग किया जाने लगा।

---

1. तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, पृ० १४५।

पर्वतों पर 'बिच्छू' नामक एक घास होती है। उसके स्पर्श से बिच्छू नाम के कीड़े के डंक लगने के समान पीड़ा होती है। इसलिए उसे 'बिच्छू' भी कहते हैं। भारत में जब 'शीशे' के गिलासों का प्रचलन हुआ, उन्हें अंग्रेजी Glass (शीशा) से निर्मित होने के कारण 'गिलास' कहा गया और जब 'पीतल' आदि के गिलास बने उन्हें भी वही नाम दिया गया। Pen शब्द का अर्थ 'पंख' है, प्राचीनकाल मे पंख के कलम बनते थे। अतः उन्हीं के आधार पर इन कलमों को भी Pen कहा जाने लगा है।

(ख) **नवीन सम्बन्धों के लिए—'भैया'** शब्द मूल में संस्कृत भ्रातृत्व (सगा भाई) है किन्तु बाद में परिचितों के लिए व्यवहार में भाई शब्द का प्रयोग होने लगा है। 'ठाकुर' (संस्कृत 'ठक्कुर') शब्द मूलार्थ में देवतापरक है किन्तु आज विभिन्न प्रान्तों मे विभिन्न जातियों के लिए प्रयुक्त हो रहा है। **'महाराज'** शब्द का अर्थ आज मौलिक अर्थ प्रभुतासम्पन्न से बहुत ही बदल गया है और यह रसोइये का वाचक हो गया है।

(ग) **नवीन आवश्यकता और आविष्कारों के लिए**—आज अनेक वस्तुओं के नाम प्राचीन ही हैं, किन्तु आशय नवीन अर्थ में होता है; जैसे—'घड़ी' चौबिस मिनट का समय एक घड़ी माना जाता था, किन्तु आज घड़ी शब्द समय-सूचक यन्त्र के लिए प्रयुक्त हो रहा है। नवीन वस्तुओं के नामकरण 'मुद्रणालय', 'प्रकाशन', मुद्रण, कक्षा, पटल=बोर्ड आदि शब्द इसी कोटि में आते हैं।

(७) **शिष्टाचार, नम्रता की भावना**—भाषा में शिष्टाचार का भी पर्याप्त महत्त्व रहता है। इसके मूल में दो कारण हैं—प्रथम, अपने को अच्छा सिद्ध करना द्वितीय, दूसरे व्यक्तियों की भावना को ठेस न पहुँचाना। इसी कारण तू, तुम, आप, श्रीमान्, हजूर, अत्रभवान्, भगवान् जैसे शब्दों का प्रयोग होता है। 'सूरदास' शब्द का प्रयोग अन्धे के लिए तथा 'घर' को दौलतखाना अथवा गरीबखाना कहा जाता है। आशय यह है कि शिष्टाचार के कारण भी शब्दों के अर्थों में परिवर्तन हो जाता है।

(८) **अशोभन शब्दों के स्थान पर शोभन शब्दों का प्रयोग**—सांसारिक अशुभ चीजों से मनुष्य अलग रहना चाहता है। अतः अपने मंगल के लिए अशुभ अथवा भयसूचक बातों या शब्दों से वह बचता है। इसी के कारण शब्दों का प्रयोग तथा उसका अर्थ परिवर्तित होता जाता है। मृत्यु होने पर स्वर्गवास कहते हैं। चूड़ी फूटना विधवा होने का सूचक है, अतः सामान्यतः चूड़ी फूटने पर 'चूड़ी मौर गयीं' कहा जाता है।

(९) **आत्म-श्लाघा की भावना**—मनुष्य अपनी बुद्धिमानी एवं प्रतिभा प्रदर्शन के लिए कभी-कभी चुभती हुई बात कहता है। इसीलिए कुछ शब्द ऐसे प्रयुक्त होते है जो देखने में सुन्दर प्रतीत होते हैं, किन्तु—उनका भाव विपरीत होता है; जैसे—

'देवनां प्रियः' (मूर्ख), 'वैयाकरण-खसूचिः (प्रतिभारहित), कुक्कुटमिश्र—पादाः (पल्लवग्राहि पाण्डित्य से युक्त), 'बुद्धि के समुद्र' (बुद्धिहीन)।

(१०) **अधिक वर्णों के स्थान पर कम वर्णों का प्रयोग**—जैसे बाईसिकिल के लिए साइकिल अथवा बाइक का प्रयोग। बाइक शब्द भी साइकिल अर्थ का सूचक है।

(११) **सादृश्य (Analogy)**—सादृश्य के कारण भी कभी-कभी शब्दों के अर्थों का विकास होता है। गोस्वामी शब्द के इसी कारण अनेक अर्थ मिलते हैं, जैसे—गायों का स्वामी, धार्मिक पुरुष, इन्द्रियों का स्वामी, ईश्वर तथा यह शब्द ब्राह्मणों के एक वर्ग का वाचक भी बन गया है।

(१२) **पुनरावृत्ति**—शब्दों का दुहरा प्रयोग भी अर्थ-विकास का कारण बनता है। उदाहरण के लिए—**'अचल'** शब्द का अर्थ है पर्वत, किन्तु बिन्ध्याचल पर्वत, हिमाचल पर्वत, मलयगिरि पर्वत आदि शब्दों से वही विन्ध्य पर्वत आदि आशय लिया जाता है। अभीहाल अत्यधिक आदि शब्द भी इसी प्रकार के हैं।

(१३) **एक शब्द का दो रूपों में प्रचलन**—जब किसी एक शब्द के दो रूपों का प्रचलन हो जाता है, तो उन दोनों रूपों में से किसी एक में कुछ भेद कर लिया जाता है, क्योंकि भाषा दुगुना भार सँभालने में असमर्थ है; जैसे—स्तन व थन शब्दों का अर्थ एक ही है, किन्तु इन दोनों में भेद करके स्तन स्त्री के लिए थन पशुओं के लिए प्रयुक्त किया जाता है—स्त्री 'गर्भिणी' कही जाती है और 'पशु' गाभिन। "अर्थ विचार के प्रसिद्ध मनीषी ब्रील ने इसे भेदभाव का नियम कहा है। उनका भी यही कहना है कि सामान्य जनता का मस्तिष्क एक ही अर्थ के दो शब्द नहीं ढो सकता।"

(१४) **अज्ञानवश**—कुछ मनुष्यों को बड़े तथा अप्रचलित शब्दों के प्रयोग की बीमारी होती है, परिणामतः अर्थ समझे बिना भी कुछ अशुद्ध प्रयोग होने लगते हैं; जसे—क्रान्ति के अर्थ में ही उत्क्रान्ति (मृत्यु) का प्रयोग; ज्ञान अर्थ में ही अभिज्ञान (स्मृति) का प्रयोग। आशय यह है कि अज्ञान तथा मनोयोग के अभाव में शब्दों में अर्थ-परिवर्तन प्रत्येक भाषा में मिलता है।

(१५) **एक वर्ग के एक शब्द में अर्थ-परिवर्तन**—शब्द अधिकतर वर्गों म रहते हैं, जब एक वर्ग के किसी एक शब्द का अर्थ परिवर्तित हो जाता है तो वह उस वर्ग के दूसरे शब्दों पर भी अपना प्रभाव डालता है; जैसे—'दुहिता' शब्द का अर्थ 'गाय दुहने वाली' था, किन्तु बाद में उसी शब्द का 'लड़की' अर्थ हो जाने पर दौहित्र, दौहित्रि, दौहित्रायण आदि शब्दों के अर्थ भी परिवर्तित हो गये। इसी प्रकार जब 'वर' दुर्लभ हो गया, तो वह दूलह कहलाने लगा। फिर वधू भी दुलही या दुलहिन कही जाने लगी।

(१६) **व्यंग्य**—व्यंग्य के कारण भी शब्दों में नये अर्थ प्रचलित हो जाते हैं;

जैसे—संस्कृत में 'देवानांप्रियः शब्द मूर्ख का द्योतक है, वैसे ही आज दुष्ट के लिए 'महात्मा' शब्द प्रचलित हो गया है। इसी प्रकार 'पूरे देवता', अक्ल के ठेकेदार, से मूर्ख का अर्थ लिया जाता है। 'चार आँख वाला' शब्द कम देखने वाले का सूचक है। 'लक्ष्मीपति' गरीब अर्थ का वाचक है।

(१७) **भावावेश**—भावावेश की स्थिति में भी शब्दों का प्रयोग विचित्र अर्थों में किया जाता है; जैसे—प्यार में बच्चों को शैतान, बदमाश तक भी कह दिया जाता है। किन्तु इनका अर्थ उसके अच्छे गुण एवं उनकी कुशलता का सूचक है।

(१८) **अलंकार**—भावों और अर्थों के स्पष्टीकरण के लिए अलंकारों, मुहावरों का प्रयोग किया जाता है। शैतान की खाला, छिपा रुस्तम, काला नाग, आदि शब्दों का प्रयोग अपने अन्दर मार्मिक अर्थों को छिपाये हैं। **ब्रील** के कथनानुसार अन्य कारणों की अपेक्षा अलंकारों के प्रयोगों से अर्थ एक क्षण में परिवर्तित हो जाता है। इसी प्रकार शब्द के साथ अनजाने नवीन अर्थ का साहचर्य, व्यक्तिगत योग्यता, शब्दों के अर्थ का अनिश्चय, शब्दों का अधिक प्रयोग, किसी जाति या राष्ट्र के प्रति सामान्य मनोभाव आदि भी अर्थ-परिवर्तन में कारण स्वरूप माने जा सकते हैं।

साहित्यशास्त्रियों (भर्तृहरि) ने शब्दों के द्वारा विशेष अर्थ-व्यंजना के निम्न कारणों का भी निर्देश किया है—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥

'संयोग' के द्वारा शब्द का अर्थ नियमित होता है; जैसे—'सशंखचक्रो हरिः'। इस प्रयोग में जहाँ शंख और चक्र का संयोग होगा वहाँ अनेकार्थक 'हरि' पद 'विष्णु' का वाचक होगा। **'विप्रयोग'** के द्वारा, जैसे—'अशंखचक्रोहरि'। यहाँ पर शंख चक्र से विप्रयुक्त हरि से आशय भगवान् विष्णु का ही है। **'साहचर्य'** द्वारा—वाचकता का नियमन 'अर्जुन' शब्द का अर्थ स्वच्छ, एक वृक्ष विशेष तथा कुन्ती का तृतीय पुत्र है। यदि 'भीमार्जुन' शब्द का प्रयोग है तो यहाँ अर्जुन' शब्द का अर्थ पाण्डव-पुत्र है। **विरोध'**—संस्कृत में 'कर्ण' शब्द का अर्थ 'कान' है। कर्ण महाभारत का प्रसिद्ध पात्र भी है। यदि हम 'कर्णार्जुन' कहते हैं तो यहाँ 'कर्णार्जुन' से अभिप्राय कुन्तीपुत्र कर्ण है, न कि कान से; क्योंकि महाभारत में कर्ण और अर्जुन की शत्रुता प्रसिद्ध ही है। 'अर्थ'—संसार को विपत्तियों के त्राता 'स्थाणु' की मैं वन्दना करता हूँ—'स्थाणुं भज भवच्छिदे' में स्थाणु से आशय भगवान् शिव से है, न कि खम्भे से। **'प्रकरण'**—'सैन्धवमानय' पद में प्रयुक्त 'सैन्धव' शब्द के दो अर्थ हैं—नमक और घोड़ा। यदि कोई व्यक्ति यात्रा के प्रसंग में इस वाक्य का प्रयोग करता है, उस

समय 'सैन्धव' शब्द का अर्थ है घोड़ा, और यदि कोई भोजन के अवसर पर इसका प्रयोग करता है तब 'सैन्धव' का अर्थ है नमक। **लिङ्ग**—'कुपितो मकरध्वजः' प्रयोग में मकरध्वज शब्द के दो अर्थ—समुद्र और कामदेव हो हैं। **'सन्निधि'**—शब्दों की समीपता से 'भगवान पुरारि' इस वाक्य में 'पुरारि' शब्द का अर्थ ही प्रकट करता है। पुर का अर्थ नगर भी है, और नगर के शत्रु व्यक्ति हो सकते हैं, किन्तु भगवान् शब्द के सान्निध्य के कारण 'पुरारि' शब्द का अर्थ शंकर ही होता है। **'सामर्थ्य'**—'मधुनामत्तः पिकः' वाक्य में मादकता के सामर्थ्य के कारण नानार्थक 'मधु' पद से केवल 'वसन्त' रूप अर्थ ही समझा जा सकता है, मद्य आदि रूप नहीं। **'औचिती'**—"पातु वो दायितामुखम्" इस प्रयोग में जहाँ औचित्य के कारण (विरह में परित्राण रूप औचित्य के कारण) 'दयितामुख' पद से केवल 'प्रियतमा की अनुकूलता' ही अभीष्ट है, न कि उसका मुख। **'देश'**—'भात्यत्र परमेश्वरः' इस प्रयोग में 'देश' राजधानी रूप स्थान के कारण परमेश्वर से यहाँ अभिप्राय राजा से है न कि भगवान से। **'काल'**—'चित्रभानुर्विभाति' इस वाक्य में प्रयुक्त 'चित्रभानु' शब्द सूर्य तथा अग्नि अर्थ का वाचक है, किन्तु काल के अनुसार रात्रि में 'चित्रभानु' का अर्थ अग्नि है तथा दिन में 'चित्रभानु' से आशय सूर्य से है। **'व्यक्ति'**—'मित्रंभाति' इस वाक्य में नपुसंकलिंग का 'मित्र' शब्द केवल 'सुहृद' रूप अर्थ का और 'मित्रोभाति' प्रयोग में पुल्लिग का 'मित्र' शब्द केवल 'सूर्य रूप अर्थ का ही वाचक हो सकता है। **'स्वर'** उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के भेद से तीन प्रकार के हैं। 'इन्द्र शत्रु' इस पद के स्वर भेद के कारण इन्द्र का जो शत्रु, अन्य कोई व्यक्ति और इन्द्र ही जो शत्रु अर्थात् इन्द्र ये दो अर्थ हो जाते हैं पर यह स्वर-भेद से अर्थ-परिवर्तन वैदिक मन्त्रों में ही होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम अर्थ-परिवर्तन के अनेक कारणों को देखते हैं, किन्तु इन कारणों को किसी सीमा-रेखा में बाँधना सम्भव नहीं है, क्योंकि समीकरण इतने संश्लिष्ट हैं कि उनका पृथक् पृथक् निर्देश करना सम्भव नहीं है। 'रूप-परिवर्तन' और 'ध्वनि-परिवर्तन' के कारणों को तो किसी अंश तक सीमित भी किया जा सकता है पर अर्थ-परिवर्तन की सीमा इसलिए नहीं है कि प्रयोगकर्त्ता अपनी रुचि, आवश्यकता, प्रसंग आदि के अनुसार मनमाने परिवर्तन कर देता है।[1]

बौद्धिक नियम

भाषा के विषय में नियमों पर विचार करने से पूर्व यह प्रश्न स्वभावतः उत्पन्न होता है कि नियम किसे कहते हैं तथा उनका निर्माण कैसे होता है। "यदि विशेष परिस्थितियों में पड़कर कोई एक क्रिया समय और स्थान की सीमा का

---

1. सरल भाषाविज्ञान, पृ० २७२।

अतिक्रमण कर सर्वथा एक ही प्रकार से घटित हुआ करती है तो उस क्रिया को नियम संज्ञा दी जाती है।"

भाषा के अन्दर दो प्रकार के परिवर्तन क्रमशः होते रहते हैं—ध्वनि, और अर्थ से सम्बद्ध। दोनों में ही कुछ समय पश्चात् बड़ा परिवर्तन दीख पड़ता है। जब अर्थ के अनुसार भाषा में परिवर्तन होता है, तब उन विकारों का बुद्धिगत कारण होता है। उन कारणों का विचार करके जो नियम स्थिर किये जाते हैं, वे **बौद्धिक नियम** कहलाते हैं, किन्तु जब केवल अर्थों में विकार तथा कारण दिखाये जाते हैं, तब वे अर्थ-विचार के अन्तर्गत आते हैं। ध्वनि नियम एवं बौद्धिक नियम में भी स्वल्प अन्तर है। **ध्वनिनियम** देश और काल की सीमाओं के अन्तर्गत कार्य करते हैं, जबकि **बौद्धिक नियम** इस प्रकार की सीमाओं से परे हैं। वे स्वतन्त्र रूप से अनेक देश, अनेक भाषाओं तक अपनी सीमाओं को फैला सकते हैं। इस प्रकार नियम की परिभाषा बौद्धिक नियमों पर घटित नहीं होती। फिर भी अर्थविचार के सम्बन्ध में कुछ नियमों का निर्धारण हुआ है, जिन्हें बौद्धिक नियम कहा गया है। वे इस प्रकार हैं।

(१) विशेष भाव का नियम (The Law of Specialization)—जब एक अर्थ को प्रकट करने के लिए अनेक शब्द प्रयुक्त होते हैं और फिर कारणवश शब्द कम हो जाते हैं, तब इस परिवर्तन अथवा विकार का कारण **विशेषभाव** माना जाता है। क्योंकि इसमें अनेक से एक की ओर विशेषीकरण होता है। जैसे, यदि एक ही व्याकरण का सम्बन्ध दिखाने के लिए अनेक प्रत्ययों का प्रयोग होता है, उन अनेक प्रत्ययों में से कुछ समय के पश्चात् एक-दो प्रत्ययों का ही उपयोग रह जाता है। उदाहरण के लिए, संस्कृत में विशेषण की अवस्थाएँ होती हैं—Comparative and Superlative degrees। संस्कृत के तर, तम, ईयस और इष्ठ दो प्रकार के प्रत्ययों को देखकर ज्ञात होता है कि दोनों एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। किन्तु आगे चलकर दूसरे प्रकार के प्रत्यय ही विजयी हुए। आज इसीलिए गरीयस् महीयस्, श्रेयस्, प्रेयस् की अपेक्षा श्रेष्ठ, महिष्ठ, आदि प्रत्ययों की सत्ता सुरक्षित है। दूसरी ओर संख्या-वाचक प्रत्ययों में 'तम' के संक्षिप्त रूप 'म' की अधिकता दिखाई देने लगी, जैसे प्रथम, पंचम, सप्तम, अष्टम, नवम, दशम। ईयस् प्रत्यय से बने हुए संख्यावचक दो संख्याओं में सुरक्षित हैं—द्वितीय और तृतीय। 'इष्ठ' का 'थ' केवल 'चतुर्थ' और 'षष्ठ' में सुरक्षित है। इस प्रकार तारतम्य बोध कराने में एक प्रत्यय ने और संख्या का बोध कराने में दूसरे ने विशेषता प्राप्त कर ली है। यही विशेष भाव का नियम है। ब्रील महोदय ने ठीक ही लिखा है—The Law that operates here is, according to him, the law of specialization. One single word assumes the functions of all these comparative and superlatives. In french it is plus, in English more, German mehr, Marathi अधिक (adhika). It must be noted that this specielized word is, in many cases, itself a comparative. To quote Breal, "Among all words of a

certain kind distinguished by a certain grammatical imprint, there is always one which is litile by little drawn apart from its fellows, It becomes the precmint exponent of the grammatical conception of which it bears the stamp. But at the same time, it loses its individual value, and is on more than a grammatical instrument, one of the wheels of the phrase."[1]

"ब्रील के अनुसार यहाँ विशेषीकरण का नियम है। एक अकेला शब्द इन सभी की तुलना एवं सर्वोत्तमता सूचक अंशों का कार्य करने लगता है। फ्रेंच में यह Plus, अंग्रेजी में More, जर्मन में Mehr तथा मराठी में अधिक है। यह ध्यान देने योग्य है कि यह विशेषीकृत शब्द कई स्थानों पर स्वयं भी तुलनासूचक होता है। ब्रील के शब्दों में, "किसी विशिष्ट व्याकरणिक छाप से युक्त विशेष प्रकार के सभी शब्दों में सदैव एक ऐसा होता है जो धीरे-धीरे अपने वर्ग से पृथक् होना जाता है। अंततः यह उस व्याकरणिक धारणा, जिसकी कि उस पर छाप है, का सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि बन जाता है। किन्तु साथ ही स्वतन्त्र शब्द के रूप में इसका निजी मूल्य समाप्त हो जाता है और यह एक व्याकरणिक साधन-वाक्यांश के तत्वों में से एक से अधिक कुछ नहीं रह जाता।"

संस्कृत की तृतीया विभक्ति में पहले 'आ' तथा 'ना' दोनों प्रकार के प्रत्यय लगते थे; जैसे—हरिणा, हस्तिना, साधुना। किन्तु आजकल 'आ' वाले रूपों का क्रमशः ह्रास हो रहा है। प्राचीनकाल की विभक्तियों के स्थान पर अब परसर्गों का प्रयोग हो रहा है। इसमें भी विशेष भाव का नियम कार्य कर रहा है। अंग्रेजी के सम्बन्ध कारक चिह्न S में भी विशेष भाव की प्रवृत्ति ही पायी जाती है।

(२) **भेदीकरण का नियम (The Law of Differentiation)**—प्रत्येक भाषा में कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिन्हें पर्यायवाची कहा जाता है और पर्यायवाची शब्दों का समान रूप से प्रयोग चिरकाल तक चलता रहता है। इन पर्यायवाची शब्दों का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है कि उन **समानार्थ शब्दों में भी अर्थ की दृष्टि से कुछ भिन्नता है। अर्थ की इस भिन्नता को रखने वाला नियम भेदीकरण कहलाता है।** दूसरे शब्दों में, भाषा की यह एक सामान्य प्रवृत्ति है कि कोई भी दो शब्द एक साथ प्रयुक्त नहीं हो सकते, किन्तु किसी भी भाषा में विभाषा आदि के प्रभाव के कारण दो अथवा दो से अधिक पर्यायवाची हो जाते हैं, तब वे शब्द जिस प्रक्रिया द्वारा भिन्नार्थ-बोधक हो जाते हैं उसे **भेदीकरण का नियम** कहा जाता है। डा० पी० डी० गुणे लिखते हैं—

"Differentiation in defined as **the international** ordered process, by which words apparently **synonymous**, have nevertheless

1. Dr. P. D. Gune, **Comparative Philology**. p. 70.

taken different meaning and can on longer be used indescriminately"[1] अर्थात् "भाषा में भेदीकरण उस प्रक्रिया को कहते हैं जिसके द्वारा पर्यायवाची प्रतीत होने वाले शब्द भी भिन्न अर्थ ग्रहण कर लेते हैं और उनका एक दूसरे स्थान पर मनमाना प्रयोग नहीं किया जा सकता। यह प्रवृत्ति विश्व की सभी भाषाओं में मिलती है।"

उदाहरण के लिए, पाठशाला, विद्यालय, विश्वविद्यालय, स्कूल, मदरसा आदि शब्द यद्यपि लगभग पर्यायवाची हैं, किन्तु आज प्रत्येक शब्द से विभिन्न प्रकार के विद्यालय का बोध होता है। इसी प्रकार डाक्टर, वैद्य, हकीम कविराज आदि शब्द पर्यायवाची होते हुए भी अपने अन्तर भेद को लिये हुए हैं। यदि एक अंग्रेजी दवाओं का प्रयोग करता है, तो दूसरा आयुर्वेदीय औषधों का तथा तीसरा यूनानी चिकित्सा का समर्थक है। कविराज शब्द आयुर्वेदीय शास्त्रीय विज्ञान से युक्त वैद्य का प्रतीक है। धात्वर्थ और यौगिक अर्थ को महत्त्वहीन करने वाली सबसे बड़ी प्रक्रिया भेदीकरण है। एक ही भू धातु और एक ही उपसर्ग 'अनु' से बने 'अनुभव' और 'अनुभाव' में भेद है। बुद्धि और बौद्ध, श्राद्ध और श्रद्धा में भी भेद हैं।

(३) उद्योतन का नियम (The Law of Irradication)—यदि किसी विशेष शब्द के साथ कोई विशेष रूप जोड़ देने से वह किसी अच्छे या बुरे अर्थ को व्यक्त करने लग जाय तो उस अर्थ परिवर्तन करने वाले नियम को **उद्योतन का नियम** (Law of Irradication) कहा जाता है। इस उद्योतन के नियम के कारण ही लिंग भेद के नियम भी प्रायः बन जाते हैं। 'गोपा' पुल्लिग और 'माला' स्त्रीलिंग के शब्द हैं। किन्तु स्त्रीवाचक शब्दों में 'आ' की अधिकता पाये जाने के कारण उसे स्त्रीलिंग का प्रत्यय मान लिया गया है। कभी-कभी प्रकृति का अंश भी उद्योतन के द्वारा प्रत्यय बन जाता है; यथा—'पश्चात्' प्रकृति से 'पाश्चात्य' रूप बना है। बाद में यही 'आत्य' प्रत्यय बन गया है। फलस्वरूप, दाक्षिणात्य, पौर्वात्य जैसे शब्द बनने लगे हैं।

(४) विभक्तियों के भग्नावशेष का नियम (Survival of Inflections)—भाषा-विशेष में कुछ भावों को अभिव्यक्त करने के लिए यदि कुछ विभक्तियों का प्रयोग किया जाता है, कुछ समय के पश्चात् वे विभक्तियाँ लुप्त हो जाती हैं तो सामान्यतया यह मान लिया जाता है कि विभक्तियाँ समाप्त हो गयी हैं। किन्तु ऐसा न होकर वे विभक्तियाँ यत्र-तत्र स्फुट शब्दों में प्रयुक्त होती रहती हैं, इसी को **विभक्तियों के भग्नावशेष का नियम** कहते हैं। उदाहरणार्थ, संस्कृत में अनेक विभक्ति रूप थे; किन्तु हिन्दी में वे प्रायः लुप्त हो गये हैं, तथापि यत्र-तत्र उनकी छाया विभिन्न रूपों में मिल जाती है; जैसे—पूर्णतया, सामान्यतः, वस्तुतः, अतः, दैवात्, हठात्, अगत्या।

---

1. Comparative Philology, p. 77-78.

(५) **मिथ्या-प्रतीति का नियम (Law of Perception)**—अज्ञानवश जो अर्थ-परिवर्तन होता है, उसे मिथ्या-प्रतीति का नियम कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, मिथ्या बात को भ्रमवश सत्य मान लेना ही मिथ्या-प्रतीति है। उदाहरणार्थ, 'अ' का संस्कृत में अर्थ है 'नहीं' यद्यपि 'असुर' शब्द का अर्थ देवता था, किन्तु संस्कृत में 'अ' के आधार पर—सुर=देवता और असुर=जो देवता नहीं है, अर्थात् राक्षस अर्थ कर लिया गया। अंग्रेजी का आक्सन (Oxen) शब्द भी ऐसा ही है। यद्यपि इस शब्द का सम्बन्ध संस्कृत के 'उक्षन्' शब्द से है किन्तु अंग्रेजी के बहुवचनान्त en प्रत्यय के आधार पर ox एक वचनान्त से oxen बहुवचनान्त मान लिया गया है।

(६) **उपमान का नियम (Law of Analogy)**—मनुष्य अनुकरणप्रिय प्राणी है। भाषा के क्षेत्र में अनुकरण सादृश्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। किसी प्रकार के साम्य के आधार पर जो अर्थ-परिवर्तन होता है, उसे **उपमान का नियम** (Law of Analogy) कहा जाता है। ब्रील महोदय के अनुसार, 'उपमान का नियम भाषा में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य करता है।' उपमान का प्रयोग प्रमुख रूप से चार रूपों में होता है :

(१) भाव-प्रकाशन की किसी प्रकार की कठिनाई के दूरीकरण के लिए

(२) अधिक अस्पष्टता के लिए

(३) किसी विषय पर जोर देने के लिए

(४) किसी प्राचीन अथवा अर्वाचीन नियम से संगति मिलाने के लिए

उपमान के नियम के उदाहरण के लिए हम देखते हैं कि प्राचीन भारोपीय काल में उत्तम पुरुष वर्तमान काल के दो रूप थे—'मि' और 'ओ'। उपमान के प्रभाव से क्रमशः यह भेद मिट गया। संस्कृत में विद्वानों ने 'मि' को अपना लिया और ग्रीक में 'ओ' को। संस्कृत के 'अस्मि' और अवस्ता के 'अह्मि' की समानता का 'एह्मि' शब्द ग्रीक में मिलता है।

इन बौद्धिक नियमों के अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने अन्य नियमों—(१) नये लाभ का नियम, और (२) अनुपयोगी रूपों का विनाश, का भी निर्देश किया है। किन्तु ये दोनों नियम सामान्यतः उपमान या सादृश्य नियम में ही समाविष्ट हो जाते हैं।

बौद्धिक नियम एवं ध्वनि-नियम का अन्तर या तुलना

इस विवेचन के अनन्तर हमारे सामने यह प्रश्न स्वभावतः आता है कि क्या बौद्धिक नियम ध्वनि नियमों की भाँति ही वास्तविक नियमों के अन्तर्गत स्वीकार्य है अथवा नहीं। नियम का अर्थ है—"अपवाद रहित सर्वव्यापी और सदा सत्य निकलने वाले कानून।" किन्तु बौद्धिक नियम, नियम की इस परिभाषा के अन्तर्गत

नहीं आ सकते हैं, क्योंकि इन नियमों का अर्थ है कुछ व्यापारों और व्यवहारों में पाये जाने वाले स्थिर सम्बन्ध। ये बौद्धिक नियम ध्वनि की भाँति देशकाल की सीमाओं से परे हैं, ये किसी भी देशकाल की भाषा में अपना कार्य कर सकते हैं। ध्वनि नियम सापवाद होते हैं और निर्धारित सीमाओं के अन्दर ही कार्य करते हैं, किन्तु बौद्धिक नियम निपरवाद होते हैं और स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर सकते हैं। व्यापकता की दृष्टि से ध्वनि-नियम सबसे कम व्यापक, सबसे कम अकाट्य; किन्तु बौद्धिक नियम अपेक्षाकृत अधिक व्यापक और अधिक अकाट्य हैं। बौद्धिक नियमों से भी अधिक व्यापक और अकाट्य प्रकृति के नियम होते हैं।

प्रश्नावली

१. ब्रील के अनुसार अर्थ का विकास तीन दिशाओं में होता है। सविस्तार विवेचन कीजिए।

२. अर्थ-परिवर्तन के कारणों का विस्तारपूर्वक सोदाहरण विवेचन कीजिए।

३. अर्थ-परिवर्तन में बौद्धिक नियमों का क्या महत्त्व है? बौद्धिक नियमों की ध्वनि-नियम तथा प्राकृतिक नियमों से तुलना कीजिए।

४. शब्दार्थ परिवर्तन (Semantic Changes) के मुख्य कारण क्या हैं?

5. Write a note on semantic laws and illustrate them.
(A. U., 1964)

6. What are the semantic laws? Illustrate them.
(A. U., 1965)

७. अर्थविकास के नियमों पर समीक्षात्मक टिप्पणी लिखिए।
(आ० वि०, १९६७-६८)

अष्टम अध्याय

प्रागैतिहासिक खोज

- प्रागैतिहासिक खोज
- आदिमानव
- आर्यों का मूल स्थान
- प्रश्नावली

प्रागैतिहासिक खोज

मानव का मूल उद्भव स्थान क्या है, यह प्रश्न विवादास्पद रहा है। चिर-काल से यह प्रश्न मानव जिज्ञासा का प्रमुख विषय रहा है। भूमि-उत्खनन से जिस प्रकार अनेक तत्त्व प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार अनेक विद्वान् प्रागैतिहासिक काल के मानव-जीवन, मानव-संस्कृति तथा सभ्यता की जानकारी का प्रयत्न भी कर रहे हैं। भाषा-वैज्ञानिकों का मत है कि प्रागैतिहासिक अनुसन्धान के साधनों के द्वारा भाषा के आधार का अनुसन्धान किया जा सकता है। प्रागैतिहासिक साधनों के द्वारा सर्वप्रथम मैक्समूलर ने भाषा-विषयक अनुसन्धान करने का प्रयास किया था, उनके कुछ निष्कर्ष भी महत्त्वपूर्ण थे। उसी काल के अनेक भाषा-वैज्ञानिकों का ध्यान इस ओर गया है और भाषामूलक प्रागैतिहासिक अनुसन्धान भाषा-विज्ञान का प्रमुख अङ्ग बन गया है। इस खोज-कार्य में एक अनुसन्धानकर्ता को अन्य अनेक विज्ञानों—पुरातत्व शास्त्र (Archaeology), भूगर्भ विद्या (Geology), भूगोल (Geography) और मानव-विज्ञान (Anthropology) की सहायता भी अपेक्षित है।

भाषामूलक खोज की प्रक्रिया—भाषा का प्रमुख अङ्ग शब्द है, अतः भाषा-मूलक अनुसन्धान में किसी भाषा के शब्दों का अध्ययन परम आवश्यक है। शब्दों को भी अनेक वर्गों में विभक्त कर अध्ययन किया जाता है :

(१) नाम, मनुष्य, पशु-पक्षी
(२) प्रकृति सम्बन्धी—पर्वत, नदी, वृक्ष आदि
(३) क्रियापद
(४) संख्यावाचक शब्द
(५) सामाजिक शब्द
(६) धार्मिक शब्द
(७) आर्थिक शब्द
(८) राजनीतिक शब्द आदि

पूर्वोक्त सांकेतिक शब्दों से मानव-जाति के सम्बन्ध में सर्वाङ्गपूर्ण अनुसन्धान किया जाता है। जिस काल का जो शब्द होता है, वह उस काल की मानव प्रवृत्तियों का परिचायक होता है। "पहाड़, नदी, ऋतु, वृक्ष आदि वनस्पतियों के नाम से यह पता लगाया जाता है कि उस भाषा की रचना करने वाले लोग कहाँ रहते थे। उदाहरण के लिए, वेद में प्राप्त स्थलों, पहाड़ों; नदियों जलवायु आदि के आधार पर उनके मूल निवासस्थान जानने का अनुमान किया जाता है। क्रिया-पदों से अनुमान किया जाता है कि लोग क्या-क्या करते थे। उनकी बोल-चाल, व्यवहार, दस्तकारी, उद्योग-धन्धों, कला-कौशल, मननशीलता, चिन्ताधारा सभी पर अनुमान लगाया जाता है। शब्द ही बता देते हैं कि वे किस प्रकार के समाज में रहते थे, उनमें सामाजिक चेतना थी या नहीं, उनके कुछ देवी-देवता थे, उनके विचार करने की कुछ पद्धति थी, उनके अनुमान आदि सभी का पता विभिन्न प्रकार के शब्दों के समूह से चल जाता है और इस प्रकार आदिम युग का एक धुँधला चित्र प्रस्तुत हो जाता है।"[1]

एक भाषा के शब्दों से किसी अन्य भाषा के शब्दों की तुलना करते हुए इस अध्ययन के कार्य को विकसित कर अपने अनुसन्धान को पूर्ण किया जाता है। कभी-कभी अर्थ, ध्वनि और रूपों पर भी विचार किया जाता है। "दो भाषाओं में जब समान शब्द मिलते हैं पर उनमें अर्थ तथा ध्वनि में भेद है तो भी उन शब्दों का संग्रह किया जाता है, क्योंकि ध्वनि और अर्थ का परिवर्तन कालान्तर में संभव है।"......संज्ञा-शब्दों से क्रिया-शब्दों के साथ अध्ययन किया जाता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी भाषा में बैल मिलता है, पर 'जोतना' क्रिया नहीं मिलती, तो अनुमान लगाया जाता है कि बैल तो रहे होंगे, पर संभवतः तब उनका प्रयोग हल चलाने में न होता रहा हो। इस प्रकार भाषामूलक प्रागैतिहासिक खोज की रीति में शब्दार्थ-विज्ञान बड़ा महत्त्वपूर्ण है। अनुमान की प्रधानता अवश्य रहती है पर उसका आधार तर्क, भूगोल तथा पुरातत्त्व के तथ्य और मानव-शास्त्र (Anthropology) के सिद्धान्त रहते हैं।"[2]

आदि मानव

भाषाओं का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि मानव जाति का मूल एक नहीं होगा। आदि मानव एक स्थान पर उत्पन्न होकर विश्व में फैल गया हो ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि विश्व की भाषाओं की मूल एक भाषा सिद्ध नहीं होती है। किन्तु यह निश्चित है कि विश्व का एक बहुत बड़ा जन-समुदाय एक ही मूल से विकसित होकर आज के रूप में विद्यमान है। इस विकसित मानवता का मूल आर्य जाति को स्वीकार किया गया है।

---

1. सरल भाषा-विज्ञान, पृ० ३३२-३३३।
2. वही, पृ० ३३३।

मानव-जाति का आदि विकास कहाँ हुआ है ? यह भी एक विवादास्पद विषय है। इस विषय पर अनेक विद्वानों ने अनेक प्रकार से विचार किया है। कुछ विद्वानो का मत था कि मानव जाति का विकास यूरोप-अमरीका से हुआ है, किन्तु आज यह मत मान्यता प्राप्त नहीं हैं, क्योंकि मानव-जाति का पूर्वज बन्दर को माना जाता है। वानर जाति की सत्ता अमरीका में सिद्ध नहीं होती है। अतः वहाँ मानव जाति का आदि स्थान सम्भव नहीं है :—

"It is true that the Cradle of the human race can hardly have been in America to cite one objection the Anthropoid apes which are indispensable to the theory of evolution as the connection link between the animal world and man have at no time been native there, any more than they are now, as the fossil finds in all American excavations have passed."[1]

उस काल में यूरोप की जलवायु इस योग्य न थी कि वहाँ मानवों के पूर्वज रह सकें, स्तनधारी प्राणि-समूह एशिया से ही गया है, वह वहाँ उत्पन्न नहीं हुआ है :

"We need not, however, expect necessarily to find the proofs in Europe our nearest relatives in the animal kingdom are confined to hot almost to tropical climates."[2]

इस प्रकार यह निश्चित है कि मानव-जाति का आदि उदय यूरोप-अमरीका में नहीं हुआ है।

दूसरा मत मानव-जाति का उदय उत्तरी ध्रुव को स्वीकार करता है। वार्न सहाब ने अपनी पुस्तक 'Paradise Found or the Cradle of the Human Race at the North Pole' में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि आदि सृष्टि उत्तरी ध्रुव में हुई थी। इसी के आधार पर तिलक जी ने भी उत्तरी ध्रुव को आदि-सृष्टि का स्थान सिद्ध किया था। किन्तु "जब ज्योतिष सम्बन्धी विचारों की उन्नति हुई और डा० काल का यह सिद्धान्त कायम हुआ कि तीन लाख वर्षों के अन्दर पृथ्वी की केन्द्रच्युति तीन बार हुई है और उक्त प्रदेश में हिमपात का तूफान भी तीन ही बार हुआ है तब से माना जाने लगा है कि ऐसे स्थान में, जहाँ इस प्रकार की हिमप्रलय होती रहे, मनुष्य-जाति की आदि सृष्टि नहीं हो सकती और न वहाँ आबादी ही हो सकती है। हाल में तो जाना गया है कि वहाँ प्रति साढ़े दस हजार वर्ष में हिमपात हुआ ही करता है। इसलिए ऐसे स्थान में आदि सृष्टि हो ही नहीं सकती।" डा० एलेन्सन का कथन है कि "मनुष्य की खाल पर ध्रुवीय पशुओं के समान लम्बे बाल नहीं हैं, इसलिए इसे ध्रुवीय प्रदेश में रहने के

1. **Harmworth History of the world., p. 5676.**
2. **Lord Avebary's Pre-Historic Time, p. 403.**

लिए परमेश्वर ने नहीं बनाया। इसकी खाल पर पसीना निकलने वाल छोट-छोट रोम हैं, इसलिए यह अति शीत प्रदेश में बसने वाला प्राणी नहीं है।" निश्चित ही ध्रुव प्रदेश ऐसा स्थान है जहाँ प्राणी जीवित नहीं रह सकता :

"In the Arctic regions no trees. at all are found....and even the men who live there are dwarfs. At the poles all life ceases."

आशय यह है कि ध्रुव प्रदेश में मानव-ज़ाति का आदिम उदय सम्भव नहीं है।

कुछ वैज्ञानिकों के मत में एशिया और अफ्रीका के मध्यवर्ती पोलिनिशिया और जावा के समीप कहीं आदिम सृष्टि का उदयस्थल था, जो आजकल जल से आवृत्त है। डा० चचवर्ड आदि वैज्ञानिकों के अनुसार अफ्रीका के विक्टोरिया निआन्जा और टांगानीका सरोवर के पास मनुष्य का प्रादुर्भाव हुआ और वहाँ से मानव-जाति अन्यत्र फैली है। इसी तरह हैकल भी संयुक्त द्वीपसमूह को ही आदि सृष्टिस्थान प्रतिपादित करते हैं :

"There are a number of circumstances which suggest that the promeval home of man was a continent now sunk, below the surface of the Indian Ocean, which extended along the South of Asia as it is at present towards the coast as far as further Indian and Sundalands, towards west as far as Madagascar and the South Eastern Shores of Africa.

"This large continent of former time, Sclater, an English-man has called Lemuria, from the monkey-like animals which in habited it and it is, at the same time, of great importance from being the probable Cradle of the human race which in all likelihood here first developed out of anthropoid apes."[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि संयुक्त द्वीपसमूह पर रहने वाले मानव कपि-तुल्य नहीं थे, अपितु वे सभ्य, ज्ञानवान, रूपवान आर्य थे। अतः उनका जन्म-स्थान इन स्थानों की अपेक्षा एशिया में ही होना चाहिए। एशिया से सम्बन्ध रखने वाले मतों में निम्न विद्वानों के मत हैं :

(१) मैक्समूलर ने मध्य एशिया को आदि मानवों की जन्मभूमि माना है।
(२) बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न मंगोलिया का निर्देश करते हैं।
(३) स्वामी दयानन्द तिब्बत को मानते हैं।
(४) भारतीय सनातनधर्मी कुरुक्षेत्र को स्वीकार करते हैं।
(५) ईसाई, मुसलमान आदम और हौवा का जन्म बाग-अदन में मानते हैं।

उपर्युक्त समस्त मत प्रामाणिक उल्लेखों की अपेक्षा रखते हैं।

---

1. History of Creation, by Professor Haeckal, p. 325.

आर्यों का मूल स्थान

आर्यों के मूल स्थान के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। "भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन के प्रारम्भ में प्रायः भाषा और प्रजाति को अभिन्न मानकर एकोद्भव (मोनोजेनिक) सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ और माना गया कि भारोपीय भाषाओं के बोलने वालों के पूर्वज कहीं एक ही स्थान में रहते थे और वहीं से विभिन्न देशों में गये। भाषा-वैज्ञानिक साक्ष्यों की अपूर्णता और अनिश्चितता के कारण यह आदि भूमि कभी मध्य एशिया, कभी पामीर; कभी आस्ट्रेलिया, कभी हंगरी, कभी जर्मनी, कभी स्वीडन, नार्वे और आज दक्षिण रूस के व्यास के मैदानों में ढूँढ़ी जाती है। भाषा और प्रजाति अनिवार्य रूप से अभिन्न नहीं। आज आर्यों की विविध शाखाओं के बहूद्भव (पालिजेनिक) होने का सिद्धान्त भी प्रचलित होता जा रहा है, जिसके अनुसार यह आवश्यक नहीं कि आर्य-भाषा परिवार की सभी जातियाँ एक ही मानव-वंश की रही हों। भाषा का ग्रहण तो सम्पर्क और प्रभाव से भी होता आया है, कई जातियों ने तो अपनी मूल-भाषा छोड़कर विजातीय भाषा को पूर्णतः अपना लिया है। जहाँ तक भारतीय आर्यों के उद्भव का प्रश्न है, भारतीय साहित्य में उनके बाहर से आने का एक भी उल्लेख नहीं है। कुछ लोगों ने परम्परा और अनुश्रुति के अनुसार मध्य देश (स्थूल स्थाण्वीश्वर) तथा कजंगल (राजमहल की पहाड़ियाँ) और हिमालय तथा विन्ध्य माना है। पौराणिक परम्परा से विच्छिन्न केवल ऋग्वेद के आधार पर कुछ विद्वानों ने सप्तसिन्धु (सीमांत एवं पंजाब) को आर्यों की आदि भूमि माना है। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने ऋग्वेद में वर्णित दीर्घ अहोरात्र प्रलम्बित उषा आदि के आधार पर आर्यों की मूल भूमि को ध्रुव प्रदेश में माना है। बहुत-से यूरोपीय विद्वान् और उनके अनुयायी भारतीय विद्वान् अब भी भारतीय आर्यों को बाहर से आया हुआ मानते हैं।[1]

आर्यों के मूल स्थान के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने विभिन्न आधार लेकर अनुसन्धान किया है। मैक्समूलर इन अनुसन्धानकर्ताओं में प्रमुख हैं। मैक्समूलर के मत में आर्यों का निवास-स्थान मध्य एशिया है। मध्य एशिया से ही आर्य दो दिशाओं में गये—एक दल पूर्व-दक्षिण तथा दूसरा दल पश्चिम की ओर गया है। 'जो दल पूर्व-दक्षिण को गया वह पहले आक्सस और जाकीज नदियों के किनारे बसा और उसके उद्गम की ओर खोखन्द और बदख्शाँ की उच्च भूमि पर पहुँचे जहाँ उनकी दो शाखाएँ हुईं—एक फारस की ओर चला गया और ईरान, अरब, मिस्र आदि की ओर बढ़ गया और दूसरा काबुल नदी के साथ बढ़कर भारत में आया और आर्य कहलाया। जो दल पश्चिम की ओर गया था, वह कैस्पियन

1. हिन्दी विश्वकोश, प्रथम भाग, पृ० ४२

सागर तक तो एक ही दल में गया था पर वहाँ से अनेक शाखाएँ यूरोप में फैल गईं।"

किन्तु यह मत भी पूर्णतः प्रामाणिक नहीं है। इस मत को स्वीकार करने वाले विद्वान् भी इसकी प्रामाणिकता पर संदिग्ध है :

Aryans, whose origin is still doubtful though it was probably in Central Asia." स्वयं मैक्समूलर ने भी 'Science of the Language' के रचनाकाल तक मध्य एशिया शब्द का प्रयोग किया है। बाद में वे स्वयं मध्य शब्द का परित्याग कर केवल एशिया ही आर्यों की जन्मभूमि स्वीकार करते हैं। वे अपनी अन्तिम रचना मे लिखते हैं कि जिस प्रकार ४० वर्ष पूर्व मैंने कहा था, उसी तरह अब भी कहता हूँ कि आर्यों की जन्मभूमि कहीं एशिया में है :

"I should still say as I said forty yeare ago somewhere in Asia and no, more. (Good words, Agu. 1887)

इन विद्वानों के अतिरिक्त डा० लैथन आर्यों को स्कैंडिनेविया का मूल निवासी मानते हैं। डा० लैथन स्कैंडिनेविया भाषाओं के विशेषज्ञ थे, अतः वे इन भाषाओं में यत्र-तत्र आर्यों के प्राचीन चिह्नों के संकेत प्राप्त करते हैं। किन्तु डा० लैथन का मत अपनी भाषा के आग्रहवश है। कुछ विद्वान् जर्मनी को आर्यों का मूल स्थान कहते हैं, कुछ विद्वान् बाल्टिक सागर के दक्षिणी-पूर्वी तट को। उनका कहना ठीक है। प्राचीन लिबआनियन में प्राचीन आर्यों की भाषाओं के लक्षण मिलते हैं। इन विद्वानों के अनुसार आर्यों का रूप, रंग, रुधिर आदि का साम्य जर्मनी के मनुष्यों के समान ही है। ये लोग अभी तक जिस भाषा का प्रयोग करते हैं उसका संस्कृत से किन्हीं अंशों में साम्य है जो कि हिन्दी का ही एक रूप है। यह जाति ज्योतिष द्वारा अपना निर्वाह करती है। इसका नाम 'जिपसी' जाति है। जिपसी जाति पर विचार करते हुए—Harmsworth History of the World के पृष्ठ ३३९ पर लिखा है—"Gipsies—A nomadic race, which was first described as appearing in Europe in the fifteen century and is now found in nearly all civilised countries. At first they were believed to come from Egypt, and their name is a corruption of 'Egyptians.' They have a dark, towny skin black hair and eyes, are small-handed and often very handsome, and live by tinkering, basket-making, fortune-telling and other arts which can be practised on the road. Their chief characteristic is independence and love of a wondering life. Their origin is still uncertain though their language Ramany, is known to be a corrupt dialect of Hindi, which supports the older theory that they are of Indian descent. A later and well-

supported theory is that they are the descendants of the pre-historic race which introduced metal-working into Europe."

'जिपसी' शब्द की व्याख्या में जो परिचय, और जो रूपरेखा दी है, उसके पर आधार यह निश्चित होता है कि जर्मनी वालों ने आर्यों से सभ्यता, भाषा आदि का परिज्ञान अवश्य किया है, किन्तु आर्यों का मूल स्थान जर्मनी अथवा यूरोप सम्भव नहीं है।

डा० श्रोडर के अनुसार आर्यों का मूल बोल्गा नदी के मुहाने की भूमि (Lower Course of the Volga) थी। डा० पीटर गाइल्स के अनुसार हंगरी के कार्पेथियन पर्वत के समीपस्थ भूमि आर्यों का मूल स्थान है। भारतीय सर देसाई के मत में बालकश झील के निकट की भूमि आर्यों का मूल स्थान है। उनका आधार है कि वह सप्तसिन्धु नदियों का स्थान है जिसका उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है।

भारतीय विद्वानों नें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मत लोकमान्य गंगाधर तिलक का है। उनके अनुसार आर्यों का मूल स्थान उत्तरी ध्रुव प्रदेश है। तिलकजी का कहना है कि "आर्य लोग ध्रुव प्रदेश के निवासी हैं। आज से कोई दस हजार वर्ष पूर्व ध्रुव प्रदेश में बर्फ का तूफान आया, इसी के कारण आर्य लोग वहाँ से भागे और यूरोप, मध्य एशिया, ईरान और भारत में आकर आबाद हुए।" आप कहते हैं कि ध्रुव प्रदेश में प्रति साढ़े दस हजार वर्ष बाद बर्फ का तूफान आया ही करता है—"In short the Glacial and Inter-Glacial Periods in the Hemispheres alternate with each other every 10,500 years."

—(Arctic Home in the Vedas, p. 32.)

विद्वानों ने तिलक जी के मत का भी खण्डन कर दिया है।

डा० धीरेन्द्र वर्मा ने 'मध्य देश का विकास' में लिखा है—"प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में आर्यों के भारत आगमन के सम्बन्ध में कोइ उल्लेख नहीं है। पुराने ढंग के भारतीय विद्वानों का मत था कि आर्य लोगों का मूल-स्थान तिब्बत में किसी जगह पर था। वहीं मनुष्य की सृष्टि हुई थी, और उसी स्थान से संसार में लोग फैले। भारत में भी आर्य लोग वहीं से आये थे। ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों के आधार पर लोकमान्य पण्डित बाल गंगाधर तिलक ने उत्तरी ध्रुव के निकटवर्ती प्रदेश में आर्यों का मूलस्थान होना प्रतिपादन किया था। इस कल्पना का खण्डन करते हुए बंगाल के एक नवयुवक विद्वान ने अपनी पुस्तक 'ऋग्वैदिक इण्डिया' में यह सिद्ध करने का यत्न किया कि आर्यों का मूल स्थान भारत में सरस्वती के तट पर अथवा उसी के उद्गम के निकट हिमालय के अन्दर के हिस्से में कहीं पर था। उनके मतानुसार प्राचीन ग्रन्थों से ब्रह्मावर्त्त देश की पवित्रता का कारण कदाचित् यही था। यहीं से जाकर आर्य लोग ईरान में बसे। भारतीय आर्यों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था, बाद को भगाई जाने पर यूरोप के मूल निवासियों को विजय करके वहाँ जा बसी थी। यूरोपीय भाषाओं में इसीलिए आर्य-भाषा के चिह्न बहुत कम पाये

जाते हैं। वास्तव में वे आर्य-भाषाएँ नहीं हैं।" डा० वर्मा का निष्कर्ष यह है कि "आर्यों के मूल स्थान के विषय में निश्चय पूर्वक अभी तक कुछ नहीं कहा जा सकता। संसार के विद्वानों का, जिनमें यूरोप के विद्वानों का आधिक्य है, आजकल यही मत है कि आर्यों का आदिम-स्थान पूर्व-यूरोप में बाल्टिक-समुद्र के निकट कहीं पर था।" किन्तु अनेक विद्वान आर्यों का मूल स्थान भारत में मानते हैं। निश्चय ही यह समस्या विवादास्पद है।

डा० मनमोहन गौतम ने विभिन्न मतों का उल्लेख करने के पश्चात् निष्कर्ष रूप में लिखा है—

"मैक्समूलर के अतिरिक्त अन्य विदेशी विद्वानों के मत विशेष सारगर्भित नहीं हैं, क्योंकि प्रायः सभी ने अपनी ही मातृभूमि को आर्यों के निवासस्थान का गौरव देना चाहा है और जैसे-तैसे वैसा सिद्ध किया है। इन सभी विद्वानों ने प्रायः वृक्षों, नदियों और प्राणियों के नामों मात्र को ही मूल आधार माना है। भौगोलिक साम्य के अनुमान पर ही आर्यों का मूल स्थान निश्चित नहीं हो सकता। भौगोलिक परिस्थितियाँ भी कालान्तर में परिवर्तित हो जाती हैं, जहाँ नदियाँ थीं वहाँ मैदान हो जाते हैं, जहाँ मैदान थे वहाँ समुद्र हो जाते हैं और समुद्र में पहाड़ खड़े हो जाते हैं। दूसरी बात यह भी मानी जा सकती है कि आर्यों ने अपने मूल स्थान को छोड़-कर दक्षिण-पूर्व या दक्षिण-पश्चिम की यात्रा की। इन यात्राओं में भिन्न-भिन्न स्थलों पर वे ठहरे होंगे। अतः यह हो सकता है कि स्कैंडेनेविया, बोल्गा का मुहाना, मैसोपोटामिया आदि स्थल बीच के स्थल हैं, जिन्हें भ्रमवश लोग आर्यों का मूल स्थान ही मान लेते हैं। लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि अवेस्ता के वेंदीदाद में जिन-जिन स्थानों पर आर्यों का मूल स्थान कहा गया है वे स्थान आर्यों के मूल स्थान न थे, वे आर्यों के उत्तरी ध्रुव से चलने पर रास्ते के स्थान थे। इस प्रकार यह माना जा सकता है कि मैक्समूलर द्वारा कहा हुआ मध्य एशिया भी उत्तरी ध्रुव से चले हुए आर्यों का एक पड़ावस्थल है। मैक्समूलर का कथन ठीक है, आर्य आदि में वहाँ रहे होंगे, परन्तु वही मूल नहीं है। उससे भी पहले कभी वे और ऊपर रहते होंगे। तिलक का मत भी पूर्णतया सिद्ध नहीं है। उन्होंने जिस हिम-युग सिद्धान्त पर अपना मत स्थिर किया है वह भ्रामक सिद्ध हो चुका है।"[1] अतः हमारा अपना मत यह है कि विद्वानों के इतने मतों में से किसी एक पर अपना आग्रह प्रकट करना सर्वथा अनुचित होगा।

प्रश्नावली

१. प्रागैतिहासिक अनुसन्धान के सम्बन्ध में भाषा-विज्ञान का क्या योगदान है? स्पष्ट लिखिए।
२. आदि मानव के मूल उद्भव स्थान के सम्बन्ध में विचार कीजिए।
३. Discuss the problem of the original home of Indo-European people. (A. U., 1961)

1. सरल भाषा-विज्ञान, पृ० ३३४-३५

नवम अध्याय

लिपि का विकास

- लिपि
- भारतीय लिपियाँ
- नागरी लिपि की विशेषताएँ
- प्रश्नावली

लिपि का विकास

भाषा-विज्ञान में भाषा के लिखित रूप की अपेक्षा भाषित रूप का हीं प्राधान्य है। अतः भाषा-विज्ञान में सिद्धान्ततः लिपि विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। किन्तु यह निस्सन्देह सत्य है कि प्राचीन भाषा के स्वरूप को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का श्रेय लिपि को ही है। लिपि भाषा का अंकन है। यदि हमारे पास कोई लिपि न होती तो हम अनेक भाषाओं से, साहित्यों से परिचित नहीं हो सकते थे। अतः भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए लिपि नितान्त उपयोगी तत्त्व है।

भाषा को सर्वग्राह्य बनाने की भावना से ही अनायास लिपियों का उदय हुआ है। "जादू टोने के लिए खींची गई लकीरें, धार्मिक प्रतीक के चित्र, पहचान के लिए घड़ों इत्यादि पर बनाये गए चित्र, सुन्दरता के लिए बनाये गए चित्र आदि ही लिपि की मूल सामग्री हैं।" लिपि कब बनी और किसने इसका विकास किया, यह विवादास्पद विषय है। किन्तु जिस प्रकार परम्परावादी भाषा की उत्पत्ति के लिए दैवी सिद्धान्त पर विश्वास करते हैं, उसी प्रकार लिपि के सम्बन्ध में भी परम्परावादियों को धारणा है। भारत की प्राचीन लिपि का नाम ब्राह्मी है। परम्परावादियों के अनुसार इसका निर्माण ब्रह्म या ब्रह्मा ने किया है। इसीलिए इसका नाम ब्राह्मी है। यहूदियों के अनुसार लिपि का निर्माण 'मूसा' ने किया है।

आज तक लिपि के सम्बन्ध में अध्ययन का निष्कर्ष यह है कि ४००० ई० पू० तक लेखन-पद्धति का व्यवस्थित विकास नहीं हुआ था। किन्तु क्रमिक विकास के अनन्तर आज निम्न लिपियाँ उपलब्ध हैं–

(१) चित्र लिपि
(२) सूत्र लिपि
(३) प्रतीकात्मक लिपि
(४) भावमूलक लिपि

(५) भाव-ध्वनिमूलक लिपि

(६) ध्वनिमूलक लिपि

(१) **चित्र लिपि**—आदि मानव दैनन्दिन व्यवहार में आने वाली विविध चीजों पर विभिन्न प्रकार के जीव-जन्तुओं, प्रतीकों आदि के टेढ़े-मेढ़े चित्र अंकित किया करता था। "इस प्रकार के पुराने चित्र दक्षिणी फ्रांस, स्पेन, क्रीट, मेसोपोटामिया, यूनान, इटली, पुर्तगाल, साइबेरिया, उजबेकिस्तान, सीरिया, मिस्र, ग्रेट ब्रिटेन, कैलिफोर्निया आदि अनेक देशों में मिलते हैं। ये पत्थर, हड्डी, काठ, सींग, हाथीदाँत, पेड़ की छाल, जानवरों की खाल तथा मिट्टी के बर्तन आदि पर बनाये जाते थे।"

चित्र लिपि उस काल में पर्याप्त व्यापक रही होगी और इस लिपि में किसी भी वस्तु के लिए उसका विशिष्ट चित्र बना दिया जाता रहा होगा। यह निर्मित चित्र सभी व्यक्ति सहज ही समझ लेते थे। इसलिए यह लिपि उस काल में अधिक प्रचलित थी, अधिक स्पष्ट और सरल थी।

दोष—किन्तु इस लिपि में कुछ दोष भी थे :

(१) व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को व्यक्त करने का कोई साधन नहीं था। सामान्य व्यक्ति के चित्र का निर्माण तो सहज था, किन्तु व्यक्ति विशेष का अंकन एक समस्या थी।

(२) स्थूल वस्तुओं का चित्रांकन सरल था, किन्तु सूक्ष्म वस्तुओं एवं भावनाओं की अभिव्यक्ति सम्भव न थी।

(३) चित्र-निर्माण में समय अधिक लगता था। अतः यह समय तथा श्रम-साध्य थी।

(४) काल, युग आदि के चित्र नहीं बन सकते थे।

(५) विश्व के विभिन्न व्यक्तियों के लिए चित्र सम्भव न थे। अनेक व्यक्ति अनेक चीजों से अपरिचित ही रह जाते थे। अतः इसका सबसे बड़ा दोष सांकेतिक अनन्तता था।

(६) सार्वदेशिक लिपि की एवं सार्वभौमिक लिपि की समस्या भी थी।

चित्रलिपि में जहाँ अनेक दोष थे, वहाँ एक गुण भी था, वह गुण था उसका सर्वबोध्य होना। "आज भी ध्वन्यात्मक लिपियों में कोई शब्द लिखने पर उसे वही समझ सकता है जो उस भाषा और लिपि से परिचित हो। उदाहरणार्थ, देवनागरी में 'हाथी' शब्द लिखा देखकर इसका अर्थ वही समझ सकता है जो देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा से परिचित हो। यह संकेत रूसी, फ्रांसीसी या अंग्रेजी जानने वाले के लिए अर्थहीन है। किन्तु हाथी का चित्र देखकर कोई भी हाथी का अर्थ समझ सकता है, चाहे वह रूसी बोलने वाला हो, चाहे फ्रांसीसी, चाहे अंग्रेजी।

कहने की आवश्यकता नहीं कि दोषों की तुलना में यह एक गुण नितान्त नगण्य है। स्वभावतः मनुष्य की बुद्धि किसी ऐसी लिपि के अनुसन्धान में अग्रसर हुई जिसमें उपर्युक्त त्रुटियाँ कम से कम से रहें।

क्रमशः यह चित्र लिपि प्रतीकात्मकता की ओर अग्रसर हुई तथा शीघ्रता के लिए चित्रों तथा वस्तुओं के प्रतीकों को अपनाया गया। प्रतीक लिपि के विकसित होने पर उसके स्मरण की समस्या का उदय हुआ।

(२) **सूत्र लिपि**—सूत्रों में ग्रन्थि लगाकर भाव व्यक्त करने की कला को सूत्रलिपि का नाम दिया गया। आज भी बच्चों की वर्षगाँठ आदि के उत्सवों पर गाँठ लगाने की प्रथा प्रचलित है। ये ग्रन्थियाँ अनेक प्रकार से लगायी जाती थीं। उदाहरण के लिए :

(१) डोरे में रंग-बिरंगे सूत्र बाँधकर।

(२) डोरे को विभिन्न रंगों में रँगकर।

(३) रस्सी या जानवरों की खाल आदि पर विभिन्न रंगों के मोती, घोंघे, मूँगे आदि बाँधकर।

(४) रस्सियों में विभिन्न प्रकार की विभिन्न दूरियों पर ग्रन्थियाँ लगाकर।

(५) लकड़ी, बाँस आदि में विभिन्न प्रकार की रस्सियाँ बाँधकर।

इस लिपि का चीन तथा तिब्बत में भी प्रचार था। 'क्वीपू' लिपि इसका श्रेष्ठतम उदाहरण है। आज भी संथालों तथा जापान के कुछ द्वीपों में इसका प्रयोग हो रहा है।

(३) **प्रतीकात्मक लिपि**—दूरस्थ व्यक्ति के लिए इसका प्रयोग किया जाता था, किन्तु इसे लिपि कहना दोषपूर्ण है। "तिब्बत-चीनी सीमा पर मुर्गी के बच्चे का कलेजा, उसकी चर्बी के तीन टुकड़े तथा एक मिर्च लाल कागज में लपेट कर भेजने का अर्थ है कि युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।" झण्डियों द्वारा संकेत; हल्दी, सुपारी आदि भेजना भी विभिन्न सामाजिक उत्सवों के निमन्त्रण के लिए आज भी प्रचलित है।

यह लिपि अधिक प्रचलित न थी, क्योंकि इस प्रकार के प्रतीक सभी व्यक्ति समझने में असमर्थ थे।

(४) **भावमूलक लिपि**—यह लिपि चित्र लिपि का ही विकसित रूप है। चित्र लिपि में केवल स्थूल व्यक्तियों को ही अंकित किया जा सकता था, जबकि भावमूलक लिपि में भावनाओं की अभिव्यक्ति की जाती थी। उदाहरण के लिए, चित्र लिपि में पैर केवल पैर का सूचक था, जबकि भावमूलक लिपि में चलने का सूचक था। भाव लिपि के कुछ विशिष्ट लाभ इस प्रकार हैं—

"चित्र लिपि की अपेक्षा यह अधिक संक्षिप्त हो गयी। दूसरी बात यह कि भावलिपि की सहायता से कोई वस्तु ही नहीं, घटना भी अंकित की जा सकती थी, क्योंकि थोड़े संकेतों में अधिक बात खपाने की क्षमता का विकास हो गया। परन्तु मनुष्य की प्रगतिशील बुद्धि केवल भावलिपि से सन्तुष्ट होने वाली नहीं थी। वह किसी ऐसी लिपि की खोज में लगी रही जिसमें ध्वनियों को अंकित किया जा सके।" इस लिपि के उदाहरण उत्तरी अमरीका, चीन तथा पश्चिमी अफ्रीका में मिल जाते हैं।

(५) **भावध्वनिमूलक लिपि**—यह लिपि भी चित्र लिपि की विकसित लिपि है। इस लिपि में कुछ चिह्न चित्रात्मक तथा भावमूलक होते हैं और कुछ ध्वनिमूलक। इस लिपि में चित्र लिपि तथा भावमूलक लिपि का संयुक्त रूप सुरक्षित है। मेसोपोटामियन, मिस्री तथा हिन्दी आदि लिपियाँ इसी प्रकार की हैं।

(६) **ध्वनिमूलक लिपि**—ध्वनिमूलक लिपि चिह्न किसी भाव या वस्तु को न प्रकट कर उसकी ध्वनि को प्रकट करते हैं। इस लिपि में चित्र और भाव की भूमिका से ऊपर उठकर प्रत्येक ध्वनि को अंकित करने की क्षमता का विकास हुआ है। ध्वनि लिपि के उदाहरण के लिए देवनागरी, रोमन तथा अरबी को ले सकते हैं। यह लिपि दो प्रकार की हैं—एक अक्षरात्मक, दूसरी वर्णात्मक।

(अ) **अक्षरात्मक लिपि**—इस लिपि में चिह्न किसी अक्षर को व्यक्त करता है। उदाहरण के लिए, नागरी लिपि अक्षरात्मक है, किन्तु प्रो० जे० बर्टन पेज के अनुसार नागरी लिपि पूर्णतः अक्षरात्मक नहीं है।

(ब) **वर्णात्मक लिपि**—इस लिपि में प्रत्येक ध्वनि के लिए एक चिह्न होता है। अतः यह वैज्ञानिक विश्लेषण में सफल है। रोमन लिपि इसी वर्णात्मक ध्वनि का उदाहरण है।[1]

भारतीय लिपियाँ

संसार की प्राचीन लिपियों में प्रधानतः फोनीशियन, दक्षिण सामी, ग्रीक, लैटिन, आर्मेइक, हिब्रू, अरबी, खरोष्ठी और ब्राह्मी प्रसिद्ध हैं। हम यहाँ केवल भारतीय लिपियों पर ही संक्षिप्त विचार करेंगे।

भारतवर्ष में प्राचीनकाल से तीन लिपियों का प्रचार रहा है :

(१) सिन्धु-घाटी की लिपि।

(२) ब्राह्मी।

(३) खरोष्ठी।

---

1. "In other words, the Devanagari script as applied to Hindi, although syllabic in its conception is now neither fully alphabetic; the principle of writing is rather morphophonemic."

—J. Burton Page, **Indian Linguistics II** 1959, p. 171 (Turner Jubilee Volume).

सिन्धु घाटी लिपि प्राचीन लिपि है। यह लिपि मोअनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में उपलब्ध हुई है। इस लिपि का अभी पूर्णतः अध्ययन नहीं हो सका है। विभिन्न विद्वानों में इसके सम्बन्ध में अनेक मतवाद हैं। विशेषकर तीन मत प्रसिद्ध हैं :

(१) एच० हेरास तथा जान मार्शल के अनुसार यह सिन्धु-घाटी की सभ्यता द्रविण-सभ्यता थी अतः यह लिपि भी उन्हीं की है।

(२) वॅडले तथा डा० प्राणनाथ के अनुसार यह लिपि सुमेरी है। इन विद्वानों के अनुसार ४००० ई० पू० इस घाटी में सुमेरी लोग रहते थे। अतः यह लिपि उन्हीं की भाषा की है।

(३) तीसरा मत उन विद्वानों का है जो इस घाटी की सभ्यता को आर्यों-असुरों से सम्बद्ध मानते हैं और लिपि भी उन्हीं की मानते हैं।

सिन्धु घाटी की लिपि भाव-ध्वनिमूलक लिपि मानी जाती है। इस लिपि की चिह्न-संख्या कितनी है, यह निश्चित नहीं है। हन्टर के अनुसार चिह्न-संख्या २५३, ग्लैडन के अनुसार २२८ कथा गेंडस्मिथ के अनुसार ३९६ है।

खरोष्ठी लिपि—खरोष्ठी लिपि के प्राचीनतम लेख चतुर्थ सदी ई० पू० से लेकर तृतीय सदी तक मिलते हैं। खरोष्ठी लिपि के नामकरण के सम्बन्ध में विभिन्न मत मिलते हैं :

(१) चीनी विश्व-कोश 'फा-वान-शु-लिन' के अनुसार यह खरोष्ट नामक व्यक्ति द्वारा आविष्कृत होने के कारण खरोष्ठी कहलाती है।

(२) यह लिपि सीमा-प्रान्तीय अर्द्धसभ्य खरोष्ठों में प्रचलित होने के कारण खरोष्ठी कहलाती है।

(३) इस लिपि का सम्बन्ध मध्य एशिया के 'काशगर' नामक नगर से है, इस 'काशगर' का संस्कृत रूपान्तर खरोष्ठ है।

(४) इस लिपि का सम्बन्ध आर्मेइक लिपि से है। आर्मेइक भाषा में एक शब्द खरोष्ठी है, अनुमान यह है कि आर्मेइक भाषा के खरोष्ठ शब्द के संस्कृत रूप खरोष्ठ या खरोष्ठी को इस लिपि का नाम दे दिया गया है।

(५) खरोष्ठ का मूल आधार खरपृष्ठी शब्द है। इस मत की यह मान्यता है कि प्राचीन काल में गधे की खाल पर लिखी जाने के कारण इसे खरपृष्ठी> खरोष्ठी कहा जाता है। ईरानी में इसे खरपोस्त' कहते हैं। इस खरपोस्त शब्द का भी अर्थ गधे की खाल है। इसी खरपोस्त शब्द का अपभ्रंश रूप खरोष्ठ है।

(६) डा० प्रजिलुस्की के मतानुसार गधे की खाल पर लिखी जाने के कारण ही यह खरपृष्ठी>खरोष्ठी कहलाई है।

(७) डा० राजबली पाण्डेय के अनुसार इस लिपि के अक्षर गधे के होठों के समान होते हैं, इसीलिए इसका नाम खरोष्ठी है।

(८) डा० सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार हिब्रू में खरोशेथ (Kharosheth) का अर्थ लिखावट है। इसी खरोशेथ शब्द का रूपान्तर खरोष्ठ है।

खरोष्ठी लिपि अभारतीय है या भारतीय—इस सम्बन्ध में विद्वानों में मत-भेद है। अधिकांश भारतीय और अभारतीय विद्वान् इस लिपि को अभारतीय मानते हैं। डा० मूलर, डा० डिरिंजर और डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा इस लिपि का का सम्बन्ध आर्मेइक लिपि से मानते हैं। इन विद्वानों के प्रमुख तर्क निम्न हैं—

(१) खरोष्ठी और आर्मेइक लिपि में अत्यधिक समानता है। दोनों लिपियाँ दायें से बायें लिखी जाती हैं। दोनों के वर्णों में रूप सम्बन्धी समानता है।

(२) आर्मेइक लिपि खरोष्ठी से पुरानी है।

(३) तक्षशिला में आर्मेइक लिपि में प्राप्त शिलालेख से ऐतिहासिक दृष्टि से भारत और आर्मेइक दोनों के सम्बन्धों की पुष्टि होती है।

खरोष्ठी लिपि का मूलतः विकास यदि आर्मेइक लिपि से मान लिया जाय तो हम यह भी कहना चाहेंगे कि भारत में खरोष्ठी लिपि का नवीनीकरण किया गया है। भारतीय ब्राह्मी लिपि के प्रभाव से यह बाएँ से दाएँ लिखी जाने लगी है। आर्मेइक लिपि में जहाँ केवल २२ (बाईस) वर्ण थे, वहाँ खरोष्ठी में ३८ (अड़तीस) वर्ण मिलते हैं।

डा० राजबली पाण्डेय खरोष्ठी लिपि की उत्पत्ति भारत में ही मानते हैं। उनका कहना यह है कि—

(१) खरोष्ठी लिपि में लिखित अशोक का प्राचीनतम शिलालेख ३०० ई० पू० का है। इसके अनन्तर शिलालेख बलूचिस्तान, अफगानिस्तान तथा मध्य एशिया में प्राप्त हुए हैं। ये शिलालेख भी धर्म-प्रचारक भारतीय द्वारा ही लिखे या लिखवाये गए हैं।

(२) भारत से बाहर भी इस लिपि का प्रयोग केवल भारतीय भाषाओं के लिखने के लिए ही किया गया है। दाएँ से बाएँ लिखे जाने पर भी इसकी आकृति-रूपरेखा भारतीय ही है। इसमें अनुस्वार का प्रयोग होता है। ब्राह्मी लिपि की तरह यह अधिकांश में अक्षरात्मक लिपि है।

इस लिपि का प्रचार-क्षेत्र भारत भूमि में सीमित ही रहा है। इसके लेख पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त और पंजाब में ही मिलते हैं। यह कामचलाऊ लिपि है, अधिक वैज्ञानिक नहीं है। इसका प्रचार एवं विस्तार न हो सकने के कारण भारत में यह अधिक समय तक प्रचलित नहीं रह सकी है। तृतीय शताब्दी के अनन्तर भारत में इसके अस्तित्व के प्रमाण नहीं मिलते हैं।

ब्राह्मी

भारत में प्रचुर प्रचार-लब्ध तथा वैज्ञानिक लिपि ब्राह्मी लिपि है। इसके प्राचीनतम प्रमाण पंचम शतक ई० पू० से लेकर ३५० ई० तक मिलते हैं।

ब्राह्मी लिपि की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक मत हैं, किन्तु सभी आनुमानिक हैं :

(१) ब्राह्मी लिपि का सम्बन्ध ब्रह्मा से है, अतः इसका नाम ब्राह्मी है। परम्परावादी विचारधारा के अनुसार यह ईश्वर प्रदत्त है—'ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग् वाणी सरस्वती, (अमरकोश)।

(२) ब्रह्म (वेद) की रक्षा के लिए आविष्कृत होने के कारण इसका नाम ब्राह्मी है। (राजबली पाण्डेय)

(३) ब्राह्मणों की लिपि होने के कारण यह ब्राह्मी कहलाती है।

(४) चीनी विश्वकोश 'फा-वान-शु-लिन' (६६८ ई०) के अनुसार इसके निर्माता ब्रह्म या ब्रह्मा नामक आचार्य हैं, अतः इसका नाम ब्राह्मी है।

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी अनेक मत हैं। उन मतों को दो वर्गों में रखा जा सकता है :

(१) ब्राह्मी लिपि किसी विदेशी लिपि से उत्पन्न है।

(२) ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति एवं विकास भारतीय है।

ब्राह्मी लिपि अभारतीय—(१) डा० अल्फ्रेड, मूलर, जेम्स, प्रिंसेप तथा सेनार्ट आदि विद्वानों ने ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति यूनानी लिपि से मानी है। सेनार्ट का मत है कि सिकन्दर के आक्रमण के समय भारतीयों से यूनानियों का सम्पर्क स्थापित था; उसी समय भारतीयों ने यूनानियों से लिखने की कला सीखी थी। किन्तु वास्तविकता यह है कि भारत में लिपि के प्रमाण सिकन्दर से पूर्ववर्ती हैं।

(२) फ्रेंच विद्वान् कुपेरी का मत है कि ब्राह्मी लिपि का विकास चीनी लिपि से हुआ है; किन्तु यह मत सर्वथा अवैज्ञानिक है।

(३) बूलर का मत है कि ब्राह्मी लिपि का विकास उत्तर सामी लिपि से हुआ है, किन्तु टेलर तथा सेन आदि का मत है कि ब्राह्मी की उत्पत्ति दक्षिणी सामी लिपि से हुई है। दक्षिणी सामी लिपि से ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति हुई है, यह मत केवल काल्पनिक एवं निस्सार है।

उत्तरी सामी से ब्राह्मी की उत्पत्ति के प्रमुख समर्थक डा० बूलर तथा डा० डिरिंगर हैं। डा० बूलर ने दक्षिणी सामी से ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति इस मत का खण्डन करते हुए ब्राह्मी लिपि की निम्न विशेषताओं का निर्देश किया है :

(१) ब्राह्मी में सभी वर्ण प्रायः सीधे हैं और ट, ठ, ब को छोड़कर सबकी ऊँचाई भी समान है।

(२) ब्राह्मी के वर्ण प्रायः ऊपर से नीचे की ओर लम्बवत् हैं। उनमें जोड़ ऊपर-नीचे दोनों ओर मिलते हैं। "बूलर का विचार है कि भारतीय ब्राह्मी वर्णों को, नीचे आने वाली लम्बवत् रेखा की सहायता से, नीचे की ओर लटकते हुए रूप

में मिलते थे। ऊपर की पट-रेखा स्वरों का प्रतिनिधित्व करती थी। वर्णों को ऊपर से जोड़ से करने से सामी वर्ण प्रायः उलट गए; साथ ही सामी के दाएँ से बाएँ लिखने के स्थान पर ब्राह्मी को दाएँ से दाएँ लिखने के कारण भी कुछ परिवर्तन हो गये। बूलर के अनुसार २२ वर्ण उत्तरी सामी से, कुछ प्राचीन फोनेशियन से, और ५ असीरिया के वर्णों से लिये गए। कुछ अन्य परिवर्तनों के साथ कतिपय विदेशी वर्ण और आ गये तथा इस प्रकार ब्राह्मी का विकास हुआ।"[1]

डा० डिरिंगर का कहना है—"किसी प्रकार भी, भारतीय लिपि, इस देश के लोगों की स्वतन्त्र उद्भावना नहीं हो सकती। यह अवश्य है कि बाहर से लेकर उसमें भारतीयों ने अद्भुत और आश्चर्यजनक परिवर्तन कर लिये" तथा "इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि स्वर और व्यंजन ध्वनियों के प्रतीकों से युक्त विशुद्ध वर्णात्मक ब्राह्मी लिपि पश्चिमी एशिया की लिपि से ही विकसित हुई है।" इस सम्बन्ध में डा० डिरिंगर के अनेक तर्क हैं :

(१) दोनों लिपियों में पर्याप्त साम्य है।

(२) सिन्धुघाटी की लिपि चित्रात्मक थी; चित्रात्मक लिपि से वर्णात्मक लिपि का विकास सम्भव नहीं है।

(३) मूलतः ब्राह्मी दाएँ से बाएँ ही लिखी जाती है।

(४) ५०० ई० पू० से पूर्व भारत में ब्राह्मी लिपि के लिखित प्रमाण नहीं मिलते हैं।

डा० राजबली पाण्डेय ने पाश्चात्य विद्वानों के तर्कों का खण्डन कर यह सिद्ध किया है कि ब्राह्मी लिपि भारतीय है, उनके तर्क निम्नांकित हैं :

(१) निस्सन्देह दोनों लिपियों में साम्य प्रतीत होता है, किन्तु इस अल्प साम्य के आधार पर ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति सामी से मानना नितान्त भ्रमात्मक एवं दूरारूढ़ कल्पना है।

(२) चित्रात्मक लिपि से वर्णात्मक लिपि का विकास सम्भव नहीं है, यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि चित्रात्मक लिपि संसार की आदि लिपि है। चित्रात्मक लिपि से ही विश्व की समस्त लिपियाँ विकसित हुई हैं। सिन्धुघाटी की लिपि विशुद्ध चित्रात्मक न होकर मिश्रित लिपि है।

(३) ब्राह्मी दाएँ से बाएँ लिखी जाती थी, इस सम्बन्ध में विद्वानों के तर्क भी पर्याप्त नहीं हैं। जिन अभिलेखों का वे प्रमाण देते हैं, वे एक-दो ही हैं; जबकि बाएँ से दाएँ लिखने के सम्बन्ध में प्रभूत प्रमाण मिल जाते हैं।

(४) ई० पू० ४००० के सिन्धु-घाटी लिपि के नमूने के बाद ५०० ई० पू०

1. भाषा-विज्ञान के सिद्धान्त, पृ० २४१-४२।

तक प्रमाणों का न मिलना इस बात का सूचक नहीं है कि ब्राह्मी लिपि अप्रामाणिक एवं अर्वाचीन है, अपितु भौगोलिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के कारण ही वे नहीं मिलते हैं। भारतीय ग्रन्थों में लेखन-कला के प्राचीनतम अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

वेवर, बेनफे, जेन्सेन तथा बूलर आदि विद्वानों ने ब्राह्मी लिपि का विकास फोटेशियन लिपि से माना है। यह लिपि प्राचीनतम है।

इसका विकास मिस्र की चित्रात्मक लिपि या बेबीलान की कीलाक्षर लिपि से माना गया है। इस मत के मानने वालों का कहना है कि फोनेशियन एवं ब्राह्मी लिपि में साम्य है। किन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है, केवल वर्ण के साम्य (ब्राह्मी का 'ज़' और फोनेशियन लिपि के 'गिमेल,) पर ही एक लिपि की दूसरी से उत्पत्ति की कल्पना नितान्त भ्रामक एवं अव्यावहारिक है। भारतीयों और फोनेशियनों के मध्य कभी सम्बन्ध नहीं रहे हैं। डिरिंजर का अभिमत है कि भारतीयों और फोनेशियनों के मध्य कभी किसी प्रकार का परस्पर सम्बन्ध न था। इस सम्बन्ध में डा० राजवली पाण्डेय ने लिखा है, "मैं यह नहीं मानता कि १५०० ई० पू० से ४०० ई० पू० में भारत तथा भूमध्यसागर के पूर्वी किनारों के बीच यातायात का सम्बन्ध नहीं था। इसमें भी सन्देह नहीं कि फोनेशीय तथा ब्राह्मी लिपि में समानता है। अब प्रश्न यह रह जाता है कि किस लिपि से कौन लिपि उद्भूत हुई। इस प्रश्न का सम्बन्ध फोनेशीय जाति की उत्पत्ति से भी है। ग्रीस के प्राचीन इतिहास के अनुसार, फोनेशीय लोग पूर्व की ओर से, समुद्र के मार्ग से भूमध्यसागर के पूर्वी किनारे पर गये थे। ऋग्वेद के प्रमाण से प्रतीत होता है कि फोनेशीय लोग भारत के निवासी थे। फोनेशीय तथा पश्चिमी एशिया की सामी लिपियों में साम्य का अभाव भी यह इंगित करता है कि फोनेशीय लोग कहीं बाहर से आये थे। इससे इसी बात की सम्भावना अधिक प्रतीत होती है कि भारत से ही फोनेशीय लिपि भूमध्य सागर के तट पर गई।"

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति भारतीय—ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति भारतीय है। इस मत में भी दो वर्ग हैं—एक वर्ग ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति द्रविड़ीय मानता है, दूसरा वर्ग ब्राह्मी लिपि की आर्य उत्पत्ति मानने वालों का है।

द्रविड़-उत्पत्ति—एडवर्ड टॉमस तथा अन्य विद्वानों का मत है कि ब्राह्मी लिपि के आविष्कर्त्ता मूलतः द्रविड़ थे, आर्यों ने उन्हीं से इस लिपि को सीखा है। किन्तु ब्राह्मी के प्राचीनतम नमूने उत्तर भारत में उपलब्ध होते हैं, जोकि आर्यों का निवास-स्थान था। यही नहीं, द्रविड़ों को तामिल जैसी अपूर्ण लिपि से ब्राह्मी जैसी पूर्ण एवं वैज्ञानिक लिपि का आविष्कार सम्भव नहीं है। अतः ब्राह्मी लिपि के आविष्कर्त्ता द्रविड़ थे। यह मत ठोस आधारों पर आधारित नहीं है।

ब्राह्मी लिपि का विकास चित्रलिपि से हुआ है और यह आर्यों के द्वारा

स्वयं आविष्कृत है। इस मत के मानने वालों में कनिंघम, डाउसन, लैसेन आदि विद्वान् हैं। किन्तु इस मत का खण्डन डा० डिरिंगर ने करने का अफसल प्रयास किया था। जिनका खण्डन भो डा० राजबली पाण्डेय ने किया है। हम डा० राजबली पाण्डेय के तर्कों का पीछे उल्लेख कर चुके हैं। श्री देवेन्द्रनाथ शर्मा ने पर्याप्त विवेचन के बाद भाषा-विज्ञान की भूमिका पृ० ३४६ पर लिखा है कि "ब्राह्मी का सम्बन्ध किसी विदेशी लिपि से जोड़ना अमान्य ठहरता है।"

ब्राह्मी लिपि एक स्वतन्त्र, पूर्ण एवं वैज्ञानिक लिपि है। इस लिपि की अपनी कुछ विशिष्ट विशेषताएँ हैं जो कि इस लिपि को सामी आदि लिपियों से श्रेष्ठ एवं स्वतन्त्र उद्भूत सिद्ध कर देती हैं—

(१) इस लिपि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें सभी वर्ण जिस प्रकार लिखे जाते हैं, उसी प्रकार उच्चरित भी होते हैं।

(२) समस्त उच्चरित ध्वनियों के लिए निश्चित चिह्न हैं।

(३) ध्वनियों के उच्चारण स्थानानुरूप वर्गीकृत किये गए हैं।

(४) स्वर एवं व्यंजनों की संख्या भी पूर्ण है।

(५) ह्रस्व एवं दीर्घ स्वरों के सूचक चिह्न भिन्न-भिन्न हैं।

(६) स्वरों और व्यंजनों का संयोग मात्राओं द्वारा होता है।

(७) अनुस्वार, अनुनासिक एवं विसर्ग के अपने-अपने स्वतन्त्र चिह्न हैं।

इस लिपि की प्रशंसा में गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा ने लिखा है—"मनुष्य की बुद्धि में सबसे बड़े महत्त्व के दो कार्य—भारतीय ब्राह्मी लिपि और वर्तमान शैली के अंकों की कल्पना है।"

ब्राह्मी लिपि का विकास

ब्राह्मी लिपि मौर्य-युग तक भारतवर्ष में वैज्ञानिक लिपि के रूप में मान्यता प्राप्त कर प्रसिद्ध हो चुकी थी। भारत ही नहीं 'भारतेतर देशों में भी धर्मप्रचार के साथ ख्याति प्राप्त करने लगी थी। मौर्य-युग के अनन्तर इस लिपि का दक्षिण पूर्व एशिया तथा मध्य एशिया में भी प्रचार हुआ तथा अनेक लिपियों का विकास हुआ। ब्राह्मी लिपि की मुख्य रूप में दो शाखाएँ हैं—

(१) उत्तरी।

(२) दक्षिणी।

उत्तरी शाखा के अन्तर्गत चार लिपियाँ हैं—

(१) गुप्त लिपि

(२) कुटिल लिपि

(३) शारदा लिपि

(४) नागरी लिपि

दक्षिणी शाखा के अन्तर्गत मुख्य रूप में छह लिपियों की गणना होती है—

(१) तमिल लिपि
(२) तेलुगु-कन्नड़ लिपि
(३) ग्रन्थ लिपि
(४) कलिङ्ग लिपि
(५) मध्य देशी
(६) पश्चिमी

इन दोनों ही शाखाओं के अन्तगत सातवीं शती के आस-पास उत्तर भारत में शारदा, नागरी, कुटिल लिपि ही विशेष रूप से विकसित हुईं।

(१) उत्तरी शाखा की गुप्त लिपि का सम्बन्ध गुप्तवंशी राजाओं से था। इसका प्रयोग ईसा की चतुर्थ एवं पंचम शताब्दी तक मिलता है।

(२) कुटिल लिपि का विकास गुप्त लिपि से हुआ है। इसका व्यवहार षष्ठ से नवम शतक तक होता रहा है। इस लिपि के वर्णों की आकृति कुटिल है, अतः इसे कुटिल लिपि कहा जाता है। इसका क्षेत्र उत्तरी भारत रहा है।

शारदा लिपि—कुटिल लिपि से शारदा लिपि का विकास हुआ है। अष्टम शतक तक कश्मीर एवं पंजाब में कुटिल लिपि का प्रयोग होता रहा है; किन्तु उसके अनन्तर शारदा लिपि का प्रयोग बदल गया है। शारदा लिपि से काश्मीरी लहँदा, टक्करी, गुरुमुखी आदि लिपियों का विकास हुआ है।

नागरी लिपि—इसी का नाम देवनागरी लिपि है। दक्षिण में इसे नंदिनागरी भी कहते हैं। इस लिपि का विकास कुटिल लिपि से हुआ है। भारत में सर्वाधिक प्रचलित लिपि यही है। इस लिपि के प्राचीनतम लेख सप्तम, अष्टम शतक के मिलते हैं। इस लिपि से अनेक स्थानीय लिपियों का विकास हुआ है। मुख्यतः जिनमें गुजराती, बँगला, राजस्थानी आदि हैं—The script used in writing Gujarati is a slightly modified form of the Devanagari script and the scripts used in writing Bengali and Punjabi are related to the Devanagari script, though this relation is apparent in only some of characters.[1]

नागरी लिपि नाम एवं विशेताएँ

नागरी लिपि का विकास ब्राह्मी की उत्तरी शाखा से हुआ है। देवभाषा संस्कृत से सम्बद्ध होने के कारण इस लिपि को देवनागरी कहते हैं। दक्षिण में इसे नंदिनागरी भी कहते हैं, सम्भवतः यह किसी नन्दिनगर नामक राजधानी से सम्बन्धित हो। एक मत यह भी है कि यह नागर ब्राह्मणों की लिपि थी; इसलिए इसका

1. **Introduction to the Devnagari script, H. M. Lambert 1953.**

नाम नागरी रखा है। इस प्रकार की अनेक सम्भावनाएँ नामकरण के सम्बन्ध में की जाती हैं, जो कि मात्र कल्पना मात्र हैं। तथ्य यह है कि इस लिपि का प्राचीन नाम ब्राह्मी है और इस ब्राह्मी से क्रमशः विकसित लिपि का नाम नागरी है। इसका प्रयोग ईसा की दसवीं शताब्दी से हो रहा है। उसके प्राचीनतम लेख सप्तम-अष्टम शताब्दी तक के उपलब्ध हैं।

देवनागरी लिपि की अपनी कुछ विशिष्ट विशेषताएँ हैं जिन्हें हम सूत्र रूप में इस प्रकार संकेतित कर सकते हैं—

(१) यह अर्द्धअक्षरात्मक लिपि है।

(२) इसमें मूलतः अड़तालीस चिह्न हैं—चौदह स्वर तथा सन्ध्यक्षर और चौंतीस मूल व्यंजन। यह लिपि स्वर-व्यंजन की दृष्टि से ही वैज्ञानिक नहीं है, अपितु इनका वर्गीकरण भी उच्चारण के आधार पर सात वर्गों में विभक्त है।

(३) वर्ण, रूप एवं क्रम भी वैज्ञानिक हैं।

(४) प्रत्येक स्वर के ह्रास और दीर्घ चिह्न विद्यमान हैं। स्वरों की मात्रा भी सुनिश्चित है। इनका प्रयोग व्यंजनों के साथ संयोग होने पर होता है।

(५) सभी अघोषों के सघोष तथा अल्पप्राणों के महाप्राण रूप विद्यमान हैं।

(६) सभी अनुनासिक ध्वनियों के लिए अलग-अलग लिपि चिह्न हैं।

(७) देवनागरी लिपि की महान् विशेषता यह है कि इसका जिस प्रकार उच्चारण किया जाता है, उसी प्रकार लिखा भी जाता है।

(८) इस लिपि का प्रयोग भारत की सभी भाषाओं के अतिरिक्त विश्व की अनेक भाषाओं के लिए भी किया जा सकता है।

(९) सभी लिपि चिह्नों के नाम वही हैं, जिन ध्वनियों के लिए उनका प्रयोग किया जाता है।

(१०) प्रत्येक ध्वनि के लिए एक ही चिह्न है।

(११) उन्हीं संकेतों को लिखा जाता है जिनका उच्चारण किया जाता है। मूल वर्णों (silent letters) का लेखन या उच्चारण में कोई स्थान नहीं है।

(१२) ध्वनि एवं लिपि सामंजस्य।

(१३) एक ध्वनि के लिए एक संकेत।

(१४) किसी भी भाषा की समग्र ध्वनियों को अंकित करने की क्षमता।

(१५) सुपाठ्य एवं सन्देह रहित होना।

(१६) उसमें सौन्दर्य भी है।

(१७) यान्त्रिक सौकर्य, जिससे मुद्रण और टंकन सुविधा पूर्वक भी है।

उपर्युक्त समग्र विशेषताएँ देवनागरी लिपि में मिल जाती हैं।

आज इस लिपि में अनेक दोषों का अनुसन्धान किया जा रहा है :

(१) इस लिपि में कुछ वर्ण इस प्रकार के हैं जिनका आज की भाषाओं में स्थान नहीं है, जबकि प्राचीन काल में वे वर्ण महत्त्वपूर्ण थे। उदाहरण के लिए स्वर ध्वनियों में ऋ, ॠ, और लृ को लिया जा सकता है। इन ध्वनियों का क्रमशः समान्य उच्चारण रि या रु, री या रू और लिर या लृरू हैं, किन्तु इनको स्वरों में स्थान मिला है। प्राचीन काल में इनका अपना उच्चारण था, और अपना महत्त्व था, किन्तु आज इन्हें निरर्थक सिद्ध कर दिया गया है।

(२) इसी प्रकार मूर्धन्य 'ष' भी सर्वथा निरर्थक ध्वनि सिद्ध कर दी गई है। क्योंकि आज इसका उच्चारण श या ख् के रूप में हो रहा है।

(३) इसी प्रकार अनुनासिक वर्णों में भी ङ् और ञ् भी लगभग व्यर्थ हो गये हैं, क्योंकि ये संयुक्ताक्षरों में हलन्त रूप में प्रयुक्त होते हैं और इनका कार्य अनुस्वार चिह्न से लिया जा रहा है।

(४) इसी प्रकार के कुछ दोष मूलवर्ण तथा मात्राओं सम्बन्धी भी हैं। इसकी वर्णमाला भी काफी बड़ी है। मात्राएँ और संयुक्त वर्ण भी टंकणयन्त्र के अनुरूप नहीं हैं।

इतना सब होने पर भी देवनागरी लिपि अधिक वैज्ञानिक है और उसका महत्त्व भी स्वयंसिद्ध है। यह एक आदर्श लिपि है। आदर्श लिपि की सम्पूर्ण विशेषताएँ उसमें मिल जाती हैं।

प्रश्नावली

१. लिपि विकास पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।
२. भारतीय लिपियों के उद्भव एवं विकास पर प्रकाश डालिए।
३. नागरी लिपि की विशेषताओं का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
४. ब्राह्मी लिपि भारतीय है अथवा अभारतीय; तर्कसंगत विचार कीजिए।
५. लिपि के उद्गम और विकास का परिचय दीजिए।
६. देवनागरी लिपि के उद्गम और विकास पर एक लेख लिखिए तथा उसके गुण और दोषों का विवेचन कीजिए।

वाङ् माता मे प्रसीदतु

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ :

१. तुलनात्मक भाषा-विज्ञान—डा० मंगलदेव
२. भाषा-विज्ञान—डा० भोलानाथ तिवारी
३. सामान्य भाषा-विज्ञान—डा० बाबूराम सक्सेना
४. सरल भाषा-विज्ञान—डा० मनमोहन गौतम
५. अभिनव भाषा-विज्ञान—आचार्य नरेन्द्रनाथ
६. हिन्दी भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन—श्री ऋषि गोपाल
७. भाषा-रहस्य—डा० श्यामसुन्दरदास
8. An Introduction to Comparative Philology —Dr. P. D. Gune
9. Elements of the Science of Language —Taraporwalla
10. Language—Its Nature Development and Origin —Jesperson